

## प्राक्कथन

विश्वके भाषा-परिवारोंमें भारत-यूरोपीय भाषा-परिवार बृहत्तम परिवार है, जिसकी भाषाएँ यूरोपसे लेकर भारत तक व्यवहृत होती हैं। संस्कृत इसी परिवारकी मुख्य भाषा है। इस दृष्टिसे संस्कृतका ग्रीक, लैटिन, प्राचीन चर्च स्लावोनिक-जैसी प्राचीन भाषाओंसे घनिष्ठ संबन्ध है। पारसियोंकी धर्मपुस्तक अवेस्ताकी भाषा तथा बौद्धिक संस्कृतकी प्रकृति तो परस्पर इतनी निकट है कि उन्हें एक ही भाषाकी दो विभाषाएँ घोषित किया जा सकता है। यूरोपीय जगतको संस्कृत भाषाका परिचय मिलनेपर १६ वीं शतीमें यूरोपमें भाषाविज्ञानके क्षेत्रमें जो उन्नति हुई, उसने ग्रीक, लैटिन, अवेस्ता तथा संस्कृतकी प्रकृतियोंका तुलनात्मक अध्ययन कर इन विषयका अन्वेषण किया कि इन भाषाओंके बोलनेवाले पूर्वज आरम्भमें एक-सी ही भाषाका व्यवहार करते होंगे। इसीके आधारपर आदिम भारत यूरोपीय जैसी कल्पित भाषाकी अवतारणा की गई। ग्रीक, लैटिन तथा संस्कृतमें निःसन्देह इतनी अधिक छान्यात्मक और पदरचनात्मक समानताएँ पाई जाती हैं कि उपर्युक्त निर्णयपर पहुँचना स्वाभाविक है। भारत-यूरोपीय भाषाशास्त्रकी दिशामें इलेगेल, रास्क, ग्रिम, फ्रेज बॉप, इलेखर, वुगमान, मेये, वाकेरनागेल, ज्यूल ब्लाँख-जैसे यूरोपीय विद्वानोंने महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। इस दिशामें अधिकतर कार्य फ्रेंच तथा जर्मन भाषाओंके माध्यमसे हुआ है, तथा आन्ल भाषामें भी इस विषयमें कुछ पुस्तकें दृष्टिगोचर होती हैं। अब तककी समस्त भाषाशास्त्रीय गवेषणाओंको ध्यानमें रखकर लिखी गई दो पुस्तकें अंगरेजोंमें पाई जाती हैं, जो खाम तौरपर संस्कृत भाषापर लिखी गई हैं; एक डॉ० घोषकी पुस्तक, दूसरी प्रोफेसर बरोषी पुस्तक। प्रोफेसर बरोषीकी पुस्तक अभी दो-तीन वर्ष पूर्व ही प्रकाशित हुई है। इस

दृष्टिसे हिन्दीमें ऐसी पुस्तककी कमी खटक रही थी, जो भाषाशास्त्रीय दृष्टिसे संस्कृत भाषापर लिखी गई हो। डॉ० भोलाशंकर व्यासकी पुस्तक “संस्कृतका भाषाशास्त्रीय अध्ययन” ने इस कमीको पूरा कर दिया है। इस पुस्तकमें डॉ० व्यासजी अवतारकी समस्त भाषाशास्त्रीय गवेषणाओं और मान्य कृतियोंका उपयोग करते हुए संस्कृतकी भाषाशास्त्रीय रूपरेखा प्रस्तुत की है। साथ ही संस्कृत भाषाका प्राकृत, अपभ्रंश तथा आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओंके रूपमें किस प्रकार विकास हुआ है, इसे भी अन्तिम परिच्छेदमें निबद्धकर सश्रेष्ठ भारतीय आर्य भाषाओंके विकासकी गतिविधि प्रदर्शित कर दी है। आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओंके विद्यार्थीके लिए संस्कृतकी भाषाशास्त्रीय प्रकृति तथा उसकी भावी गति-विधिका सम्यक् ज्ञान आवश्यक हो जाता है, अतः यह पुस्तक भारतीय भाषाशास्त्रके अध्येताके लिए बड़ी उपयोगी होगी। साथ ही इसके द्वारा राष्ट्रभाषा हिन्दीके महान् अभावकी पूर्ति भी हो रही है। पुस्तक गवेषणा तथा विद्वत्तापूर्ण है और डॉ० भोलाशंकर व्यासका यह प्रयास सर्वथा सराहनाके योग्य है।

रमाशंकर त्रिपाठी

प्रिंसिपल, सेण्ट्रल हिन्दू कॉलेज  
तथा डीन, फैक्टरी आफ आर्ट्स

पानी विश्वविद्यालय }  
७, जनवरी १९५७ }

# निवेदन

पिछले डेढ़ सौ वर्षोंमें यूरोपीय भाषाशास्त्रियोने भारत-यूरोपीय भाषाओंके विषयमें कई उद्घावनाएँ की हैं । इन खोजोंने संस्कृत भाषाके महत्त्वको और बढ़ा दिया है । भारतीय आर्य भाषाओंके भाषाशास्त्रीय अध्ययनके लिए तो संस्कृतका दुहरा महत्त्व है, एक ओर यह इन भाषाओंकी जन्मदात्री है, दूसरी ओर सैद्धान्तिक भाषाशास्त्रतकके आवश्यक ज्ञानके लिए इसका परिचय अपेक्षित है । इधर कई दिनोंसे हिन्दीमें इस प्रकारके ग्रन्थकी आवश्यकताका अनुभव किया जा रहा था, जो भाषाशास्त्रीय दृष्टिसे संस्कृतका परिचय दे सकें, जिससे हिन्दी आदि आधुनिक आर्य भाषाओंके अध्येता लाभ उठा सकें । इस विषयपर अधिकांश ग्रन्थ फ्रेंच तथा जर्मनमें लिखे हुए हैं, तथा आग्ल भाषामें भी गिनी-चुनी ही पुस्तकें उपलब्ध हैं । बैसे डॉ० बटकृष्ण घोषकी अंग्रेजी पुस्तक एक दृष्टिसे संस्कृतका भाषाशास्त्रीय परिचय प्रस्तुत करती है, किन्तु अंग्रेजी भाषा न जाननेवाले उसका लाभ नहीं उठा सकते । यही सोचकर आजसे लगभग छ वर्ष पूर्व मैंने इस पुस्तककी रूपरेखा तैयार कर ली थी । उस समय मैं लन्दन विश्वविद्यालयके स्कूल ऑफ़ ओरियण्टल स्टडीजके भाषाविज्ञान-विभागमें काम कर रहा था । मूलरूपमें पुस्तक वही लिखी गई थी, यद्यपि बादमें इसमें थोड़ा-बहुत हेर-फेर कर देना पडा । उस समय तक प्रो० टी० बरोकी 'संस्कृत लैंग्वेज'का प्रकाशन न हुआ था, किन्तु जिस रूपमें यह पुस्तक छप रही है, उसमें मैंने प्रो० बरोकी पुस्तकसे समुचित लाभ उठाया है । विशेषतः क्रियाओंके परिच्छेदमें मैंने उनकी पुस्तकका उपयोग किया है । इसके अतिरिक्त मैं मेये, ज्यूल ब्रॉन्स, वाकेरनागेल तथा डॉ० घोषका भी ऋणी हूँ, जिनसे मुझे सदा पद्यप्रदर्शन मिलता रहा है । यदि इस पुस्तकसे भारतीय आर्य भाषाओंके अध्येताका कुछ भी लाभ हो सका, तो मैं अपना धर्म सार्थक समझूँगा ।

गच्छतः स्वल्पं कापि भवत्येव प्रमादतः ।

हसन्ति दुर्जनास्तत्र समादधाति सञ्जाः ॥

काशी  
१४, जनवरी १९५७

—भोलाशङ्कर व्यास

## द्वितीय संस्करण का वक्तव्य

पुस्तकका द्वितीय संस्करण यथापूर्ववत् ही छप रहा है । कुछ स्थानोंपर आवश्यक परिवर्तन अवश्य कर दिया गया है । सिर्फ तीन बरसमें इस पुस्तकके पहले संस्करणका खप जाना लेखकके सौभाग्यका परिचायक है । अनेक भारतीय भाषावैज्ञानिकोंने पुस्तककी प्रशंसा भी की है और सुझाव दिया है कि इसे कुछ और विस्तृत आकार दिया जाता और इसी ढंगपर एक-एक पुस्तक 'प्राकृत-पालि', 'अपभ्रंश' तथा 'नव्य भारतीय आर्य भाषाओं' पर भी प्रस्तुत की जाती, तो सुंदर होता । लेखककी मूल योजना भी यही थी, जिसकी पहली खेप यह पुस्तक थी । अगली खेपें कम पैदा कर सकूंगा, कह नहीं सकता । इधर कई कार्योंमें व्यस्त रहा हूँ, और अब तो उनसे फुरसत नहीं मिली है । इतना वादा जरूर करता हूँ कि अन्य योजनाओंमें छुट्टी पानेपर 'मध्य भारतीय आर्य भाषा' से संबद्ध दोनों अध्ययनों—'प्राकृत-पालि' और 'अपभ्रंश'—को हाथमें लूँगा । अगले संस्करणमें प्रस्तुत पुस्तककी भी विस्तृत आकार देनेकी चेष्टा की जायगी ।

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय }  
घनन्त चतुर्दशो }  
२०१८ विक्रम }

—भोलाशङ्कर घ्यास

# विषय-सूची

आमुख		९
संस्कृत भाषा—उत्पत्ति	...	४०
संस्कृत तथा अवेस्ता	...	६६
संस्कृत ध्वनिर्मा तथा स्वर	.	८४
संस्कृत पदरचना	...	१३६
[ सज्ञा, विशेषण एव सर्वनाम ]		
संस्कृत पदरचना		१९०
[ क्रिया तथा क्रियाविशेषण ]		
संस्कृत वाक्य रचना		२४६
संस्कृतका परवर्ती विकास	०	२६३
परिशिष्ट [ क ]		३१३
परिशिष्ट [ ख ]		३२०



# आमुख

[ अ ]

भाषाशास्त्रके अध्ययनका विषय जैसा कि स्पष्ट है, भाषा है। भाषासे हमारा तात्पर्य मानवकी उस प्रक्रियासे है, जिसके अन्तर्गत वह अपने कतिपय ध्वनियन्त्रोंका प्रयोग कर उनसे कई प्रकारकी ध्वनियोंका उच्चारण कर उनके द्वारा अपने भावी तथा विचारोंका प्रकाशन करता है। इस प्रकार भाषा भाव-विनिमयका ध्वन्यात्मक साधन है।<sup>१</sup> भाषाशास्त्र मानव-भाषाके समस्त रूपों, चाहे वे असम्य जातियोंके द्वारा व्यवहृत होते हों, या सम्य जातियोंके द्वारा, का अध्ययन करता है।<sup>२</sup> वह एक ओर प्राक्-ऐतिहासिक कालकी भाषाका अध्ययन करता है, दूसरी ओर प्राचीन संस्कृत [ Classical ] भाषाओं, देशी प्राकृत रूपों, तथा आजकी प्रचलित भाषाओं एवं विभाषाओंका अध्ययन करता है। भाषाका यह अध्ययन वह भाषाकी भाव-व्यंजनाका साधन मानकर करता है।<sup>३</sup>

भाषाशास्त्र [ Linguistics ] का अध्ययन करनेकी प्रायः तीन प्रणालियाँ पाई जाती हैं — १. वर्णनात्मक या विवरणात्मक प्रणाली [ Descriptive method ], २. ऐतिहासिक प्रणाली [ Historical method ], ३. तुलनात्मक प्रणाली [ Comparative method ] । इन तीनों प्रणालियोंमें भी हम पहली दो प्रणालियोंको विशेष महत्त्वपूर्ण मानेंगे। तृतीय प्रणालीमें दो या दोसे अधिक भाषाओंको लेकर उनके भाषाशास्त्रीय

१ Marcel Cohen Le Langage ( Structure Et Evolution ) P. 1

२ Ferdinand de Saussure, Cours de Linguistique Generale. chapitre 11 Page 20.

तत्त्वोंकी तुलना की जाती है, जो विवरणात्मक दृष्टिको भी लेकर हो सकती है, दूसरी ओर ऐतिहासिक दृष्टिको लेकर भी। वैसे जब हम किसी भाषाका ऐतिहासिक अध्ययन करते हैं, तो वहाँ हम विवरणात्मक प्रणालीकी सर्वथा अवहेलना नहीं करते, जब कि कोरी विवरणात्मक प्रणालीमें भाषाके ऐतिहासिक विकासपर नजर नहीं डाली जाती। तुलनात्मक प्रणालीमें किसी भाषाके विवरणात्मक तथा ऐतिहासिक दोनों ढंगके अध्ययनको प्रस्तुत करते हुए उससे सम्बद्ध अन्य भाषाआसे तुलना करते हुए उसका वैज्ञानिक अध्ययन उपस्थित किया जाता है। प्राचीन संस्कृत [ Classical ] भाषाओं [ यथा संस्कृत, ग्रीक, लैटिन ] के अध्ययनमें हमें इसी तरहकी तुलनात्मक प्रणालीका प्रयोग करना होता है, जिसमें तुलनाके साथ ही साथ विवरणात्मक तथा ऐतिहासिक पद्धतिका समन्वय होता है। प्रस्तुत पुस्तकमें हमने इसी पद्धतिपर संस्कृतकी भाषाशास्त्रीय अध्ययन प्रस्तुत करनेका प्रयत्न किया है।

इस भागमें वर्णनात्मक, ऐतिहासिक तथा तुलनात्मक प्रणालीकी विशेषताओंका परिचय देते हुए, हम भारतयूरोपीय परिवारकी भाषाआका सक्षिप्त परिचय तथा उनमें संस्कृतके महत्त्वका सकत करगे।

## १-विवरणात्मक पद्धति

किसी भी भाषाकी एक कालकी स्थितिको लेकर उसके यथास्थित स्वरूपका अध्ययनकर उसके आधारपर कुछ निर्दिष्ट नियम बना देना विवरणात्मक ढंगका अध्ययन है। एक भाषाको लेकर उसकी ध्वनियो, पदरचना तथा वाक्यरचनाका अध्ययन करते समय इस पद्धतिका प्रयोक्ता उसके पर्ववर्ती रूपाकी ओर ध्यान नहीं देता, साथ ही न वह उसमें सम्बद्ध सघटना [ Structure ] वाली अन्य भाषा या भाषाआसे उसकी तुलना ही करता है, जैसा कि ऐतिहासिक तथा तुलनात्मक पद्धतिमें पाया जाता है। यही कारण है कि सोस्यूरने इस प्रकारके भाषाशास्त्रीय अध्ययनको भाषाशास्त्रका स्थित्यात्मक रूप [ Static linguistics ] कहा है। इस पद्धतिको एकप्रणालिक भाषाशास्त्रीय पद्धति [ Monosystemic or Synchronic ]

भी कहा जाता है, क्योंकि इस ढगके विश्लेषणमें भाषाके निश्चित देश तथा निश्चित कालवाले रूपका ही अध्ययन किया जाता है। दूसरे ढगके अध्ययनको द मॉस्यूरने विकासशील भाषाशास्त्र [ Evolutional Linguistics ] माना है। इस गत्यात्मक अध्ययन-पद्धतिको बहु प्रणालिक अध्ययन [ Polysystemic or dichronic ] भी कहा जाता है, क्योंकि इसके अन्तर्गत किसी भाषाके अनेक कालोम गतिशील रूपोका विश्लेषण किया जाता है। आन्ल भाषाशास्त्री इन्हीको क्रमश विवरणात्मक तथा ऐतिहासिक पद्धति कहते हैं।

विवरणात्मक पद्धतिका ढग भी दो तरहका होता है, एक वह जब कि किसी भाषाका विवरणात्मक व्याकरण अन्य भाषामे लिखना है, तथा दूसरा वह जब कि उसी भाषामे उसी भाषाका शास्त्रीय विवरण प्रस्तुत करना होता है। विवरणात्मक पद्धतिका एक ढगका सञ्चेत हमे हिन्दी आदिपर अँगरेजीमें लिखी गई पुस्तकोमे मिल सकता है। उदाहरणके लिए, केलागकी 'हिन्दी-ग्रामर' इसी ढगकी विवरणात्मक शैलीमें लिखी गई है। दूसरे प्रकारके विवरणात्मक अध्ययनका सबसे उच्चन्त उदाहरण पाणिनिका व्याकरण लिया जा सकता है। विवरणात्मक अध्ययनके निर्णयोको प्रस्तुत करनेके लिए अध्येताको एक विशेष प्रकारकी वैज्ञानिक भाषाका प्रयोग करना पडता है। वह उसी भाषाका प्रयोग अपने सिद्धान्तोके लिए नहीं कर पाता। फलत वह एक मूवात्मक भाषाका निर्माण करता है। इसी भाषाको भाषावैज्ञानिक "एकभाषीय अध्ययन" [ Metalanguage study ] के निर्णयोको सामने रखनेके लिए अपनाते हैं। पारिभाषिक भाषाका प्रयोग करते हुए वे भाषाकी विवरणात्मक विशेषताओको सूक्ष्मातिसूक्ष्म सूत्रो [ Formulae ] के रूपमें रखते हैं, तथा उनके द्वारा एक ही भाषाके ध्वन्यात्मक परिवर्तनो, पदरचनात्मक विशेषताओको उपन्यस्त करते हैं।

विवरणात्मक पद्धतिका प्रयोक्ता कभी-कभी वैभाषिक रूपोका भी इसी तरह अध्ययन करता है। वह स्त्रियो, वच्चो आदिकी विभाषा तथा अलग



अलग फ़िरवोंके द्वारा बाली जानेवाली "रूलिंग"का भी अध्ययन करता विवरणात्मक पद्धतिके अध्ययनका एक संकेत हमें ओतो येस्पर्सनके अध्ययनमें दिखाई पड़ता है। अपने महत्त्वपूर्ण ग्रन्थोंमें, विदोपतः "लैंग्विज", "क्रिओलोलॉजी आन् ग्रामर" तथा "मैनवाइण्ड, नेशन एण्ड इण्डिविडुअल"में उनमें विवरणात्मक अध्ययनके सिद्धान्तोंको रखते हुए इस अध्ययनकी निश्चित दिशा दी है। किन्तु आज विवरणात्मक पद्धतिसे अध्ययन करनेकी कई दिशाएँ देगी जाती हैं। अमेरिकाके भाषाशास्त्रियोंका विवरणात्मक अध्ययन कुछ यान्त्रिक प्रकारका देखा जाता है। इसका आभास हमें ब्लूमफील्डकी "भाषा" [ Language ] शीर्षक पुस्तकसे मिल सकता है। अमेरिकन भाषाशास्त्री भाषाशास्त्रकी एक स्वतन्त्र विज्ञान मानकर चलते हैं, तथा अपने अध्ययनमें मनोविज्ञान आदिसे कोई सहायता लेना ठीक नहीं समझते। जिस प्रकार मनोविज्ञानकी एक शाखा, व्यवहारवादी मनोविज्ञान [ Behaviouristic psychology ], में यान्त्रिकता पाई जाती है, वैसे ही यान्त्रिकता इस पद्धतिमें भी पाई जाती है। इसी विदोपनाके आधारपर यह प्रणाली यान्त्रिक [ Mechanistic ] कहलाती है। अमेरिकन प्रणालीमें प्रमुख दोष यह है कि ये भाषाको प्रमुखतः उच्चरित रूपकी दृष्टिसे ही देखते हैं; साथ ही इनमेंसे कई भाषाशास्त्री तो उच्चारण मात्रको ही अध्ययनका विषय बनाते देते पाते हैं। उच्चारण तथा अर्थ; शब्द एवं अर्थके अभिन्न सम्बन्धों न मानकर ये अर्थोंकी आत्माको गौण समझते जान पड़ते हैं, तथा शब्दों बलेपरपर एकाद्वि और देते जाते हैं। साथ ही शब्दोंका विश्लेषण करते समय ये ध्वनिमोके श्रोतृगत गंवारपर ध्यान देते नहीं दिखाई देते। वस्तुतः भाषाका अध्ययन करना तथा श्रोता दोनोंकी दृष्टिसे करनेकी जरूरत है, तथा इस दृष्टिसे शब्दों तथा उनमें अर्थोंका श्रोतृगत सत्वार एक महत्त्वपूर्ण वस्तु है।

जिस प्रकार दर्शनकी विधिवादी [ Positivist ] पद्धति आत्मा तथा शरीरको अभिन्न मानकर विषयी तथा विषयके तादात्म्यकी ओर बहती है,

तथा उसी दृष्टिसे भौतिक पदार्थोंका विश्लेषण करती है, ठीक उसी तरह सोस्यूर भी भाषाशास्त्रके क्षेत्रमें कुछ विधिवादी ढंग अपनाता है। वैसे यान्त्रिक तथा भौतिकवादी पद्धतिके भाषाशास्त्री उसकी पद्धतिको “आदर्शवादी” [ Idealistic ] पद्धति मानते हैं। सोस्यूरके मतानुसार भाषाशास्त्रको वैयक्तिक भाषा [ Parole ] का अध्ययन अपना प्रमुख लक्ष्य न बनाकर, समस्त एकभाषाभाषी समाजकी वैयक्तिक भाषाओंके अतस्में अनुस्यूत भाषा [ La langue ] का अध्ययन करना होगा। वैयक्तिक भाषाका मनोवैज्ञानिक तथा भौतिक दोनों ढंगका रूप है, किन्तु सामाजिक भाषाका केवल “मनोवैज्ञानिक” रूप होता है। यही कारण है, भाषाका विश्लेषण करते समय द सोस्यूरने भाषाके प्रमुख आधार प्रतीक [ La sign ] तथा प्रतीत्य [ La signifie’ ] माने हैं, तथा उनका श्रोतृगत रूप वासना या सस्कारनिष्ठ माना है। ध्वनियोंको सुननेसे श्रोताके मानसपर अन्तश्चित्र प्रतिबिम्बित हो जाता है, जिसे सोस्यूरने “इमाज आकूस्तीक” कहा है। जब श्रोता पुन वही ध्वनि या ध्वनिसमूह सुनता है, तो वह अन्तश्चित्र उसे अर्थ-प्रत्यापनमें सहायता वितरित करता है। चूँकि सोस्यूर भी एक तथाकथित “आदर्श” भाषाका—एक भाषाभाषी समाजके अनेक व्यक्तियोंकी भाषाके आदर्शरूपका अध्ययन करता है, अतः उसे भी सूत्रपद्धतिवाली पारिभाषिक भाषाका प्रयोग करना अभीष्ट है।

## २-ऐतिहासिक पद्धति

ऐतिहासिक पद्धति किसी भी भाषाके गत्यात्मक रूपोंका अध्ययन करती है। इसके अन्तर्गत एक ही भाषाके पुरातन रूपोंसे आज तकके रूपोंकी प्रवहमान गतिका अध्ययन किया जाता है। उदाहरणके लिए आजकी हिन्दी [ खड़ी बोली ] का अध्ययनकर्ता उसके पुराने रूपोंका भी अध्ययन करता है, तथा अपभ्रंश कालसे आजतक, बल्कि और अधिक विस्तृत क्षेत्र चुना जाय, तो सस्कृत कालसे आजकी हिन्दी तक ऐतिहासिक क्रमके आधारपर किस

तरहका ध्वन्यात्मक, पदरचनागत या वाक्यरचनागत परिवर्तन होता रहा है, इसका वैज्ञानिक लेखा-जोखा देनेकी चेष्टा की जाती है, तो यह ऐतिहासिक प्रणालीका आश्रय होगा। लेकिन अगर कोई अध्येता हिन्दी [ मंडी बोली ] के यथास्थित रूपको लेकर ही उसकी ध्वनियोंका, या पदरचनाका लेखा-जोखा देना चाहे, तो वह विवरणात्मक पद्धति होगी। ऐतिहासिक प्रणालीके अध्ययनमें सबद्ध भाषाका विवरणात्मक अध्ययन स्वतः समाविष्ट हो जाता है।

### ३-तुलनात्मक पद्धति

तुलनात्मक पद्धतिके अन्तर्गत उपर्युक्त दोनों पद्धतियोंका समाहार करते हुए ऐतिहासिक दृष्टिसे या पदरचनात्मक दृष्टिसे परस्पर सम्बद्ध दो या अधिक भाषाओंका तुलनात्मक अध्ययन किया जाता है। यही नहीं, विभिन्न प्रकृतियोंकी भाषाओंका भी तुलनात्मक अध्ययन किया जा सकता है। जैसे तुलनात्मक पद्धतिका प्रयोग अधिकतर एक ही भाषासे निचली हुई भाषाओंकी ध्वनियों, पदरचना, शब्द कोष तथा वाक्यरचनाकी समानताओं तथा असमानताओंके अध्ययनके लिए किया जाता है, जैसे ब्रजभाषा तथा मंडी बोलीका तुलनात्मक अध्ययन किया जाय, या मैथिली और बंगालीका। इसी तरह संस्कृत, ग्रीक और लैटिनका भी तुलनात्मक अध्ययन उदाहरणके रूपमें लिया जा सकता है।

तुलनात्मक पद्धतिके अध्ययनने ही बन्तुन भाषाशास्त्रको १९ वीं शतीमें जन्म दिया है। ग्रीक, लैटिन तथा संस्कृतकी अत्यधिक समानताओंने ही भारत-यूरोपीय परिवारके तुलनात्मक व्याकरण [ Comparative philology ] को जन्म दिया था। इस प्रकारकी तुलनात्मक पद्धतिमें कुछ भी दोष रहे हों, तन्तु इतना महत्व निमित्त नहीं दिया जा सकता। आशुके भाषा-वैज्ञानिकोंने भ्रान्तनुसार जब हम अनेक भाषाओंकी तुलना करते समय उनकी समानताओंके आधारपर उनमें परस्पर सम्बद्ध होनेकी मान करते

भ्रान्तिकी जन्म देते हैं। इन नव्य भाषाशास्त्रियोंके मतानुसार सम्बन्ध [ Relation ] भाषाओंमें न होकर भाषाओंकी संघटना [ System ] में पाया जाता है। इसलिए “संबन्ध भाषाओंका नहीं, उनकी संघटनाका है” [ Relationship—is not of languages, but of systems ] यह कहना ज्यादा ठीक होगा। साथ ही, किन्हीं दो भाषाओंमें परस्पर सम्बन्ध है या नहीं, इसकी अपेक्षा अधिक सम्बन्ध है, अथवा कम सम्बन्ध है, इस बातको मानना अधिक सगत है। उदाहरणके लिए खड़ी बोली [ हिन्दी ] तथा राजस्थानीकी संघटनामें परस्पर इतना घनिष्ठ सम्बन्ध है, कि हम यह कह बैठते हैं दोनों एक दूसरेसे घनिष्ठ सम्बन्ध रखती हैं। इसी तरह राजस्थानी तथा गुजरातीकी संघटना परस्पर अधिक संबद्ध हैं, जब कि राजस्थानी तथा पंजाबीकी संघटना कम संबद्ध है, तथा राजस्थानी और बंगालीकी संघटना एक दूसरेसे बहुत कम संबद्ध है। अतः भाषाविज्ञानमें तुलनात्मक पद्धतिका अध्ययन करते समय, इस बातको कभी नहीं भूलना होगा कि संबन्ध मुख्यतः भाषाओंकी संघटनाका होता है।

तुलनात्मक अध्ययन दो या अधिक भाषाओंको लेकर किया जा सकता है। इस तरहका अध्ययन कोरा विवरणात्मक भी हो सकता है। हिन्दी तथा अँगरेजीकी संघटनाके यथास्थित रूपको लेकर तुलनात्मक दृष्टिसे लिखे गये व्याकरणमें इस तरहकी पद्धति पाई जा सकती है। किन्तु तुलनात्मक अध्ययनमें प्रायः ऐतिहासिक दृष्टिसे परस्पर संबद्ध भाषाओंका तुलनात्मक अध्ययन किया जाता है। यह एक ही भाषाके परवर्ती रूपोंके साथ तुलनात्मक दृष्टिसे किया गया हो, या अनेकोंके साथ। संस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रंशका तुलनात्मक अध्ययन एक ढंगका होगा, संस्कृत, ग्रीक तथा लैटिनका दूसरे ढंगका। ऐतिहासिक क्रमको ध्यानमें रखते हुए एक साथ कई भाषाओंकी विकसित दशाका भी तुलनात्मक अध्ययन किया जाता है। जहाँ तक भाषाओंके आञ्जके रूपका प्रश्न है, उनका कथ्य [ Spoken ] रूप ही अपना ठीक होगा। पुरातन रूपोंके लिए प्राचीन साहित्यकी शरण लेनी पड़ती

है, यद्यपि पुरातन कथ्य रूपका पूरा पता उसमें नहीं चलता और कभी-कभी तो भ्रान्ति भी होनेकी सम्भावना होती है। हम एक उदाहरण ले लें, प्राकृत व्याकरण, प्राकृत साहित्य तथा अपभ्रंश साहित्यके अनुसार सस्वृत न पर-वर्ती कालमें ण [ मूर्धन्य या प्रतिवेष्टित ] हो गया था। आज जिन भाषाओंमें—सिन्धी, पंजाबी, गुजराती व राजस्थानीमें 'ण' ध्वनि पाई जाती है, वहाँ यह ध्वनि प्रायः स्वरमध्यगतरूपमें पाई जाती है, तथा राजस्थानी कथ्य रूपकी साक्षीपर मैं यह भी कह सकता हूँ कि जहाँ वहाँ यह ध्वनि पदान्त [Final] पाई जाती है, वहाँ भी इसके बाद 'अ' (ॐ) श्रुति उच्चरित होती है। इन भाषाओंमें जहाँ तक मुझे ज्ञात है, ण ध्वनि पदादि [initial] रूपमें नहीं पाई जाती। प्रश्न होना सम्भव है, कि पदादि ण ध्वनि प्राकृत तथा अपभ्रंशमें कथ्य [Spoken] रूपमें पायी जाती थी, या नहीं? लिखित रूपमें चाहे वह पदादि ध्वनि ण ही रही हो, पर क्या उसका उच्चारण मध्यग था? जहाँ आज ण ध्वनि पायी जाती है वहाँ पदादिमें यह ध्वनि नहीं पायी जाती, जब कि पदादिमें वत्स्यं न पाया जाता है, जब कि प्राकृत और अपभ्रंशमें ण मिलता है। प्राकृतका एक देशज शब्द है एणवर [स० केवल], इसका विकसित रूप राजस्थानीकी मेवाड़ी विभाषामें नवरो [बेकाम, आलसी, ठाला] है, जहाँ प्रथम ध्वनि मूर्धन्य न होकर वत्स्यं है। ऐसे अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं। मेरा ऐसा अनुमान है कि प्राकृत-अपभ्रंशमें संस्कृतका स्वर मध्यगत [Intervocalic] न तो ण हो गया था, किन्तु पदादि न का उच्चारण वत्स्यं ही था। लिपि तथा प्राकृत व्याकरणके नियमोंमें समानता लानेके लिए इसे भी ण ही लिखा जाने लगा हो, तथा इस प्रकार पदादि संस्कृत न भी ण के रूपमें विकसित माना जाने लगा हो। कुछ भी हो, हम केवल अनुमान भर कर सकते हैं, प्राचीन उच्चारणोंके बारेमें कुछ निश्चित मत देना, कभी-कभी खतरसे खाली नहीं।

तो, अनेक भाषाओंके क्रमिक विकासका तुलनात्मक अध्ययन करते

समय हम कई तरहकी भाषाएँ पा सकते हैं। कई भाषाएँ आरम्भसे अबतक अविच्छिन्न रूपमें मिलती हैं, कई बीच तक आती हैं पर बादमें रुक जाती हैं या लुप्त हो जाती हैं, कई भाषाओका विकास सर्वथा नवीन है, तथा कई प्राचीन हैं किन्तु उनका साहित्य बहुत बादसे उपलब्ध होता है। तुलनात्मक अध्ययनमें हमें इन सबका समुचित प्रयोग करना पड़ता है। इसे हम एक रेखाचित्रसे स्पष्ट कर दें। हमें क, ख, ग, घ, ङ, इन पाँच भाषाओका तुलनात्मक अध्ययन करना है, इन्हें हम क्रमशः हिन्दी, राजस्थानी, गुजराती, भोजपुरी और बँगला समझ लें। इसमें प्रथमका अखण्ड प्रवाह संस्कृतसे शौरसेनी, अपभ्रंश होता हुआ आज तक माना जाता है, किन्तु मध्यकालीन साहित्यपर क, ख, ग तीनों भाषाओका समान अधिकार है, साथ ही ग का साहित्य, जहाँ तक उसकी भाषागत निजी विशेषताका प्रश्न है, १६ वीं शतीसे उपलब्ध है। भाषा घ तथा ङ की परम्परा सर्वथा भिन्न है। एक मागधीसे प्रभावित कोसलीकी परवर्ती प्रकृति है, दूसरी मागधीकी प्रतिनिधि। साथ ही घ साहित्यशून्य-सी है, इसके लिखित पुरातन साहित्यका अभाव ही है, जब कि ङ का प्राकृतकालीन साहित्य न होनेपर भी अपभ्रंश कालसे साहित्य उपलब्ध है और चौदहवीं शतीसे निरन्तर साहित्यिक धारा बहती रही है।

	क	ख	ग	घ	ङ	
वै सं						ईसासे पूर्वकी स्थिति
प्रा						ईसवी २०० से ६०० तक
अप						ईसवी ६०० से ११०० तक
म						ईसवी ११०० से १६०० तक
आधु						ईसवी १६०० के बाद २० वीं शती

यहाँ हमने क, ख आदि भाषावाली रेखाको बीचमें—रेखासे काटा है, जो लिखित साहित्य किस कालका उपलब्ध होता है, इसका सकेन करती है। घ भाषाका लिखित साहित्य नहीं मिलता, इसलिए वह रेखा वही नहीं कटी है।

तुलनात्मक भाषाशास्त्रमें दो तरहकी सरणियाँ अपनाई जाती हैं। प्रथम सरणि प्राचीन [ संस्कृत ] भाषाओंसे नीचेकी ओर आती है। उदाहरणार्थ, हिन्दीका अध्ययन करनेके लिए संस्कृतसे हिन्दीकी ओर बढ़ना। दूसरी पद्धति यह है कि पहले हिन्दीका विपरणात्मक दृष्टिसे वैज्ञानिक अध्ययन कर लें, तदनन्तर उसके ऐतिहासिक विकासके लिए संस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रंशके विकासका अध्ययन कर हिन्दीको प्रकृतिको तदनुरूप विवेचनाका विषय बनायें। आजके भाषावैज्ञानिक इस द्वितीय पद्धतिका उपयोग ही विदोय वैज्ञानिक मानते हैं। यह बात निश्चित है कि इस तरहकी प्रणालीका आश्रय हम आज बोली जानेवाली भाषाओंके अध्ययनके लिए ही ले सकते हैं। संस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रंशके लिए तो हमें पहली पद्धतिका ही आश्रय लेना होगा। साथ ही दूसरी पद्धति जीवित भाषाके व्यवहृत तथा कथ्य रूपको प्रधानता देनी, प्रथम पद्धतिका एकमात्र आधार लिखित साहित्य होता है। लिखित साहित्यके आधारपर की गई भाषाशास्त्रीय गवेषणाको इमीलिए न्यूनतम भाषाशास्त्री, 'लिग्विस्टिक्स' कहना ठीक नहीं समझते। साथ ही वे 'लिग्विस्टिक्स' तथा 'फाइलोलोजी' को परस्पर पर्यायवाची भी नहीं मानते। लिखित साहित्यके आधारपर भाषाओंके तुलनात्मक व्याकरण अथवा तुलनात्मक पदरचनाशास्त्रको वे 'फाइलोलोजी' कहते हैं, उच्चरित भाषाके आधारपर की गई गवेषणाको 'लिग्विस्टिक्स'। प्रस्तुत पुस्तिकामें अब तक अधिकतर विद्वानों द्वारा आदृत इस मतको ही माना गया है कि 'फाइलोलोजी' तथा 'लिग्विस्टिक्स' को पर्यायवाची माननेमें कोई गलती नहीं। भाषाशास्त्रवाले बहुमतकी ऐसी ही धारणा है। संस्कृतका अध्ययन यहाँपर प्रथम पद्धतिका आश्रय लेकर उपस्थित किया गया है।

भाषाशास्त्रके तीन अंग हैं—(१) ध्वनिविज्ञान, (२) पदविज्ञान, तथा (३) अर्थविज्ञान । किमी भी भाषाका अध्ययन इन तीन अंगोंके आधारपर किया जाता है । कुछ विद्वानोंके मतानुसार अर्थविज्ञानकी दिशा स्वतन्त्र विज्ञानके रूपमें मानी जाती चाहिए । यही कारण है कि किसी भाषाके विश्लेषणमें अधिकतर भाषाशास्त्री ध्वनि तथा पदरचनाका ही विचार करते हैं, अर्थविज्ञानको छोड़ देते हैं । वाक्यरचना जैसे पदरचनाका ही अंग है, किन्तु कुछ विद्वान् इसे अलग तत्त्व मानते हैं ।

## १-ध्वनिविज्ञान

ध्वनिविज्ञानके अन्तर्गत तीन भाग माने जाते हैं —(१) ध्वनियन्त्रोका अध्ययन, (२) ध्वनियोका अध्ययन, (३) ध्वनियोके परिवर्तन सम्बन्धी नियमोंका अध्ययन । ध्वनियन्त्रोका अध्ययन सामान्य भाषाशास्त्र [ General linguistics ] के अन्तर्गत होता है । ध्वनियोके उच्चारणमें मुखके कौन-कौन भाग व्यवहृत होते हैं, तथा उनकी किस-किस दशामें कौन-कौन ध्वनि उच्चरित होती है, इसका अध्ययन होता है । इसीके साथ ध्वनियोके उच्चारणके समय किये गये वाह्य तथा आन्तरिक प्रयत्नों तथा ध्वनियोके स्थान तथा करणका विवेचन होता है । नाद, स्वाम, घोष, अधोष, महाप्राण तथा अल्पप्राण आदि ध्वनियोका परस्पर भेद ध्वनियोके उद्भावक यन्त्रोकी तत्त्वस्थितिके कारण ही होता है । दूसरे भागके अन्तर्गत किसी निश्चित भाषाकी ध्वनियोकी विवेचना की जाती है । किसी भाषाके अन्तर्गत कितनी ध्वनियाँ पाई जाती हैं ? उनमें स्वर तथा व्यञ्जन तथा अन्य अवान्तर भेदोंका विश्लेषणकर उनके स्थान तथा करणकी विवेचना की जाती है । जीवित भाषाओंमें ध्वनियोकी सूक्ष्मातिसूक्ष्म प्रकृतिको उपन्यस्त करनेके लिए श्रुतिमाला, शोष-मोप्राफ आदि यान्त्रिक साधनोंका उपयोग किया जाता है । इसी अंगके अन्तर्गत व्यस्त ध्वनिया तथा उनके सयुक्त रूपोंका भी अध्ययन किया जाता है, तथा अनेक ( दो या अधिक ) ध्वनियाँ समस्त रूपमें एक दूसरी ध्वनियो



वैसे विकृत कर देती है, इसका अध्ययनकर तत्सु भाषाके सम्बन्धमें नियमोंको अवतारणा की जाती है।

ध्वनिविज्ञानका तीसरा अंग ऐतिहासिक दृष्टिसे किसी भाषाकी ध्वनियोंका अध्ययन तथा उसके अनुकूल नियम निबद्ध करना है। इसीके अन्तर्गत हम ध्वनियोंके अनेक प्रकारके परिवर्तनोंकी मीमांसा करते हैं। वर्णांगम, वर्णलोप, वर्णविकार, वर्णविपर्यय, समीकरण, विपर्ययण जैसे रूपाका अध्ययन किया जाता है। संस्कृतसे प्राकृतमें, या संस्कृतसे हिन्दीमें पौनःपौन ध्वनियोंका किस किस प्रकारका परिवर्तन हुआ, यह देखकर उसके आधारपर निश्चित ध्वनिनियमोंकी अवतारणा की जा सकती है। वैसे भाषाशास्त्रके ध्वनिनियम अन्य वैज्ञानिक नियमोंकी भाँति नितान्त अपवादरहित नहीं होते, यह बात ध्यान देनेकी है।

## २-पदरचना

पदरचनाके अन्तर्गत चिन्नी भी भाषाकी पदसंघटनाका अध्ययन किया जाता है। इस विभागके अन्तर्गत भाषाके व्याकरणका अध्ययन होता है, पर इतना होनेपर भी परम्परागत व्याकरणकी शैलीमें, तथा इसमें महान् अन्तर होता है। परम्परागत व्याकरण, किसी भी भाषामें पौनःपौन रूप पाये जाते हैं, अमुक शब्दके एनचयन, द्वियचन या बहुवचनके रूप बँगे होते हैं, तथा अमुक धातुके अमुक लकारके रूप वैसे होते हैं, यही तब सीमित रहता है। भाषाशास्त्रवा पदविज्ञान प्रमुख महत्त्व इस ओर देता है कि अमुक भाषामें इस तरहके रूप क्या निष्पन्न होते हैं। यही कारण है, कई ऐसी बातें जिन्हें वैयाकरण अधिक उपादेय समझता है, उसने लिङ्ग उपेक्षित होती है, तथा कई ऐसी बातें जिन्हें वैयाकरण उपेक्षित समझता है, उसके लिए महत्त्वपूर्ण होती है। यही पद्धतिभेद व्याकरण तथा पदरचनाशास्त्रके अध्ययनको भिन्न बना देता है। इस पुस्तिकामें संस्कृत भाषाका अध्ययन इसी दृष्टिसे है। अब यहाँ संस्कृतकी पदरचनापर भाषाशास्त्रीय दृष्टिसे ही गौरव मिलेगा। संस्कृत व्याकरणकी दृष्टिसे न लिंगी जानेके कारण इस पुस्तिकामें

शब्दों या धातुओंके रूपोंकी पूरी उद्धरणी न मिलेगी, वह कही व्याकरण ग्रन्थसे देखी जा सकती है। सस्कृत पदरचनामें सस्कृत सुप्, तिङ्, कृदन्त, तथा तद्धित प्रत्यय, उनके अनेक रूप कहांसे आये हैं, किस प्रकार इनके समान या समानान्तर रूप ग्रीक, लैटिन तथा अवेस्तामें पाये जाते हैं, इसीका विशद विवेचन पुस्तिकाके आगामी पृष्ठोंमें मिलेगा। अतः सस्कृत व्याकरणकी पद्धतिपर ग्रन्थकी रचना अपेक्षित न थी।

प्रस्तुत ग्रन्थमें प्रा० भा० यू०के कल्पित रूपकी विशेषताओंका संकेत करते हुए, उस आदि-भोतकी प्रकृति उपन्यस्त की गई है, जो सस्कृत तथा अन्य भारत-यूरोपीय भाषाओंकी एकसूत्रता है। तदनन्तर भाषाशास्त्रीय दृष्टिके आधारपर ही अवेस्ता तथा ऋग्वेदकी भाषाओंकी तुलना की गई है। अभी हाल ही में डॉ० सी० कुन्हन राजाने अवेस्ता तथा ऋग्वेदकी तुलना करते हुए उनकी सस्कृतिको समान माननेकी प्रचलित भ्रान्तिका उल्लेख किया है, तथा ऐसी भ्रान्तिको अहितकर बताया है। पर जहाँ तक इन दोनोंके शुद्ध भाषाशास्त्रीय तुलनात्मक अध्ययनका प्रश्न है, वे इसका विरोध नहीं करते। इस पुस्तकमें अवेस्ता तथा ऋग्वेदकी तुलना भाषाको दृश्यविन्दु बनाकर ही की गई है, सस्कृतिको नहीं, तथा सस्कृतिकी समानता वाली बातें, जिन्हें डॉ० कुन्हन राजाने भ्रान्त कहा है, यहाँ न आने पाई हैं। वैदिक सस्कृत तथा अवेस्ताकी सम्यता निःसन्देह भिन्न थी, किन्तु उनकी भाषा एक-दूसरेके बड़ी नजदीक है, इससे इन्कार नहीं किया जा सकता। इसी सम्बन्धमें डॉ० राजाने ऋग्वेदकी तिथिके प्रश्नको फिरसे उठाया है। ऋग्वेदकी तिथिके विषयमें अनेक मत होनेके कारण निश्चित मत अभी तक स्थिर न हो सका है। यही कारण है, मैंने यहाँ तुलनात्मक भाषाशास्त्रियोंके द्वारा आदृत मतको ही लिया है। यह मत मेरा अपना तो है नहीं, और न इस मतका सतोपपूर्ण खण्डन ही हो सकता है।

सस्कृतकी भागीरथीके आदिस्रोतसे लेकर आज तक बहते हुए अखण्ड प्रवाहकी रूपरेखा प्रस्तुत करना ही यहाँ लक्ष्य रहा है। उसका विशाल

अध्ययन तो बटित, दुरुह तथा व्योमका कार्य है। संस्कृतकी ध्वनि सम्बन्धी तथा पदरचना सम्बन्धी खास-खास विशेषताआका परिचय तथा उनके पर-वर्ती विवासाका परिचय देनेका कारण भारतीय आर्य भाषाओंकी अखण्ड परम्पराका संकेत करना है।

ध्वनिविज्ञान तथा पदरचना [पदविचार]के अतिरिक्त कुछ लोग वाक्य-विचारको अलगसे विषय मानते हैं, किन्तु अधिकतर विद्वान् इसका समावेश पदरचनाके अन्तर्गत ही करते हैं तथा इसे पदविज्ञान [ Morphology ] का ही एक अंग समझते हैं। प्रा भा पू की कल्पित वाक्यरचनाको वैज्ञानिक मानना भ्रान्ति होगा, फिर भी कुछ समानताएँ ग्रीक, लैटिन तथा संस्कृत वाक्य रचनाआम, उनके कारण प्रयोगोंमें, उपसर्गों, परसर्गों, परस्मैपदी या आत्मनेपदी प्रयोगोंमें देवी जा सकती हैं, जो बड़ी मनोरंजक हैं। संस्कृतका वाक्यविचार करते समय बड़े संक्षेपमें वाक्य तथा पदोंका विचार तथा इन स्थिति समानताआका संकेत आवश्यक हो जाता है।

### ३-अर्थविज्ञान

भाषाविज्ञानका तीसरा अंग अर्थविज्ञान है। अर्थविज्ञानके अध्ययनको कुछ भाषाशास्त्री अलग अध्ययनका क्षेत्र मानते हैं, तथा भाषाशास्त्रीय अध्ययनमें उसे सम्मिलित नहीं करते। जहाँ तक मैदान्तिक भाषाशास्त्रका प्रश्न है, अर्थविज्ञानका अध्ययन उन्हें अभीष्ट है, किन्तु किसी भाषाके विवरणात्मक, ऐतिहासिक या तुलनात्मक अध्ययनमें अर्थ विचार प्राय छोड़ दिया जाता है। इसके दो कारण हैं, भाषाकी बाह्य संघटना प्रमुखत ध्वनि तथा पदरचनासे ही सम्बद्ध है, [ यद्यपि अर्थ भाषाका आत्मतत्त्व है, इसका निषेध नहीं किया जा सकता ], दूसरे भाषाके अर्थविचारमें भाषाशास्त्रीको अपने क्षेत्रका छोड़कर मनोविज्ञान, इतिहास, पुरातत्त्व, साहित्य आदि अनेक क्षेत्रोंका आश्रय लेना पड़ता है, तथा अर्थविचार प्रमुखत समाजविज्ञानका [ तथा मनोविज्ञानका ] रूप ले लेता है। तुलनात्मक भाषाशास्त्रीय अध्ययन प्रणालीके कारण इस पुस्तिकामें भी अर्थतत्त्वका विचार नहीं है।

अर्थविज्ञानके साधारणतः दो अंग माने जा सकते हैं.—१. सैद्धान्तिक अर्थविज्ञान, २. व्यावहारिक अर्थविज्ञान। सैद्धान्तिक अर्थविज्ञानके अन्तर्गत सर्वप्रथम प्रश्न शब्द तथा अर्थके सम्बन्धपर उपस्थित होता है, दोनोंमें कोई साक्षात् सम्बन्ध है भी या नहीं। कई विद्वान् शब्द तथा अर्थमें कोई साक्षात् सम्बन्ध नहीं मानते। दूसरे विद्वान् इस सम्बन्धको नित्य मानते हैं। अर्थ-प्रतीतिका कारण मनोवैज्ञानिक है या सामाजिक, यह प्रश्न भी उपस्थित होता है, तथा भाषाशास्त्री अधिकतर इसके सामाजिक एवं प्राकरणिक [ Contextual ] महत्त्वपर ही जोर देते हैं। इसके अनन्तर अर्थविज्ञानका दूसरा महत्त्वपूर्ण विषय अर्थ-प्रकार तथा शब्द-शक्तियोंसे सम्बद्ध है, तथा इसी सम्बन्धमें अर्थ जातिनिष्ठ होता है या व्यक्तिनिष्ठ इसपर भी दो विरोधी मत देखे जाते हैं।<sup>१</sup>

भाषाशास्त्रके क्षेत्रमें अर्थविज्ञानको प्रतिष्ठापित करनेका श्रेय फ्रेंच भाषाशास्त्री ब्रेआल [ Breal ] को है। ब्रेआलने अर्थविचारके अन्तर्गत भाषाके परवर्ती विकासमें होनेवाले अर्थ-परिवर्तनोंके प्रकारों तथा उनके मनोवैज्ञानिक कारणोंको उपन्यस्त किया है। उसने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ "अर्थविज्ञानपर निबन्ध" [ Essai sur la Semantique ] में लैटिन भाषाके शब्दोंको लेकर आधुनिक रोमान्स भाषाओं, फ्रेंच, इतालियन, स्पेनिश आदिमें होनेवाले आर्थिक परिवर्तनोंका अध्ययन किया। इसके आधारपर उसने अर्थ-

---

१. शब्द तथा अर्थके सम्बन्धका यह विचार भाषाशास्त्रमें इतना अधिक नहीं पाया जाता, जितना दर्शन, न्याय तथा मनोविज्ञानके ग्रन्थोंमें। भारतमें इसका विचार दर्शन, व्याकरण तथा साहित्यशास्त्रमें हुआ है। इस विषयका विशेष विवेचन लेखकने अपने पी एच. डी. के लिए स्वीकृत प्रबन्ध "शब्दशक्ति-विवेचन" में किया है, जो नागरीप्रचारिणी सभा, काशीसे प्रकाशित हुआ है। इसमें पाश्चात्त्योंके एतत्सम्बन्धी विचारोंका भी विवेचन किया गया है।

परिवर्तनके प्रचारोका उल्लेख करते हुए, अर्थविस्तार, अर्थमकोच, अर्थ-विपयंय, अर्थदिश, अर्थपरिदेश आदिका संकेत किया है।

### ४-शब्द-भाण्डार

शुद्ध विद्वानोंने मतानुसार भाषाशास्त्रका एक और अंग है, शब्द-भाण्डार। पर अधिकतर भाषाशास्त्री तुलनात्मक भाषाशास्त्रमें इसको भी विशेष महत्त्व नहीं देते। जैसे शब्द-भाण्डारका वैज्ञानिक अध्ययन किसी भाषाकी अपनी सघटना जाननेमें बड़ा काम देता है। यही नहीं, किन्तु भाषा-में निहित विजातीय तत्त्व है, इनका संकेत भी प्रमुखतः शब्द-भाण्डारसे ही लगता है। संस्कृतमें ही कई मुण्डा तथा द्राविड शब्द पाये जाते हैं। विद्वानोंने इसका अध्ययनकर उन शब्दोंकी तालिका भी उपन्यस्त की है। संस्कृतके अध्ययनमें अन्तिम परिच्छेदमें इन शब्दोंका परिचय दिया गया है। प्रत्येक भाषामें कई कारणोंसे, जिनमें प्रमुख कारण ऐतिहासिक, सांस्कृतिक तथा साहित्यिक होते हैं, नये शब्द स्थान पाते जाते हैं। जब वे आम बोल-चालकी भाषाके अंग बन जाते हैं, तो भाषावैज्ञानिकके अध्ययनके विषय बन जाते हैं। यहाँ यह संकेत कर देना अनावश्यक न होगा कि किसी भाषाके कोश-भाण्डारका अध्ययन भाषाशास्त्री उस रूपमें नहीं करता, जिस रूपमें कोषकार [ Lexicographer ] उसका अध्ययन करता है।

### [ आ ]

### भारतयूरोपीय परिवारकी भाषाओंका संक्षिप्त विवरण

समस्त विश्वकी भाषाओंको कई परिवारोंमें विभक्त किया जाता है। एक परिवारकी सभी भाषाएँ एक दूसरेसे इतिहास तथा पदरचना दोनों दृष्टियोंसे घनिष्ठतम सम्बन्ध रखती हैं। विश्वकी इन भाषाओंमें अपनी अपनी विशेषताएँ पायी जाती हैं। उदाहरणके लिए चीनी भाषा एकाक्षर भाषा है, तथा उसमें सभी शब्द अर्थतत्त्वके ही बोधक हैं, सम्बन्धकार्यके बोधनके लिए वहाँ शब्दका वाक्यगत स्थान ही साधन बनता है। चीनी ही नहीं, अन्य

वर्षे भापाएँ तिब्बती, स्पामी, बर्मी आदि भी इसी परिवारकी भापाएँ हैं । इन भापाओको परिवारकी दृष्टिसे एकाक्षर परिवारकी, तथा पदरचनाकी दृष्टिसे अयोगात्मक या व्यासप्रधान भापाएँ [Isolating languages] कहा जाता है । दूसरे ढगकी भापाएँ द्राविड परिवारकी हैं, जो भारतके दक्षिण भागमें बोली जाती हैं, ये भापाएँ पदरचनाकी दृष्टिसे प्रत्ययप्रधान या अश्लिष्ट भापाएँ [Agglutinating languages] होती हैं । इन भापाओमें अर्थतत्त्व या शब्द तथा प्रत्यय (सम्बन्धतत्त्व) मिलाकर किसी भावकी प्रतिपत्ति कराते हैं । इस प्रकार इन भापाओमें पद = शब्द + प्रत्यय । किन्तु शब्द [अर्थतत्त्व] तथा प्रत्यय [सम्बन्धतत्त्व] पदमें स्पष्ट भिन्न भिन्न परिलक्षित होते हैं । तीसरी कोटिकी भापाएँ प्रश्लिष्ट कोटिकी होती हैं । इन भापाओमें शब्द एक दूसरेसे इतने दिल्ष्ट हो जाते हैं कि कभी पूरा वाक्य ही समासान्त पद हो जाता है । इन भापाओमें समासान्तपद [या वाक्य] = शब्द + शब्द + शब्द + । इन भापाओको इसी विशेषताके कारण समास-प्रधान भापाएँ भी कहा जाता है । अमेरिकाके आदि निवासियों [ रेड-इण्डियन्स ]की भापाएँ इसी कोटिकी हैं ।

इनके अतिरिक्त सबसे महत्वपूर्ण वर्ग विभक्तिप्रधान [Inflectional] भापाओका है । इन भापाओमें अर्थतत्त्वके साथ विभक्ति रूप सम्बन्धतत्त्वको जोड़कर 'पद'की निष्पत्ति की जाती है । यह विभक्ति किन्ही किन्ही भापाओमें आम्बन्तर होती है, किन्हीम वाह्य । जिनमें यह आम्बन्तर होती है, वे अन्त-विभक्तिप्रधान भापाएँ होती हैं, जैसे सेमेटिक हेमेटिक परिवारकी भापाएँ । अरबीमें अन्तविभक्तिके कारण अर्थतत्त्वके अन्दरके स्वरोका परिवर्तन करनेसे अलग-अलग सम्बन्धतत्त्वोका भावबोधन करा दिया जाता है । बहिर्विभक्ति-प्रधान भापाओमें विभक्तियाँ अर्थतत्त्व (शब्द) के बादमें जुटती हैं, तब सुबन्त तथा तिडन्त पदोंकी निष्पत्ति होती है । विभक्तिप्रधान भापाओमें अर्थ-तत्त्व तथा सम्बन्धतत्त्व एक दूसरेके साथ इतने घुलमिल जाते हैं कि अलग दिखाई नहीं देते, साथ ही विभक्तिके कारण अर्थतत्त्वमें भी (कभी-कभी)

विकार हो जाता है। भारतयूरोपीय परिवारकी भाषाएँ इसी द्वितीयबोटिकी विभक्तिप्रधान भाषाएँ हैं।

अगले परिच्छेदमें हमने इसको स्पष्ट किया है कि भारतयूरोपीय परिवारकी उत्पत्ति क्यों की गई है, तथा इस परिवारमें पौन-कौन-सी समानताएँ पाई जाती हैं, जो इन्हें एक ही परिवारके अन्तर्गत रखती हैं। यहाँ हम केवल इस परिवारके वर्गों तथा उन वर्गोंकी प्रमुख भाषाओंका संकेत दे देना ठीक समझते हैं। भारत-यूरोपीय परिवारको कई नाम दिये जाते हैं। पहले इसे भारत जर्मनी नाम दिया गया था, कुछ लोगोंने इसे 'आर्य'-परिवार भी कहा था किन्तु ये नाम मकुचित हैं। आजकल इसे भारत-यूरोपीय [Indo-European] परिवार ही कहा जाता है। हिन्दीमें इसका संक्षिप्त रूप भारोपीय भी चलता है, पर मैं भारत-यूरोपीय शब्दका प्रयोग करना ही विशेष ठीक समझता हूँ। इस परिवारकी भाषाएँ विश्वमें सबसे अधिक संख्याके द्वारा बोली जाती हैं, तथा भौगोलिक विस्तारकी दृष्टिसे इसका बहुत बड़ा महत्त्व है। इसके साथ ही प्राचीनतम उपलब्ध साहित्यकी दृष्टिसे इस परिवारका अत्यधिक महत्त्व है। वैसे इससे भी पुरानी भाषाएँ थी, जिनके पास साहित्य रहा होगा, पर वे या तो स्वयं लुप्त हो गई हैं, या उनका साहित्य लुप्त हो गया है। संस्कृतकी वैदिक निधि इसीलिए सबसे पुराना साहित्य है, जो इस परिवारकी भाषावैज्ञानिक महत्ताका अन्यतम प्रतिष्ठापक है। इसके साथ ही आज भी विश्वमें इस परिवारकी भाषाओंका अन्तर्राष्ट्रीय महत्त्व है तथा वे सम्यं जातियोंकी भाषाएँ मानी जाती हैं। अंगरेजी, फ्रेंच, रूसी, स्पेनिश तथा हिन्दी आज अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त कर चुकी हैं। अंगरेजी तो जैसे आज भी समस्त विश्वकी उप-भाषा-सी बनी हुई है। मध्यएशियामें ठीक यही स्थान फ्रेंचने, दक्षिण अमेरिकामें स्पेनिशने तथा उत्तरी एशियामें रूसीने प्राप्त कर रक्खा है। इस दृष्टिसे हिन्दी पिछड़ी नहीं जा सकती है। किन्तु हिन्दीकी सांस्कृतिक परम्परा उसके विस्तार तथा विकासमें निश्चय ही योग देगी तथा वह दिन दूर नहीं, जब हिन्दी अन्तर्राष्ट्रीय विश्वमें अपना समुचित स्थान प्राप्त कर सकेगी।

भारत-यूरोपीय परिवारकी भाषाओंको निजी-निजी विशेषताओंके आधारपर दस शाखाओंमें विभक्त किया गया है। इनमेंसे दो वर्गोंको छोड़कर बाकी अन्य शाखाओंकी भाषाएँ आज भी बोली जाती हैं। इनमेंसे कई वर्गोंकी भाषाएँ पुनः उपशाखाओंमें विभक्त की जाती हैं। सर्वप्रथम इन समस्त भाषाओंको दो वर्गोंमें बाँटा जाता है — सतम् वर्ग तथा केन्तुम् वर्ग। भारत-यूरोपीय परिवारमें कतिपय शाखाओंकी भाषाएँ ऐसी हैं, जिनमें उन स्थानपर 'क' पाया जाता है, जहाँ सस्वृतमें 'क्ष' तथा अन्य कई योरोपीय भाषाओंमें 'स' पाया जाता है। प्रा० भा० यू० शाल्व्य क्य, प्य आदि ध्वनियाँ भारत-ईरानी शाखा, अल्बेनियन, बाल्तोस्लाविक आदिमें सोप्य स [क्ष], ज, ज' का रूप ले लेती हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि प्रा० भा० यू० में दो तरहकी विभाषाएँ रही होंगी तथा इस विभाषाके बोलनेवाले आम-पाम रहते थे तथा इनके ही वंशजोंकी भाषाएँ भारत, ईरान, आर्मेनिया, रूस आदि स्थानोंपर बोली जाती हैं। किन्तु इस वर्गके दूरकी विभाषाओंमें इन ध्वनियोंका विवास नहीं हुआ और वहाँ वे कण्ठ्य रूपमें स्पर्श ही बनी रही हैं। उदाहरणके लिए लैटिनमें 'सी'के लिए प्रयुक्त 'केन्तुम्' [Centum] शब्दमें 'क' ध्वनि पाई जाती है, जबकि सस्वृत तथा अव्यंजनोंमें यह क्रमशः सोप्य 'क्ष' तथा 'स' हो गई है तथा वहाँ इसका 'सतम्' तथा 'सनम्' रूप देखा जाना है। इन दोनों वर्गोंकी भाषाएँ निम्न हैं —

१. सतम् वर्ग—भारत ईरानी शाखा, अल्बेनियन शाखा, आर्मेनियन शाखा, बाल्तोस्लाविक शाखा।

२. केन्तुम् वर्ग—ग्रीक शाखा, इतालिक शाखा, केल्तिक शाखा, हिताइन, जर्मनिक या द्यूटोनिक शाखा, तोसारी।

हम इन्हींका सविस्तार विवरण यहाँ देंगे।

१. भारत-ईरानी शाखा—इस शाखामें दो उपशाखाएँ हैं—भार-



तीय आर्य शाखा तथा ईरानी शाखा । वैसे एक तीसरी शाखाकी भी कल्पना की जाती है,—दरदशाखा ।

भारतीय आर्य शाखाकी प्राचीनतम भाषा संस्कृत है, जिसके प्राचीन साहित्यके रूपमें वैदिक मन्त्र उपलब्ध हैं, जो इस परिवारकी प्राचीनतम साहित्यिक निधि हैं । इस शाखाका साहित्य ईसासे लगभग डेढ़-दो हजार वर्ष पुराना प्राप्त होता है । भारतीय आर्यशाखाकी परवर्ती भाषाएँ प्राकृत तथा अपभ्रंशकी स्थितिसे गुजरती हुई आजकी भारतीय आर्य भाषाओके रूपमें विकसित हुई हैं, जिनका विस्तृत उल्लेख इस पुस्तिकाके अन्तिम परिच्छेदमें देखा जा सकता है ।

ईरानी उपशाखाके अन्तर्गत प्राचीनतम भाषा अवेस्तामें उपलब्ध होती है । अवेस्तामें वैदिक मन्त्रोंकी तरह ही अनेक कालकी भाषा है तथा इनमें प्राचीनतम भाषा ईसासे लगभग ८०० वर्ष पूर्वकी कही जा सकती है । प्राचीन ईरानीको दो भागोंमें विभक्त किया जाता है—एक उसका प्राचीनतम रूप जो अवेस्तामें उपलब्ध होता है, दूसरा उसके पासका रूप जो अकेमेनिद राजाओके ब्युनिफोर्म शिलालेखोंमें प्राप्त होते हैं । इनमेंसे दारिउस प्रथमके शिलालेख ५२१ ई० पू० के माने जाते हैं । ईरानी शाखाकी परवर्ती भाषा पहलवी है । इसके भी सोगदी, साका, पार्थियन आदि वैभाषिक भेद पाये जाते हैं । यह स्थिति ई० पू० तीसरी शताब्दीसे ईसाकी दसवीं सदी तक मानी जा सकती है । पहलवीकी अवेस्ताकी टीकाएँ तथा स्वतन्त्र साहित्यिक कृतियाँ उपलब्ध होती हैं । आजकी भाषाओमें इस वर्गमें आधुनिक फारसी, कुर्दिश, ओसेतिक, पस्तो तथा बलूची मुख्य हैं । इनमें साहित्यिक दृष्टिसे आधुनिक फारसीका प्रमुख स्थान है तथा उसका प्राचीनतम साहित्य म्यारहवीं सदी तक जाता है, जिसमें फिरदौसीका गाहे-नामा प्रसिद्ध है ।

२ अल्बेनियन—अल्बेनियन भाषाका प्राचीनतम साहित्य ईसाकी चौदहवीं शताब्दीका मिलता है । यही कारण है कि अल्बेनियनके प्राचीनकालिक तथा मध्यकालिक रूपोंका कुछ भी पता नहीं चलता ।

३. आर्मेनियन शाखा—आर्मेनियन शाखाका साहित्य भी उतना पुराना नहीं मिलता, जितना अन्य शाखाओका । फिर भी अल्बेनियन शाखाकी अपेक्षा इसका साहित्य अधिक पुराना मिलता है । अल्बेनियन भाषाका साहित्य ईसाकी पाँचवी सदीसे निरन्तर उपलब्ध होता है । यही कारण है कि अल्बेनियन भाषाकी अपेक्षा आर्मेनियन भाषाकी मध्यकालीन स्थितिके विषयमें हमलोग बहुत अधिक जान सकते हैं । इधर कुछ दिनोंसे भाषाशास्त्रियोंका अल्बेनियन तथा आर्मेनियन भाषाओंकी ओर ध्यान आकृष्ट हुआ है । वैसे इन भाषाओंकी ओर सबसे पहले फ्रेंच विद्वान् मेयेका ध्यान आकृष्ट हुआ था तथा उसने इन भाषाओंका वैज्ञानिक अध्ययन किया था ।

४. बाल्टो-स्लाविक—बाल्टो-स्लाविक या बाल्टो-स्लावोनिक सप्तम वर्गकी अन्य शाखा है । इसके अन्तर्गत भारत ईरानी शाखाकी तरह ही युगल उपशाखाओका अस्तित्व है । एक उपशाखा बाल्तिक है, दूसरी स्लावोनिक । बाल्तिक उपशाखाकी प्राचीनतम प्रकृतिका पता नहीं लगता, किन्तु मध्यकालमें इसकी तीन विशेषताएँ रही हैं—प्राचीन लिथुआनियन, प्राचीन लेतिश तथा प्रशियन । प्राचीन प्रशियनमें साहित्य उपलब्ध होता है, तथा यह भाषा १७ वीं शताब्दी तक प्रचलित थी, किन्तु बादमें सम्भवतः जर्मनके प्रभावसे इसका लोप हो गया । लिथुआनियन तथा लेतिश आज भी बोली जाती हैं । भाषाशास्त्रीके लिए इनमें लिथुआनियन अत्यधिक महत्वपूर्ण है । भारतयूरोपीय वर्गकी आजकी भाषाओंमें लिथुआनियनने प्राचीन प्रकृतिकी अत्यधिक सुरक्षित रक्ता है । इस दृष्टिसे इसे 'आर्ष' प्रकृतिकी भाषा कहा जा सकता है । इसमें आज भी द्विवचनके चिह्न सुरक्षित रखे हैं तथा विभक्तियोका अत्यधिक प्रयोग पाया जाता है । लिथुआनियनमें आज भी छ विभक्तियाँ पाई जाती हैं । ध्वनियोंकी दृष्टिमें भी लिथुआनियनने आ० भारतयूरोपीय ध्वनियोंकी भी अन्य भारतयूरोपीय भाषाओंकी अपेक्षा अधिक सुरक्षित रक्ता है, उदाहरणके लिए हम निम्न शब्दोंको ले लें—

लियुआ० एस्ति [ Esti ] , ग्रीक एस्ति [ Esti ], संस्कृत अस्ति  
 ,, एइमि [ Eimi ], ,, एइमि [ Eimi ] ,, एमि  
 ,, उग्निस् [ Ugnis ], लैतिन इग्निस् [ Ignis ] ,, अग्नि

स्लावोनिक उपशाखाको पुनः तीन भागोंमें विभक्त किया जाता है — दक्षिणी स्लावोनिक, पश्चिमी स्लावोनिक तथा पूर्वी स्लावोनिक । स्लावोनिक उपशाखाकी भाषाएँ बल्गेरिया, जेकोस्लेवाकिया, पोलैण्ड, यूगोस्लाविया, यूक्रेन तथा रूसमें बोली जाती हैं । इन तीन भागोंमेंसे मध्यकालीन प्रकृति प्राचीन चर्च स्लावोनिक या “प्राचीन बल्गेरियन” का विशेष महत्त्व है । प्रा० च० स्ला० दक्षिणी स्लावोनिकका मध्यकालीन रूप है । इसमें ईसाकी नवीं शतीसे लेकर १२ वीं शती तकका अत्यधिक महत्त्वपूर्ण साहित्य उपलब्ध होता है । बाल्तोस्लाविक शाखाकी मध्यकालीन प्रकृतिके उदाहरण उपयुक्त करनेके लिए भाषाशास्त्री इसी साहित्यका आश्रय लेते हैं । इस उपशाखाकी आधुनिक भाषाएँ बल्गेरियन, सर्वो क्रोट तथा स्लोवन हैं । पश्चिमी उपशाखाकी मध्यकालीन भाषा ‘पोलेबियन’ थी, किन्तु इसका साहित्य उपलब्ध नहीं होता । इस शाखाकी आधुनिक भाषाएँ—जेक, स्लोवाक, पोलिश तथा सोबियन हैं । सोबियन पूर्वी जर्मनीमें लगभग दस लाख आदिमियोंके द्वारा बोली जाती है तथा इस शाखाकी सबसे बड़ी भाषा है । पूर्वी स्लावोनिककी मध्यकालीन प्रकृतिका पता नहीं चलता । इसकी आधुनिक भाषाएँ [ बडी ] रूसी, सफेद रूसी, यूक्रेनियन [ या छोटी रूसी ] हैं । रूसी रूस देशकी राष्ट्रीय भाषा है । सफेद रूसी पोलैण्डके कुछ भागमें बोली जाती है तथा छोटी रूसी यूक्रेनमें । सोवियतकी स्थापना होनेके बाद रूसकी अथवा सभी भाषाएँ जो अब तक गिरी पड़ी अवस्थामें थीं, साहित्यिक दृष्टिसे समृद्ध होती जा रही हैं ।

५ हित्ताइट—केन्तुम वगकी एक भाषा हित्ताइट है, जिसके ईटाके लेश तुर्किके बोगाजकुई स्थानपर प्राप्त हुए हैं । बोगाजकुई हित्ताइट साम्राज्यकी राजधानी थी तथा यह साम्राज्य ईसासे १४ वीं शताब्दी पूर्वतक

रचनाका सनेन देंगे, तो हमारा तात्पर्य प्राचीन "कर्मिबल" शीतसे ही है, आधुनिक शीतसे नहीं।

७ इतालिक—यूरोपके पश्चिमी भागकी आधुनिक भाषाओंमें इतालिक शाखा तथा द्यूटोनिक [ जर्मन ] शाखाकी भाषाओंका ही अधिक विस्तार पाया जाता है। इतालिक शाखाकी प्रमुख भाषा लैटिन रही है, जो यूरोपमें शीतके समान ही आदृत रही है, अपितु मध्यकालमें तो शीतसे भी अधिक सम्मानित रही है। प्रा० भा० यू० के अध्येताके लिए लैटिनका महत्त्व भी मसूतत य शीतके समान ही है। लैटिनने मसूतत य शीतकी तरह प्रा० भा० यू० पदरचना [ Morphology ] को सुरक्षित रक्षता है। इतालिक शाखाकी दो उपशाखाओंमें विभक्त किया जाता है — [ १ ] लैटिन फालिस्वन, [ २ ] ओस्वन-उम्ब्रियन। इनमें द्वितीय उपशाखाके प्राचीन रूप सिलालेखोंमें मिलते हैं, किन्तु बादमें ये विभाषाएँ लुप्त हो गई हैं। प्रथम उपशाखामें दो विभाषाएँ थीं, लैटिन तथा फालिस्वन। लैटिनका साहित्य ईसासे पहलेका प्राप्त होता है। लैटिनकी परवर्ती स्थिति "वल्गर लैटिन" [ भ्रष्ट लैटिन ] के नामसे उसी तरह विख्यात है, जैसे पतञ्जलिने अपाणिनीय प्रयोगोंको "अपभ्रंश" कहा था। वस्तुतः "वल्गर लैटिन" साहित्यिक "कर्मिबल" लैटिनकी प्राकृत थी। इसीसे फ्रेंच, स्पेनिश, पोर्चुगीज, प्रोवांसाल, इतालियन तथा रूमनियन भाषाओंका विकास हुआ है।

८. केल्तिक—केल्तिक शाखामें कुछ ऐसी विशेषताएँ पाई जाती हैं जो लैटिन [ इतालिक शाखा ] में भी उपलब्ध होती हैं। इसीलिए कुछ विद्वानोंने इतालिक व केल्तिकको एक ही शाखाकी दो उपशाखाएँ माना था। इतालिक तथा केल्तिक दोनों ही दो तरहके भाषावर्ग पाये जाते हैं, एक वर्गमें प्रा० भा० यू० 'क' परिवर्तित नहीं होता तथा 'ब' ही बना रहता है, तथा दूसरेमें वह 'प' के रूपमें परिवर्तित हो जाता है। इतालिक तथा केल्तिक शाखाओंकी दूसरी समानता यह है कि इन शाखाओंमें कर्मवाच्य रूपोंमें 'र' का प्रयोग पाया जाता है। उदाहरणके लिए आयरिश

'बेरी' [ Beri ] का अर्थ 'ले जाना' [ सं० भरति ] है । इससे कर्मवाच्य रूपमें बेरी-र् [ Beri-r ] [ वह ले जाया जाता है ], बेर्ती-र् [ Bertir ] [ वे ले जाये जाते हैं ], रूप बनते हैं । इसी प्रकार लैतिनमें भी कर्मवाच्य रूपमें 'र्' पाया जाता है । वैसे 'र्'का प्रयोग तोखारिश, हिताइत तथा आर्मिनियनमें भी पाया जाता है ।

वैलिक शाखामें तीन उपशाखाएँ हैं—[१] गेलिक या गोइदेलिक, [२] ब्रितेनिक, [३] गॉलिश । इनमें अन्तिम शाखाकी भाषाके कुछ शिलालेख प्राप्त होते हैं । इनमें कुछ स्थानों व व्यक्तियोंके नाम तथा लैतिनसे गृहीत शब्दोंका प्राचुर्य है । गॉलिश ईसाकी छठी शतीके लगभग लुप्त हो गई थी । गेलिक उपशाखाकी आधुनिक भाषाएँ आयरिश, स्कॉट, गेलिक, तथा माख हैं । ब्रितेनिक उपशाखाकी आधुनिक भाषाओंमें वेल्श तथा ब्रेतन हैं । ब्रेतन फ्रांसके ब्रितेनी प्रदेशमें बोली जाती है । साहित्यिक दृष्टिसे इनमें आयरिशका साहित्य ईसाकी पाँचवी शतीमें उपलब्ध होता है तथा वेल्शका ईसाकी नवी शतीसे । बाकी भाषाएँ साहित्यिक दृष्टिसे समृद्ध नहीं हैं ।

६. जर्मन या ट्यूटोनिक शाखा—जर्मन या ट्यूटोनिक शाखाकी भाषाएँ जर्मनी, स्वीडन, नावें, डेनमार्क, आइसलैंड, हॉलैण्ड तथा इङ्गलैण्डमें बोली जाती है । जर्मन शाखाको तीन उपशाखाओंमें विभक्त किया जाता है—[ १ ] पूर्वी जर्मन, [ २ ] उत्तरी जर्मन तथा [ ३ ] पश्चिमी जर्मन । पूर्वी जर्मन शाखाकी कोई भी जीवित भाषा विद्यमान नहीं है । प्राचीन साहित्यिक दृष्टिसे इसके अन्तर्गत गायिक भाषाके लिखित साहित्यका महत्त्व है, जो ईसाकी चौथी शताब्दीके बादसे प्राप्त होता है । भाषाशास्त्रीके लिए भारतयूरोपीय परिवारके तुलनात्मक अध्ययनमें जर्मन-शाखाकी विशेषता जाननेके लिए गायिक ही प्रमाणस्वरूप है । अन्य उपशाखाओंका इतना प्राचीन रूप उपलब्ध नहीं । उत्तरी जर्मनका प्राचीन रूप रूनिक् शिलालेखों [ Runic Inscription ] में उपलब्ध होता है । उसका परवर्ती साहित्यिक रूप प्राचीन नोर्स या प्राचीन आइसलैंडिक भाषाके रूपमें मिलता

है। इस उपशाखाकी आधुनिक भाषाएँ स्वीडिश, डेनिश, नोर्वेजियन तथा आइसलैण्डिक हैं।

पश्चिमी जर्मन उपशाखाका साहित्य तथा प्रचारकी दृष्टिसे बड़ा महत्त्व है। इस परिवारकी जर्मन भाषा तथा अँगरेजीके साहित्यिक समृद्धिसे कारण अन्तर्राष्ट्रीय स्वानि प्राप्त कर ली है। पश्चिमी जर्मनको दो भागोंमें विभक्त किया जाता है, [१] हाई जर्मन, [२] लो जर्मन। हाई जर्मनके अन्तर्गत प्राचीन हाई जर्मन तथा आधुनिक जर्मन, उच्च तथा फ्लैमिश [ बेल्जियमकी भाषा ] आती है। दूसरी कौटिबे अन्तर्गत आंग्ल-फीजियन भाषा-सुगल आता है, जिसमें साहित्यिक दृष्टिसे प्राचीन अँगरेजी या एंग्लो-सैक्सन भाषा भी महत्त्वपूर्ण है। अँगरेजी तथा फीजियन इस उपशाखाकी आधुनिक भाषाएँ हैं।

जेबय ग्रिमने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'जर्मन भाषाके व्याकरण' [Duetsch Grammar] में हाई जर्मन तथा लो जर्मनके ध्वनिपरिवर्तनकी कालसिक्ल कालकी भाषा-ग्रीक तथा लैटिनसे तुलना करते हुए एक नियमको जन्म दिया था, जो भाषाविज्ञानमें "ग्रिमनियम"के नामसे विख्यात है। ग्रिमनियमका सम्बन्ध भारतीय आर्य भाषाओंसे किञ्चिन्मात्र भी नहीं है, न सस्कृतसे ही। इसका महत्त्व इस दृष्टिसे है कि प्रा० भा० यू० ध्वनियों गार्थिक तथा परवर्ती जर्मन भाषाओंमें किस रूपमें परिवर्तित हुई हैं। वैसे ग्रिमके नियमका वर्णरवाला उपनियम एक दृष्टिसे थोड़ा बहुत सस्कृतके लिए उपयोगी कहा जा सकता है, क्योंकि उसके कारण प्रा० भा० यू० स्वर [accent] का अनुमान लगाया जा सकता है।

१०. तोखारी—१९०४ में चीनो तुकिस्तानमें कुछ हस्तलेख मिले थे, जो भारत-यूरोपीय परिवारकी किसी भाषामें थे। ये हस्तलेख ईसाकी छठी शतीके लगभगसे प्राप्त होते हैं। इस भाषाको 'तुथार' या 'तुखार' जातिके नामपर तोखारी, तोखारिक, तोखारैय, तोखारियन, तोखारियस कई नामोंसे पुकारा जाता है। यह भाषा यद्यपि भौगोलिक दृष्टिसे 'सतम्'

वर्गकी भाषाओके द्वारा धिरी है, तथापि केन्तुम् वर्गकी है। इसमें "सौ" के लिए "कान्त" [Kant] शब्द पाया जाता है। तोखारी भाषासे अन्य उदाहरण ये दिये जा सकते हैं —

पातर	सं०	पितृ
मातर	सं०	मातृ
श्रोक्त	सं०	श्रष्ट

भारतयूरोपीय परिवारकी भाषाकी मूल प्रकृति जाननेके लिए संस्कृत, ग्रीक तथा लैतिनका अत्यधिक महत्त्व है। इन तीनोंने प्रा० भारतयूरोपीय भाषाकी पदरचनात्मक विशेषताओको अधिकाधिक रूपमें सुरक्षित रक्खा है। ध्वनियोंकी दृष्टिसे संस्कृत प्रा० भा० यू० की प्रकृतिको अधिक सुरक्षित रख सकी है, यद्यपि प्रा० भा० यू० स्वरध्वनियाँ संस्कृतमें अत्यधिक संकुचित हो गई हैं। संस्कृतने पाँच प्रकारकी प्रा० भा० यू० स्पर्श ध्वनियोंको आज भी किसी-न-किसी रूपमें सुरक्षित रक्खा है, जब कि ग्रीक व लैतिनमें वे तीन प्रकारकी कवर्ग, तवर्ग तथा पवर्गवाली ध्वनियोंमें ही समाहित हो गई हैं। इसी प्रकार संस्कृतने प्रा० भा० यू० अघोष महाप्राण तथा सघोष महाप्राण दोनों प्राण ध्वनियोंको सुरक्षित रक्खा है। इसी प्रकार ग्रीक तथा लैतिनमें शब्द रूपोंकी विभक्तियाँ भी कम हो गई हैं, जब कि संस्कृतने प्रा० भा० यू०की आठो विभक्तियोंको अक्षुण्ण बनाये रक्खा है। यही नहीं, वैदिक संस्कृतने प्रा० भा० यू० स्वर [Accent] को भी अधिकांश तक सुरक्षित रक्खा है। इन सब कारणोंसे प्रा० भा० यू० के अध्येता ही नहीं, अपितु भा० यू० परिवारकी किसी भी शाखाके प्राचीनतम रूपके अध्येताके लिए, चाहे वह ग्रीक हो, या लैतिक या गॉथिक या प्राचीन चर्चै स्लाविक या प्राचीन फारसी, संस्कृतकी आवश्यक प्रकृतिका ज्ञान नितान्त अपेक्षित है। भारतीय आर्य भाषाके विद्यार्थीके लिए तो संस्कृत मूल उत्सभूमि है, इस उद्गम स्रोतकी प्रकृतिको जाने बिना उसके लिए एक पैर भी आगे बढ़ना कठिन होगा। इतना ही नहीं, भाषाशास्त्रके सामान्य नियमोंके ज्ञानके लिए

भी मंस्कृतका घोडा-बहुत परिचय आवश्यक हो जाता है। १८वीं शतीके अन्तसे लेकर आजतक भाषाशास्त्रके विवासका इतिहास संस्कृतके अध्ययनसे अनुस्यूत रहा है तथा भाषाशास्त्रके इतिहासको समझनेके लिए मंस्कृतका ज्ञान आवश्यक हो जाता है। जब हम भाषाशास्त्र तथा संस्कृत भाषाके घनिष्ठ संबन्धकी बात करते हैं, तो हमारा अर्थ यह है कि भाषाशास्त्रको जन्म देनेमें प्रमुख हाथ संस्कृतका ही रहा है। एकमात्र संस्कृतके परिचयने ही यूरोपमें भाषा-विज्ञानको जन्म दिया यह कहना अतिशयोक्ति न होगा, चाहे ओस्तो येस्पर्मन इसे अतिशयोक्ति माने। फिर भी येस्पर्मन संस्कृतके महत्त्वका तथा भाषाविज्ञानमें उसकी प्रबल प्रेरणाका निषेध नहीं करते।

तो भाषाशास्त्रके जन्ममें नि सन्देह संस्कृतका प्रमुख हाथ रहा है। जब हम भाषाशास्त्रके जन्मकी बात करते हैं, तो हमारा तात्पर्य १९वीं शतीके आरंभमें यूरोपमें विकसित तुलनात्मक व्याकरण [Comparative Grammar, Philology] की प्रणालीसे है। जैसा कि यूरोपमें संस्कृतके परिचयके सम्बन्धमें विख्यात है, यूरोपीय विद्वानोंने इसे पाकर, जैसे भाषा सम्बन्धी पुराने यूरोपीय विचारोंमें एक आमूलचूल परिवर्तन कर दिया। पुराने यूरोपीय विद्वान् समस्त विश्वकी भाषाओंको [यूरोप तथा एशियाकी भाषाओंको] हिब्रूसे उत्पन्न मानते थे तथा कुछ विद्वानोंने हिब्रूको आधार मानकर यूरोपीय भाषाओंका अध्ययन भी उपस्थित किया था, जिसमें वे असफल ही हुए थे। जबसे यूरोपीय विद्वानोंके संस्कृतका पता लगा, तबसे वे इस ध्रान्त धारणाको छोड़कर भाषाशास्त्रकी वैज्ञानिक दिशाकी ओर बढ़ने लगे।

यूरोपीय जगत्को संस्कृतका परिचय देनेका श्रेय सर विलियम जान्सको है। वैसे सर जान्सके पूर्व भी कोदो [Coerdoux] नामक फ्रेंच पादरीने सन् १७६७में फ्रेंच इन्स्टिट्यूटके पास भारतसे एक लेख भेजा था, जिसमें



उसने संस्कृत तथा लैतिनकी समानताओंकी ओर ध्यान आकृष्ट किया था। उसने संस्कृत अस् धातुके वर्तमानके रूपोंको उदाहृत करते हुए लैतिनके रूपोंसे इनकी तुलना की थी। किन्तु कोर्दोको संस्कृतके परिचय देनेका प्रयत्न न मिल सका, उसका देख भी लगभग चालीस वर्ष बाद प्रकाशित हुआ तथा उससे पहले ही अनेक विद्वानोंने इस समानताकी ओर यूरोपीय जगत्का ध्यान आकृष्ट करा दिया था। सर जॉन्सने सन् १७९६ में संस्कृतके विषय-में जो शब्द कहे थे, वे आज भी तुलनात्मक भाषाशास्त्रके उदयके बीज माने जाते हैं—

“संस्कृत भाषाकी पदरचना अत्यधिक अद्भुत है चाहे उसका मूल उद्गम कुछ भी रहा हो। यह भाषा ग्रीकसे भी अधिक पूर्ण, लैतिनसे अधिक समृद्ध तथा दोनीसे अधिक परिष्कृत है, इतना होते हुए भी यह उन दोनोसे क्रियाओंके मूलरूपों [ धातुओं ] तथा व्याकरणके रूपोंकी दृष्टिसे घनिष्ठतया सम्बद्ध है। यह आकस्मिक नहीं हो सकता। यह सम्बन्ध इतना दृढ़ है कि कोई भी भाषाशास्त्री उन तीनोंका अध्ययन यह माने बिना नहीं करेगा कि वे सब किसी एक ही स्रोतसे उत्पन्न हुई हैं, जो अब नहीं पाया जाता। ऐसे ही कारणके आधारपर—यद्यपि यह कारण इतना दृढ़ नहीं है—यह भी कहा जा सकता है कि गॉथिक तथा केल्टिक भी, संस्कृतकी समान-स्रोत हैं, तथा प्राचीन फारसीको भी इसी परिवारसे जोड़ा जा सकता है।”

१९ वीं शतीके आरम्भमें भारत-यूरोपीय तुलनात्मक व्याकरणको अग्र-सार करनेवाली सर्वप्रथम पुस्तक श्लेगेलकी ‘उबेर दी एप्पाख उन्द बीशेन दर इन्देर’ [ भारतकी भाषा तथा ज्ञान-संपत्ति पर ] १८०८ में प्रकाशित हुई। इस पुस्तकके अन्तर्गत श्लेगेलका प्रमुख ध्येय संस्कृत साहित्यिक संपत्तिकी ओर संकेत करना था, किन्तु संस्कृत भाषापर भी उसने अपने विचार प्रकट किये हैं। यह दूसरी बात है कि कई भाषाशास्त्रीय अनुमानोंमें वह भ्रान्त दिशाका आश्रय लेता है, उदाहरणके लिए फारसी तथा जर्मनकी अत्यधिक घनिष्ठ माननेकी उसकी धारणा भ्रान्त है। संस्कृतको ही आधार बनाकर

श्लेगेलने समस्त विश्वकी भाषाओंको दो भागोंमें विभक्त किया था, [१] सस्वृतसे सम्बद्ध भाषाएँ तथा [२] अन्य भाषाएँ ।

श्लेगेलके बाद यद्यपि रास्क तथा ग्रिमने भारत-यूरोपीय परिवारकी यूरोपीय भाषाओंका तुलनात्मक अध्ययन किया, किन्तु सस्कृतकी परम्पराका उत्थान करनेवाला फ्रेंज वॉप था । उसने १८१६ में अपने महत्त्वपूर्ण निबन्ध “संस्कृत भाषाकी पदरचना तथा ग्रीक, लैतिन, फारसी और जर्मन भाषाकी पदरचनाके साथ उसकी तुलनापर” [ उबेर देस कोजुगाशान्ससिस्तेम देर सस्कृत एप्राख इन वग्लेखुंग मित येनेम देर ग्रीसिस्खेन, लेतिनिस्खेन, पेरि-शिस्खेन, उन्द जेर्मानिस्खेन एप्राख ] को प्रकाशित कराया, जो आज भी भारत-यूरोपीय पदरचनाशास्त्र [ Philology ] का दीपस्तम्भ माना जाता है ।

संस्कृतकी दृष्टिसे वॉपकी परम्पराको बढानेवाला श्लेखर था । प्राचीन भारत यूरोपीय भाषाके काल्पनिक रूपकी अवतारणा करनेका श्रेय श्लेखरको ही दिया जा सकता है । श्लेखरने तो इस भाषामें “एक भेड और घोड़ेकी कहानी” भी लिखी थी, जिससे एक वाक्य इस पुस्तकके सप्तम अध्यायमें उद्धृत किया गया है । काल्पनिक प्रा० भा० यू० के पुनर्निर्माण [ Reconstruction ]के अतिरिक्त श्लेखरका दूसरा महत्त्वपूर्ण कार्य पदरचनाकी दृष्टिसे भाषाओंका आकृतिमूलक वर्गीकरण है । श्लेखरने ही सर्वप्रथम तीन तरहकी भाषाएँ मानी हैं.—

- |                         |                             |
|-------------------------|-----------------------------|
| १. व्यासप्रधान भाषाएँ   | [ Isolating languages ]     |
| २. प्रत्ययप्रधान भाषाएँ | [ Agglutinating languages ] |
| ३. विभक्तिप्रधान भाषाएँ | [ Inflexional languages ]   |

श्लेखरके परवर्ती कालमें, जिसे नव्य वैयाकरणों [ न्यू ग्रैमेरियन्स ] का काल कहा जाता है, भारत-यूरोपीय तुलनात्मक व्याकरणका अत्यधिक अध्ययन होने लगा । ब्रुगमान, मैक्समूलर, ह्लिटनी, सोस्यूर आदि कई विद्वानोंने प्रा० भा० यू० के कई अपवादरूपोंको वैज्ञानिक मिद्ध किया ।

प्रा० भा० यू० के परवर्ती अध्येताओंमें ए मेये, वाकेरनागेल, ज्यूल ब्लॉख तथा स्टर्टवेंट प्रमुख हैं। मेयेने ही सर्वप्रथम यह धोपणा की कि प्रा० भा० यू० कल्पित रूपोंकी वस्तुतः किसी बोली जानेवाली प्राचीन भाषाका रूप मानना भ्रान्त है तथा वे केवल सूत्र ह्य है, जो ग्रीक, लैतिन, संस्कृत आदि भाषाओंके परस्पर सम्बन्धके संकेत या प्रतीक हैं। वाकेरनागेलने 'अल्लिन्डिस्के ग्रामतीक' नामसे संस्कृत भाषाका तुलनात्मक व्याकरण उपस्थित किया, जिसे कोई भी संस्कृत भाषाका अध्येता अपनी गवेषणा करते समय नहीं छोड़ सकता। प्रस्तुत, पुस्तिकाके लिखनेमें वाकेरनागेलका यह महार्घ ग्रन्थ सदा पथप्रदर्शक रहा है। इसके अतिरिक्त ज्यूल ब्लॉखकी "लैंदो आर्या" [ L' Indo Aryan ] भी संस्कृतके तुलनात्मक अध्ययनमें नया कदम है। वाकेरनागेलका ग्रन्थ जहाँ संस्कृतका तुलनात्मक अध्ययन उपस्थित करता है, वहाँ ब्लॉखका ग्रन्थ वैदिक संस्कृत तथा अवेस्तासे लेकर आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं तक बड़ा सुन्दर तथा महत्त्वपूर्ण परिचयात्मक अध्ययन है। इन तीनों ग्रन्थोंकी बीसवीं शतीके महत्त्वपूर्ण भाषाशास्त्रीय ग्रन्थ कहना अनुचित न होगा। भारतीय आर्य भाषाओंके अध्ययनके लिए डॉ० चाटुर्ज्याका विश्व प्रसिद्ध ग्रन्थ "बंगाली भाषाका उद्भव व विकास" एक दीपस्तम्भ है, जिसने अनेकों विद्वानोंको निश्चित दिशा प्रदान की है।

यहाँ हमारा लक्ष्य भाषाशास्त्रीय गवेषणाओंकी उद्धरणी देना न होकर भाषाशास्त्रके विकासमें संस्कृतके योगका संकेत भर करना था। संस्कृतके भाषाशास्त्रीय महत्त्वका सबसे बड़ा प्रमाण तो यही है कि यूरोपके विद्वद्विद्यालयोंमें भाषाशास्त्रीय अध्ययनमें प्रवृत्त गवेषकोंके लिए कमसे-कम संस्कृतका सामान्य परिचय तो आवश्यक हो ही जाता है। इस पुस्तकमें संस्कृतके सामान्य परिचयको ही लक्ष्य बनाया गया है। संस्कृत भाषाका सर्वांगीण [ भाषा-शास्त्रीय ] अध्ययन तो इतनेसे क्षेत्रमें सम्भव नहीं।

## संस्कृत भाषा-उत्पत्ति [ आदिम भारतयूरोपीय ]

संस्कृत भाषा भारत-यूरोपीय अथवा भारत-जर्मनीय परिवारकी प्रमुख भाषाओंमें है। इस परिवारको आर्य-परिवारके नामसे भी अभिहित किया जाता है। किन्तु यह नाम प्रायः समस्त परिवारके लिए प्रयुक्त न किया जाकर, इस परिवारकी एक विशेष शाखा, भारतेरानी [हिन्द ईरानी], के लिए प्रयुक्त होता है। यह परिवार आठ या अधिक [दस] शाखाओंमें विभाजित है। इनमेंसे प्रत्येक शाखा पुनः उपशाखाओंमें विभाजित है, यह हम आमुखके अन्तर्गत देख चुके हैं। ये शाखाएँ हैं—[१] भारतेरानी शाखा, जिसके अन्तर्गत वैदिक संस्कृत, लौकिक संस्कृत तथा इससे उद्भूत हिन्दी, बंगाली, गुजराती, मराठी आदि आर्य भारतीय भाषाएँ तथा प्राचीन ईरानी भाषा, जिसका रूप हमें पारसियोंकी धर्मपुस्तक अवेस्तामें मिलता है तथा उससे उत्पन्न नव्य फारसी, पर्सी आदि हैं, [२] बाल्टो-स्लाविक शाखा, जिसके अन्तर्गत प्राचीन रूसी, पोलिश, बोहेमियन, लियुआनियन आदि भाषाएँ हैं, [३] आर्मेनियन शाखा, [४] अल्बेनियन शाखा, [५] ग्रीक शाखा, इसके अन्तर्गत प्राचीन यूनानकी प्रसिद्ध साहित्यिक भाषा ग्रीक तथा उससे उत्पन्न आजकी ग्रीक है, [६] इटैलियन शाखा, जिसमें प्राचीन ओस्कन तथा उम्ब्रियन भाषाएँ, लैटिन तथा आजकी रोमन भाषाएँ—फ्रेंच, इटैलियन, स्पेनिश आदि हैं, [७] केल्टिक शाखा, जिसका प्रचार एक समय सारे पारचात्य यूरोपमें था, किन्तु आज इससे उद्भूत आयरिश

१. आर्मेनियन तथा अल्बेनियन दो भिन्न शाखाएँ हैं, जो एशिया-माइनरमें पाई जाती हैं।

तथा चैलशके बोलनेवाले बहुत थोड़े हैं; [C] जर्मनीय शाखा, जिसमें अंगरेजी, डच, जर्मन, स्केण्डिनेवियन आदि भाषाएँ हैं। अन्वेषकोंने कुछ ऐसी भी भारतयूरोपीय भाषाओंका पता लगामा है, जो एक समय बोली जाती थी, किन्तु आज सर्वथा लुप्त हो गई हैं। इन भाषाओंमें कुछ ऐसी निजी विशेषताएँ हैं, जिनके कारण इन्हें भिन्न शाखाएँ स्वीकार किया गया है। ये तोखारी तथा हिताइन वर्ग हैं, जिन्हें हम भारतयूरोपीय परिवारकी नवी तथा दसवी शाखा मान सकते हैं।

इन समस्त शाखाओंमें कुछ ऐसी निकट समानताएँ हैं, जिनके कारण इन्हें एक परिवारमें सम्मिलित किया गया है। उदाहरणके लिए संस्कृत 'पितृ' [ पितर् ] शब्दको ले लीजिए। यह शब्द ग्रीक शब्द 'पतेर' [ pater ], लैटिन 'पतेर' [ pater ], जर्मन 'फाटर' [ vater ] तथा अंगरेजी 'फादर' [ father ] से मिलता है। इन सभी शब्दोंमें एक-सी पदान्ता पाई जाती है। ग्रीक तथा लैटिनमें तो व्यञ्जन ध्वनियाँ भी संस्कृतके समान ही हैं। जर्मन तथा अंगरेजीमें व्यञ्जन ध्वनियाँ परिवर्तित हो गई हैं, किन्तु ये परिवर्तन ध्वनि-नियमोंके आधारपर हुए हैं। संस्कृतकी अधोप अल्पप्राण ध्वनि, अंगरेजीमें महाप्राण तथा जर्मनीमें सधोप अल्पप्राण पाई जाती है। यद्यपि ये भाषाएँ अपनी-अपनी निजी विशेषताओंमें युक्त हैं, फिर भी इन सब समानान्तर रूपोंमें हम एक समान सूत्रकी कल्पना कर सकते हैं, जिसे हम " \*पूअतेर " [ \*pater ] रूप देते हैं। यह तुलनात्मक रूप भारत-यूरोपीय परिवारकी आदिम भाषा [ Ursprach ] का माना गया है। आदिम भारत-यूरोपीय जैसी भाषा थी भी या नहीं, इसपर हम आगे

१. फ्रांसके ब्रितेनी प्रदेशकी ब्रेतन [ Breton ] भी इसी शाखाकी भाषा है।

२. भाषाशास्त्रमें यह नियम "ग्रिमके नियम" [ Grimm's Law ] के नामसे प्रसिद्ध है।

प्रकाश डालेंगे। संस्कृतसे एक दूसरे और उदाहरणको ले लीजिए। संस्कृत 'भरामि' के समानान्तर ग्रीक 'फेरो' [phero], लैटिन 'फेरो' [fero], अंगरेजी 'बीयर' [bear], प्राचीन चर्च स्लावोनिक 'बेरन' [beran] को देखिए। इन सभीका अर्थ "मे ले जाता हूँ" है। इन सभीमें हम समान सूत्र \*भेर्- [ \*bher- ] की कल्पना कर सकते हैं। विश्वके अन्य भाषा परिवारोंमें यह समानता नहीं मिलती।

इस परिवारकी भाषाओंका विशेष अध्ययन करनेपर ज्ञात होता है कि इनमें व्याकरणात्मक सम्बन्धोंको विभक्तियोंके द्वारा व्यक्त किया जाता है। एक पदमें प्रायः तीन तत्त्व होते हैं, मूल रूप [ शब्द या धातु ], प्रत्यय तथा विभक्तिचिह्न। उदाहरणके लिए संस्कृत पद "गच्छता" को हम क्रमशः "गम्" [ \*गच्छ् ], "शतृड्" [ शतृ < \*श्रन्त ] तथा "टा" [ आ ] में विभक्त कर सकते हैं। इसी तरह संस्कृतके "दातरि" तथा ग्रीक "दोत्रि" [ dotri ] में क्रमशः "दा", "तर्" [ तृ ] तथा "इ" [ डि ] एव 'दो' [ do ] "तोर" [ tor ], तथा 'इ' [ i ] इन तीन तत्त्वोंका मान सकते हैं। तुर्की तथा द्रविड-परिवारकी प्रत्यय प्रधान भाषाओंकी भाँति यहाँ इन तीन तत्त्वोंमेंसे किसी भी तत्त्वको अलग नहीं किया जा सकता। प्रत्ययप्रधान भाषाओंमें प्रत्यय अपना निश्चित रूप तथा अर्थ रखते हैं, किन्तु यह बात भारत-यूरोपीय भाषाओंके विषयमें नहीं। यद्यपि क्रियासे बने नाम-शब्दोंमें [ वृद्धन्त ] प्रत्यय किसी विशेष भावका बोध अवश्य कराते हैं, जैसे ऊपरका "तर्" [ तोर् ] प्रत्यय, तथापि यहाँ भी वह "दातर्" [ दातृ ] या ग्रीक "दोतोर" या अविभाज्य अग ही है। नव्य युरोपीय भाषाओंमें, अधिकतर भाषाओंमें, ये विभक्तियाँ न्यून होती गई हैं। संस्कृतमें जहाँ आठ विभक्तियाँ हैं, वहाँ हिन्दी व नव्य भारतीय भाषाओंमें दो ही विभक्तियाँ हैं, जिन्हें क्रमशः अविचारी तथा विचारी कह सकते हैं। ठीक यही बात क्रियाओंके विषयमें कही जा सकती है। संस्कृतके दस [ अथवा ग्यारह, यदि लेट्को भी माना जाय तो ] स्वर आज ननु-

चित्त होकर किसी भाषामें तीन तथा किसीमें चार रह गये हैं। ठीक यही बात यूरोपमें ग्रीक तथा लैटिनकी छ विभक्तियोंके विषयमें कही जा सकती है, जो फ्रेंच, अंगरेजी आदिमें केवल एक ही विभक्तिने रूपमें देखी जाती है।

उपर्युक्त इन सभी शाखाओंमें व्याकरणार्थक सबध विभक्तिवासे व्यक्त किये जाते थे, जिनके रूप प्रायः एक से होते थे। आदिम भारतीय भाषामें आठ विभक्तियाँ थीं। इनमेंसे कई भाषावर्गोंमें अधिकतर छ ही विभक्तियाँ पाई जाती हैं। इन भाषाओंके विभक्तिरूपोंकी समानताके लिए 'वृक' शब्दके द्वितीया बहुवचनको ले लीजिए। स० 'वृकान्', ग्रीक 'लुकोडस' [प्राचीनरूप -लुकोन्स] [lukous→luk-ons] गोथिक 'वुल्फोन्स' [wulf-ons], लैटिन 'लुपोस' [lup-os], ये सब समान सूत्र '\*वल्कू' [\*wlk-] की ओर संकेत करेंगे, जिसमें द्वितीया बहुवचनका विभक्ति

चिह्न '\*ओन्स' [-\*ons] लगा हुआ है। पूरा प्राचीन रूप \*वल्कोन्स [\*wlk-ons] होगा। इस समस्त परिवारकी भाषाओंमें "अकारान्त", "अकारान्त", अन्य स्वरान्त तथा व्यञ्जनान्त [ह्रस्वन्त] शब्द पाये जाते हैं। इन भाषाओंके तिङन्त [क्रिया] रूप भी इसी प्रकार समानान्तर हैं। क्रियाओंके सबधमें इस परिवारमें एक ऐसी विशेषता है, जो अन्य भाषा परिवारोंमें नहीं। यह विशेषता संस्कृत तथा ग्रीक दोनोंमें स्पष्ट है। कई गणान्त तथा प्रायः परोक्षभूते लिट्में, हम देखते हैं, कि धातुमें द्वित्व हो जाता है। संस्कृत √धा दधाति, दधौ, संस्कृत √मन् मन्नाते, √दा-ददौ। इन्हीं के समानान्तर ग्रीकरूप 'तैथेटाइ' [tethetai],<sup>१</sup> ममोन [memona], 'ददोतइ' [dedotas] को देखिए।

१. मिलाइए, अंगरेजी 'वुल्फ' [wolf] २. ग्रीकमें सघोष महाप्राण ध्वनियाँ नहीं हैं। संस्कृतकी सघोष महाप्राण ध्वनि वहाँ अघोष महाप्राण हो जाती है।

भारत-यूरोपीय परिवारकी दूसरी प्रमुख विशेषता "अपश्रुति" है, जो अधिकतर जर्मन पारिभाषिक शब्दा "अब्लाउट" [ Ablaut ] के रूपमें प्रसिद्ध है। एक ही मूल रूप, कई भाषाओंमें कभी एक स्वरसे युक्त तथा कभी दूसरे स्वरसे युक्त पाया जाता है। इस प्रकारकी अपश्रुतिको "गुणात्मक अपश्रुति" कहते हैं। कभी-कभी मूल रूप विभिन्न मात्रावाले [ दून्य, ह्रस्व तथा दीर्घ रूप ] एक ही स्वरसे युक्त रूपमें पाया जाता है, जिसे "मात्रिक अपश्रुति" कहा जाता है। जैसा कि हम आगे बतायेंगे, संस्कृतमें गुणात्मक अपश्रुति नहीं पाई जाती। संस्कृतसे मात्रिक अपश्रुतिके ये उदाहरण दिये जा सकते हैं—भार, भरामि, भृति; अश्रीपीत्, श्रोता [श्रोतु], श्रुतम् जिनमें एक ही स्वरका क्रमशः दीर्घ, साधारण [ह्रस्व] तथा शून्य रूप पाया जाता है। इन्हींको संस्कृत व्याकरणकी परिभाषामें वृद्धिरूप, गुणरूप तथा मूल रूप कह सकते हैं। जैसा कि हम आगे बतायेंगे संस्कृत व्याकरणका गुणरूप ही तुलनात्मक भाषाशास्त्रीका मूल स्वर है तथा उनका मूल रूप तुलनात्मक भाषाशास्त्रीका शून्य रूप [ स्वराभावरूप ] है। और अधिक स्पष्टीकरणके लिए हम यह कह सकते हैं कि प्रथम त्रिवर्गके उदाहरणोंमें मूल रूप "भर्" [ \*भर् ] है, जिसमें संस्कृत स्वर "अ" [अ०भा०पू०\*अ] है। यही 'अ' दीर्घ रूपमें 'भार.' में पाया जाता है, 'भृति' में यह 'अ' लुप्त हो गया है, अर्थात् इस स्वरका शून्य रूप [ zero-vowel ] वहाँ पाया जाता है।

इन भाषाओंकी इस प्रकारकी समानताएँ इस परिणामकी ओर ले जाती हैं कि ये भाषाएँ किसी एक ही प्राचीन भाषासे उत्पन्न हुई हैं। यद्यपि इस प्रकारकी कोई भी भाषा विद्यमान नहीं, जिसे इन सब भारोपीय भाषाओंकी जननी कहा जा सके तथापि भारोपीय परिवारकी विद्यमान विभिन्न प्राचीन भाषाओंमें पारस्परिक सम्बन्धके आधारपर इन भाषाकी कल्पना की गई है। कल्पित रूप होनेके कारण इस भाषाके घटकोंको तारकचिह्नित [ Star-formed ] रूपमें लिखा जाता है। इस आदिम भाषाके कल्पित रूपके कई विद्वानोंमें यह धारणा उत्पन्न कर दी थी कि ऐसी



भाषा अवश्य रही होगी, जो ग्रीक, लैटिन, वैदिक संस्कृत आदिकी जननी थी, किन्तु इस भाषाकी वास्तविक सत्ता मानना निश्चिन्त नहीं। यही कारण है कि कई विद्वान् तो आदिम भारोपीय भाषाके अस्तित्वपर जोर देनेवाले पुराने खेवके जर्मन भाषाशास्त्रियोंको, जो अभिनव वैद्याकरण [ Neo-grammarians ] के नामसे भी प्रसिद्ध हैं, शुद्ध भाषानास्त्री न मानकर केवल "तुलनात्मक पदरचनाविद्" मानते हैं। फिर भी एक दृष्टिसे इन कल्पित रूपोंका महत्त्व तुलनात्मक भाषाशास्त्रमें अवश्य है। ये रूप एक प्रकारसे सूत्ररूप [ Formulae ] हैं, जो विभिन्न सम्बद्ध भाषाओंके समान रूपोंका संकेत करते हैं, चाहे वे सब रूप इसी मूल रूपसे उद्भूत न हुए हों। ग्रीक तथा संस्कृतमें पाई जानेवाली विशेषताएँ इनमें आरम्भसे ही हैं। यदि दोनों भाषाभाषी जातियोंका उद्भव एक ही स्थानपर मान भी लिया जाय, तो ये दो विभाषाएँ थी, जिनमें अपनी-अपनी निजी विशेषताएँ पाई जाती थी। प्रसिद्ध फ्रेंच भाषाशास्त्री मेये [ Meillet ] ने इसीलिए इन तारकचिह्नित भारतयूरोपीय रूपोंको मूल रूप माना है। कुछ विद्वानोंके मतानुसार आदिम भारतयूरोपीय रूप भाषाओंके विकासमें वादकी सीढ़ी है। स्टर्टेवन्टके मतानुसार वोगाजकुईके लेखोंमें अन्विष्ट हिताइत भाषा आदिम भारतयूरोपीयकी पुत्री न होकर भगिनी है, और इस प्रकार वह प्राचीन भारत-हिताइत भाषाकी बन्धना करता है, जो काल्पनिक भारोपीय तथा हिताइत दोनोंकी जननी रही होगी।<sup>१</sup>

प्रसिद्ध रूसी भाषाशास्त्री मारके मतानुसार भारत-यूरोपीय परिवार अलगसे परिवार न होकर कान्फेनियन भाषाओंसे सम्बद्ध है। इनके तुलनात्मक आधारपर उसने अपनी अलगसे मिडान्तमरणि स्थापित की थी। यह काल्पनिक भाषा-परिवार "जफेनिक" के नामसे प्रसिद्ध है। मारके मतानुसार

१. देखिए Sturtevant : Indo-Hittite Laryngeals Ch. I. साथ ही Sturtevant : Indo-Hittite. ['Langue' 1926. Vol. II. P. 30.]

जफ़ेतिक परिवारकी भाषाएँ यूरोपके पिरैनीज़ पहाड़ोसे लेकर मध्य एशियामें पाभीरतक बोली जाती थी । उसने सारी आर्य तथा काकेशियन भाषाओंको एक चतुःसूत्री जफ़ेतिक भाषाकी दोतलमे भरनेकी चेष्टा की है । उसके ये चार सूत्र हैं —सल् [Sal], बेर् [Ber], योन [Yon] तथा रोस् [Ros] । पर मारकी सरणि द्रुष्टिपूर्ण मिड हो चुकी है । स्वयं उसके शिष्य ही उसकी द्रुष्टियोंको स्वीकार करने लग गये हैं ।

इन भाषाओंकी समानता देखकर अनुमान होता है कि आरम्भमें इनके बोलनेवाले एक ही स्थानपर रहते होंगे । यद्यपि उस समय विभिन्न वर्गोंकी विभाषाओंमें परस्पर कुछ ध्वन्यात्मक विभेद रहा होगा, तथापि वे विभाषाएँ प्रायः एक-ही थीं । ये आदिम भारोपीय भाषाका व्यवहार करनेवाले लोग, जिन्हे भाषा-शास्त्रियोंने 'बीरोस्' [w.iros] नाम दिया है, आरम्भमें वहाँ रहते थे, इस विषयमें विद्वानोंमें बड़ा मतभेद है । स्व० बाल गगाधर तिलकके मतानुसार ये उत्तरी ध्रुवसे मध्यएशियामें आये थे । मध्यएशियासे ही यह आर्य-जाति दो प्रमुख वर्गोंमें विभाजित हो गई थी । एक वर्ग यूरोपकी ओर चल पड़ा, एक ईरान और भारतकी ओर । मैक्समूलर आदि विद्वान् मध्यएशियाको ही आर्योंकी आदिम जन्म-भू-समझते हैं । थोएदरके मतानुसार आर्योंकी आदिम जन्मभूमि वोल्गा नदीके आस-पास थी । वहीसे इनके विभिन्न वर्ग विभिन्न दिशाकी ओर चल पड़े । इन वर्गोंके पृथक् होनेके पूर्व ही आर्यजाति सम्यताकी दृष्टिसे विकसित हो चुकी थी । पशुचारण तथा वृषि इनका मुख्य व्यापार था । ये लोग ग्राम बसाकर रहना सीख गये थे, किन्तु ये ग्राम फिर भी स्थिर न होकर यायावर थे । भेड़, घोड़ा, कुत्ता, गाय जैसे पालतू जानवर तथा रीछ एक भेड़िये जैसे जगली पशुओंसे

१. देखिए न्यूयाकसे प्रकाशित Soviet Controversy in Linguistics नामक पुस्तक । साथ ही W. K. Matthews का विस्तृत लेख Soviet Contribution to Linguistics [Archivum Linguisticum vol 2. P. III, PP 1-23, 97-121.]

ये लोग परिचित थे, क्योंकि इनके लिए इस परिवारकी प्रायः सभी भाषाओंमेंसे एकसे शब्द पाये जाते हैं। यथा,

१. सं० अविः—ग्रीक ओउइस् [ ouis ], रूसी ओउका कोरोना [ ouka Korona ] प्रा० भा० यू० \*ओविस् [ \*owis ]

२. सं० अश्वः—ग्रीक हेप्पोस् [ heppos ], लियुआनियन अश्व, [ as'va ] प्रा० भा० यू० \*एश्वोस् [ \*ek'os. ]

३. सं० इवा (श्वन्)—ग्रीक कुओन् [ kuon ], लियु० शुओ [ s'uo ] प्रा० भा० यू० \*कुनोस् [ \*kunos ]।

४. सं० गो—ग्रीक बोउस् [ bous ], लै० बोस [ bos ], फ्रेंच बौफ [ boeuf ], रूसी गोव्यादिना [ govyadina ], प्रा० भा० यू० \*गोवोस् [ \*g'ous ]

इन शब्दोंके अतिरिक्त कई अन्य वस्तुएँ भी समान नामसे अभिहित की जाती हैं, जैसे धूम, शहद [ मधु ], रधिर, मास आदि। माता, पिता, भ्राता, भगिनी, दुहिता, देवर, जामाता, पति, श्वमुर, श्वभू आदिके नाम भी इनमेंसे कई भाषाओंमें समान हैं। जैसा कि हम आगे देखेंगे, विभिन्न क्रियाओं तथा उपसर्गोंके रूप भी एक ही प्रकारके पाये जाते हैं।

भारत यूरोपीय भाषाओंका अध्ययन करनेपर ऐसा पता चलता है कि ये भाषाएँ दो वर्गोंमें बाँटी जा सकती हैं, जो भिन्न-भिन्न आयुओंकी विभाषाएँ रही होंगी। इसके पूर्व कि हम इन दो वर्गोंको लें, हमें यह देखना है कि तुलनात्मक भाषाशास्त्रके आधारपर आदिम भारत यूरोपीय भाषाका वाल्पनिक रूप कैसा माना जाता है।

१. भाषाशास्त्रियोंके मतानुसार \*गोवोस् शुद्ध भा० यू० न होकर सुमेरी [ अनाय ] भाषाके "गू" शब्दसे लिया गया है, जिसका अर्थ गाय है।

किसी भी भाषाके अध्ययनको तीन अंगोंमें विभाजित किया जा सकता है, प्रथम उसकी ध्वनियोका अध्ययन, दूसरे उसकी पदरचनाका, तीसरे वाक्य-रचनाका । इसके अतिरिक्त एक चौथा भाषाशास्त्रीय तत्त्व और है जिसके अन्तर्गत भाषाके शब्द-रूप तथा अर्थ-प्रक्रियापर विचार किया जाता है, जो 'अर्थ-विज्ञान' कहलाता है । आदिम भारतयूरोपीय भाषाकी वाक्यरचनाके बारेमें कुछ कहा नहीं जा सकता । शब्दकोषका विचार हम कल्पित रूपोंके अन्तर्गत कर ही लेते हैं ।

**आदिम भारत यूरोपीय ध्वनियाँ:**—भारत यूरोपीय परिवारकी विभिन्न शाखाओंके अध्ययनसे भाषाशास्त्रियोंने कल्पना की है कि आदिम भा० यू० भाषामें शुद्ध स्वर सात थे—अ, आ, ऐ, ए, औ, ओ, तथा 'अ' [ə] । अ, ऐ तथा औ ह्रस्व स्वर थे, एव अ एक प्रकारका दुर्बल स्वर था । आ, ए, ओ क्रमशः ह्रस्व अ, ऐ, औ के दीर्घ रूप थे । जैसा कि हम आगे देखेंगे संस्कृतमें भा० यू० स्वर संकुचित हो गये हैं । प्रथम ये स्वर इसी रूपमें पाये जाते हैं, हाँ दुर्बल स्वर वहाँ नहीं पाया जाता । प्रथम ह्रस्व अ, ऐ, औ तथा दीर्घ आ, ए, ओ दोनों प्रकारके वर्गके सम्पूर्ण छ स्वर हैं किन्तु संस्कृतमें आकर अ तथा उसका दीर्घ रूप आ ही शुद्ध भारोपीय स्वरके रूपमें हैं । संस्कृतमें आकर आदिम भा० यू० ह्रस्व ऐ, औ ने अ का रूप तथा दीर्घ ए, ओ, ने आ का रूप धारण कर लिया है । उदाहरणके लिए देखिए—

- संस्कृत भ्रामि, ग्रीक फ़ेरो [ phero ] प्रा० भा० यू० \*भर् [ \*bher ]  
 सं० अष्ट, ग्रीक ओक्ता [ octo ] प्रा० भा० यू० \*ओक्ता [ \*octo ]  
 सं० अधात्, ग्रीक ऐथेक [ etheke ] प्रा० भा० यू० \*ऐ-धे [ \*e-dhe ]  
 सं० ज्ञात, ग्रीक ग्नोताम् [ gnōtos ] प्रा० भा० यू० गतात् [ \*gn-tos ]

संस्कृत ए, औ तथा ऐ, औ शुद्ध भारोपीय स्वर न होकर ध्वनियुग्मसे जनित हैं, इन्हे हम आगे बतायेंगे । दुर्बल स्वर अ [ ə ],—जिसे 'इवा'

[ Schwa ] कहा जाता है—की कल्पना इसलिए आ० भा० यू० में की गई है कि जहाँ ग्रीक तथा अन्य भारतीय भाषाओंमें अ स्वर पाया जाता है, वहाँ कई समानान्तर शब्दोंमें भारतेरानी शाब्दोंमें इ हो जाता है। यदि आ० भा० यू०में अ ही माना जाय, तो भारतेरानी शाब्दोंमें अ अवश्य होना चाहिए था। उदाहरणके लिए ग्रीक शब्द "पतेर" [ pater ] का समान्तर संस्कृत शब्द पितृ [ पितर् ] है, यह हम देख चुके हैं। यदि मूल भा० यू० भाषामें अ स्वर होता, तो संस्कृतमें अ०पतृ [ पतर् ] रूप होना चाहिए था, वह नहीं पाया जाता। अतः स्पष्ट है कि इस शब्दमें मूल भा० यू० स्वर अ [ a ] नहीं था। इसीलिए उसे अ [ ə ] माना गया है। इस शब्दका भा० यू० मूलरूप अ०पतेर [ pater ] रहा होगा।

इन शुद्ध स्वरोंके अतिरिक्त उस भाषामें छ अन्त स्थोकी कल्पना की गई है। अन्त स्थ वे ध्वनियाँ हैं, जो वस्तुतः व्यञ्जन होते हुए भी कभी-कभी स्वरका भी काम करती हैं। हम देखते हैं कि स्वर अक्षर [ सिलेबिल ] की सघटनामें प्रमुख कार्य करते हैं। इन्हें व्यञ्जनकी आवश्यकता नहीं होती, किन्तु इनकी सहायताके बिना व्यञ्जनका उच्चारण स्वतन्त्र अक्षरके रूपमें नहीं किया जा सकता। अन्त स्थ व अपवादपूर्ण व्यञ्जन हैं, जो कभी-कभी अक्षर सघटना [ Syllabic function ] में स्वरका कार्य करते हैं। आदिम भा० यू० भाषामें य, व, र, ल, न, म ये छ अन्त स्थ माने गये हैं। इन्हींका अक्षर सघटनाकारी स्वर रूप इ, उ, ऋ, लृ, [ अ- ] नृ, [ अ- ] मृ पाया जाता है। मात्राकी दृष्टिसे इनके रूप ह्रस्व, दीर्घ तथा शून्य तीनों प्रकारके पाये जाते हैं। व्यञ्जन रूप तथा स्वर रूपके अतिरिक्त ये अन्त स्थ एक ऐसा भी रूप रखते थे जो स्वर तथा समान व्यञ्जनका युग्म था, इसे हम इम्, उम्, ऋर्, लृर्, [ अ- ] नृर्, [ अ- ] मृर् मानते हैं। ये अन्त स्थ शुद्ध स्वरोंके साथ युक्त होकर आ० भा० यू० ध्वनियुग्मोंके रूपमें भी पाये जाते थे, यथा अय्, ऐय्, औय्, आय्, एय्, औय् आदि। इसी तरह व्, र्, लृ, न, म् वाले रूप भी पाये जाते होंगे। ह्रस्व मूल स्वरवाले ध्वनियुग्म संस्कृतमें

आवर ए, ओ तथा दीर्घ मूल स्वरवाले ध्वनियुग्म ऐ, औ हो गये हैं। उदाहरणों के लिए देखिए —

स० वेद, ग्री० [वो] आइद [ (v) aida ], गॉ० वइत, जर्मन वेदात  
प्रा०भा०यू० \*वोय्द [ \*Woyda ]

म० रोचते, ग्री० लैडकोस [ leukos ], प्रा०भा०यू० लैक् [ \*lewk etay ]

स० अरंक्षम्, ग्री० ऐलेइप्स [ eilepsa ], प्रा०भा०यू० \*लेय्व [ \*lejk "sm ]

स० द्यौ ०, ग्रीक जैउस् [ प्राचीन रूप, जैउस् ] [ zeus < zues ]

अंगरेजी ट्यूस [ Tues, Tues-day ] प्रा०भा०यू० \*ट्येव्स [ \*byew-s ]

म० नौ, ग्रीक नाउस् [ naus ], लैटिन नाविस् [ navis ], अंगरेजी

नेवी [ navy ], प्रा०भा०यू० \*नाव्स [ \*nav-s ],

व्यञ्जनोक्ती दृष्टिसे सबसे बड़ी विशेषता, जिसकी कल्पना आ०भा०यू० में की गई है, तीन प्रकारकी वर्ग ध्वनियोंका अस्तित्व है। यह तो सभी विभाषाओंमें देखा जाता है कि परवर्ती स्वरसे युक्त कण्ठ्य [कोमल-तालु जन्य velar] ध्वनि प्रायः उस स्वरसे प्रभावित हो जाती है। उदाहरणों के लिए 'क' अक्षरकी 'क्' ध्वनि कि तथा कु अक्षरकी क् ध्वनिसे कुछ भिन्न-सी है। 'इ' के योगसे वह कुछ तालव्य-सी तथा उ के योगसे कुछ कण्ठोष्ठ्य-सी पाई जाती है। इनका उच्चारण करते समय जिह्वा तत्तत् दशमं अन्तर्मुखके तत्तत् भागका स्पर्श करती है। 'क-वर्गकी

१. शुद्ध ध्वनिशास्त्री दृष्टिसे 'क' वर्गकी कण्ठ्य मानना ठीक नहीं, इसके उच्चारणमें जीभका स्पर्श कोमलतालुसे होता है; अतः इसे कोमल-तालुजन्य कहना ब्रह्मानुचित है। पर कण्ठ्य चल पड़नेके कारण हमने दोनों-का प्रयोग किया है।

शुद्ध, तालव्य तथा कण्ठोष्ठ्य ध्वनियोको हम क् [k] क्य् [k̄] क्व् [kʷ] से व्युत्पन्न कर सकते हैं। सुविधाकी दृष्टिसे हम इस क्रमको न लेकर क्य्, क्व्, क्य् क्रमको लेंगे। जब हम आ० भा० यू०के अन्तर्गत तीन वर्गोंको मानते हैं, तो हमारा तात्पर्य यह है कि किसी वर्गके साथ किसी भी स्वरका उच्चारण वहाँ पाया जा सकता था। तालव्य 'क्य्' पश्चस्वर [उ, ओ ' ] से युक्त तथा कण्ठोष्ठ्य 'क्व्' अग्रस्वर [इ, ए ' ] से युक्त भी पाया जा सकता था। यद्यपि भा० यू० परिवारकी किसी भी भाषामे ये तीन प्रकारकी क्वर्ग ध्वनियाँ नहीं पाई जाती, तथापि इस परिवारकी भाषाओ-मे दो वर्गोंकी स्थितिके कारण यह कल्पना की गई है। शुद्ध कण्ठ्य ध्वनियाँ जहाँ एक वर्गमे तालव्योमे समाहित हो गई हैं, वहाँ दूसरे वर्गमे कण्ठोष्ठ्यमे। भा० यू० तालव्य ध्वनियाँ [क्य् आदि] इन दोनों वर्गोंमें भिन्न रूपसे विकसित हुई हैं। एक वर्गमे ये कण्ठ्य रही हैं, किन्तु द्वितीय वर्गमें ये ऊर्ध्व वन्त गई हैं। उदाहरणके लिए आ० भा० यू० क्व्यम्तोम् [k̄ntom] एक वर्गके अन्तर्गत शोक, [हे] क्तोत् [he-kton], सेंटिन, केन्तुम् [centum], तोखारी, कत [kant] के रूपमे विकसित हुआ है, जब कि दूसरे वर्गमें सस्कृत, शतम्, श्वेस्ता, सत्तम् [satom], प्रा० चर्च स्लावोनिक, सूतो [suto], हसी, स्तो [sto] के रूपमें। इसी आधारपर प्रथम वर्गको हम केन्तुम् वर्ग तथा द्वितीयको शतम् [सत्तम्] वर्ग कहते हैं। यह नाम "सौ" के लिए विभिन्न भाषाओंमे प्रयुक्त शब्दोंके आधारपर बनाया गया है। जहाँ तक शुद्ध कोमलतालुजन्य [कण्ठ्य] ध्वनियोका प्रश्न है, जब तक उसका प्रतिरूप शब्द दोनों वर्गोंमे नहीं मिल जाता है, हम उस शब्दका आ० भा० यू० रूप क्या था इसकी कल्पना नहीं कर सकते। उदाहरणके लिए मस्कृत 'कृष्ण' का समानान्तर 'सत्' वर्गकी प्रा० चर्च स्लावोनिकमे श्रितु [s̄ritu] रूप मिलता है, किन्तु केन्तुम् वर्गका कोई समानान्तर रूप न मिलनेसे हम नहीं बताना सकते कि 'कृष्ण' शब्द मूल भा० यू० है या नहीं, साथ ही इसकी पदादिध्वनि, यदि मूल

भा० यू० है, तो शुद्ध कण्ठ्य थी या कण्ठोष्ठ्य । यदि दोनों भाषाओंमें समानान्तर शब्द मिल जाते हैं तथा यह दोनों वर्गोंमें 'क' ही है, तो हम बता सकते हैं कि इगना मूल रूप शुद्ध कण्ठ्य रहा होगा । उदाहरणके लिए स० क्वि [ क्वित् ], ग्रीक, क्रेसत् [ kreas ], सं० कृमोर् [ krumor ] के आपागपर हम \*क्रेव्भत् [ \*krewa-s ] की कल्पना कर सकते हैं । जैसा कि हम आगे देखेंगे, संस्कृतमें आ० आ० यू० शुद्ध 'क' तथा कण्ठोष्ठ्य 'क्' दोनोंका विकास क्त-गा रहा है । ये दोनों ही ए, ऐ, इ, ई, य् [स, श, षा, ष, ई, य] के पूर्व 'व' तथा क्त, क्त्वा, क्त्वा [सं. क्त, क्त्वा] के पूर्व 'क' रूपमें विरगित हुए हैं । गन्तु वर्गमें शुद्ध कण्ठ्य 'क' ही रहा है तथा आ० भा० यू० कण्ठोष्ठ्य संनिन तथा जर्मन शाब्दामें 'वर' ही बना रहा है, जो ओटोवो गोलाकार धनापर उच्चरित किया जाता है । अंगरेजीकी 'क्वीन' [ Queen, ] क्विक [ Quick ] आदिमें यही 'क्व' ध्वनि है, पर वहाँ यह सदा 'उ' स्वरके साथ पाई जाती है । लैतिन तथा जर्मन समानान्तर शब्दोंकी संस्कृत आदि मूल वर्तकी भाषाओंके शब्दोंमें तुलना करनेपर हम आ० भा० यू० ध्वनिकी प्रकृति बना सकते हैं । ग्रीकमें यह कण्ठोष्ठ्य 'क' अप्रस्वरके पूर्व 'त्त' तथा पञ्च स्वरके पूर्व 'प्' हो गया है । उदाहरणके लिए—

स० क, क्व, चित्, ग्रीक, तो-थेन [ स. क्तमात् ] [ tothen ], ग्रीक, तित् [ tis ], सं० क्वो, क्वि [ quo, qui ], अंगरेजी, हू [ who ] व्हाट [ what ] → प्रा० भा० यू० \*क्वो-, \*क्वि-[ \*kwo-, \*kwi ] । ध्यान दीजिए संस्कृतका 'क' अंगरेजी 'हू' हो गया है । [ ग्रिम-नियमके अनुसार क्लैसिकल अघोष अल्पप्राण 'क' लोजर्मन [ अंगरेजी आदि ] में महाप्राण [ह] बन जाता है । ]

आदिम भारत यूरोपीय भाषामें इन तीनों प्रकारके कण्ठ्यवर्गोंके अतिरिक्त दो और वर्ग थे—दन्त्य तथा ओष्ठ्य । प्रत्येक वर्गमें दो प्रकारकी ध्वनियाँ थी,



एक अघोष [ यथा क, त, प ], दूसरी सघोष [ ग, द, ब ] । इनके महाप्राण रूप भी पाये जाते थे । किन्तु महाप्राण रूप केवल सघोष ध्वनियोंके ही पाये जाते थे या दोनोंके, इस विषयमें विद्वानोंमें मतभेद है । अधिकतर विद्वान् आ० भा० यू० में अघोष अल्पप्राण, सघोष अल्पप्राण तथा सघोष महाप्राण ये तीन ही ध्वनिरूप मानते हैं । प्रो० प्रोकोस्व तथा हरमन कोल्डिजने एक नई सिद्धान्तसरणि प्रकट की है, उनके मतानुसार आ० भा० यू०में सघोष महाप्राण ध्वनियाँ सर्वथा नहीं थीं किन्तु अघोष महाप्राण अवश्य थीं । हिताइतकी सोजने इन महाप्राण ध्वनियोंकी समस्याको घोटा-बहुत सुलझा दिया है । इनके आधारपर स्टर्टेवन्टने आ० भा० यू०में दोनों प्रकारकी महाप्राण ध्वनियाँ मानी हैं, जो वस्तुतः अल्पप्राण ध्वनियोंकी, प्राचीन भारत हिताइत भाषामें पायी जानेवाली अघोष कण्ठनालिक [ Non-voiced laryngeals ]—[ ' , ʔ ] तथा सघोष कण्ठनालिक [ Voiced laryngeals ] ( , , ɣ ) के सम्मिश्रणसे उत्पन्न विकसित रूप हैं ।<sup>१</sup> अत आ० भा० यू० भाषामें चार प्रकारकी ध्वनियाँ प्रत्येक वर्गमें रही होंगी ।

	अघोष अल्पप्रा०	अ० महा०	स० अल्प०	स० महा०
कण्ठ्य	क [ k ]	ख [ kh ]	ग [ g ]	घ [ gh ]
तालव्य	क [ k̠ ]	ख [ kh̠ ]	ग [ g̠ ]	घ [ gh̠ ]
कण्ठोष्ठ्य	क [ kʷ ]	ख [ khʷ ]	ग [ gʷ ]	घ [ ghʷ ]
दन्त्य	त [ t ]	थ [ th ]	द [ d ]	ध [ dh ]
ओष्ठ्य	प [ p ]	फ [ ph ]	ब [ b ]	भ [ bh ]

१ Language. ( American linguistic Journal ) 1926, Vol II, P. 178.

२. Sturtevant : Indo-Hittite Laryngeals. ch V pp. 66 and following.

आदिम भारत यूरोपीय भाषाकी दोनो प्रकारकी महाप्राण ध्वनियोंको मंस्कृतने अधुष्ण बनाये रक्ता है । ग्रीकमे जानर महाप्राण सधोप ध्वनियाँ वेवल अधोप महाप्राण ए, ए, फ; [ kh, th, ph ] रह गई है । ईरानी, जर्मन तथा बाल्टोस्लाविकमे सधोप महाप्राण ध्वनियाँ, सधोप अल्पप्राण ग, द, ब हो गई है । लैटिन तथा केल्टिकमे इनमेमे कुछ सोप्म रूप हो गई है । जैसा कि हम अगले परिच्छेदमे देखेंगे आ० भा० यू० ए, ए, फ, ध्वनियाँ ईरानीमें भी सोप्म ए, ए, फ हो गई है । आ० भा० यू० में एव ही पदमे एक साथ दो महाप्राण ध्वनियाँ पाई जाती थी, किन्तु ग्रीक तथा संस्कृत आदिमें जानर प्रथम ध्वनिकी प्राणता लुप्त हो जाती है । मंस्कृतसे दधार, बभूव, बुभोज, बलाद, बधान आदि कई उदाहरण दिये जा सकते हैं । इस प्रकार हम देखते हैं कि जहाँ ग्रीकमें आ० भा० यू० की प्रायः सभी स्वर ध्वनियाँ विद्यमान हैं, वहाँ व्यञ्जन ध्वनियोंकी दृष्टिको संस्कृत, आ० भा० यू० भाषाका सच्चा प्रतिनिधित्व करती है ।

इन ध्वनियोंके अतिरिक्त आ० भा० यू० में एक सोप्म ध्वनि स भी थी । यह ध्वनि उस भाषामें परिचित्यनुकूल अधोप तथा सधोप [ज] दोनों रूपोंमे पाई जाती थी । ग, द, ब आदि सधोप ध्वनियोंके पूर्व होनेपर यह सधोप ज के रूपमें उच्चरित होती थी । ज का यह रूप अवैस्तामें मिलता है, जब कि स ध्वनि वहाँ ह हो गई । मंस्कृतमे स का अधोप रूप ही पाया जाता है । ग्रीकमें पदादि ध्वनि स, ह हो गई है, किन्तु पदमध्य या पदान्तमे वह 'स' ही रही है । लैटिनमे पदमध्य स ध्वनि 'रेफ' [र] हो गई है । इस सिद्धान्तके विभिन्नभाषीय उदाहरण यथावसर संस्कृत ध्वनियोंका विवेचन करते समय दिये जायेंगे । आ० भा० यू०में दो प्रकारकी शुद्ध प्रागध्वनि— एक अधोप 'ह' ध्वनि तथा दूगरी सधोप 'ह' ध्वनि—रही होगी । स्वय

१. यही सिद्धान्त "ग्रासमानके उपनियम" [Grasman's Corollary] के नामसे भाषाशास्त्रमे प्रसिद्ध है ।

संस्कृतमें ही दोनों प्रकारकी प्राणध्वनि मिलती है—अघोष शुद्ध प्राणध्वनि “विसर्ग” [ : ] के रूपमें, सघोष प्राणध्वनि ह के रूपमें ।

**हिन्द-हिताइत ध्वनियाँ.**—स्ट्रॉबन्ट तथा और भी दूसरे विद्वान् आ० भा० यू० भाषाके पहले भी आदिम भारत-हिताइत या आदिम हिन्द-हिताइत [ Proto Indo-Intite ] भाषाकी कल्पना करते हैं । ईसा पूर्व १४वीं शताब्दीके हिताइत साम्राज्यके इष्टिकालेख जो तुर्कीके बोगाज़-कुई स्थानसे प्राप्त हुए हैं, एक और आर्य भाषाका संकेत करते हैं, जिसे हिताइत नाम दिया गया है । यह भाषा, कल्पित आ० भा० यू०की बहिन मानी जाती है, और इस तरह एक द्वितारकबिहित [Double-starred] भाषाकी कल्पना करनी पड़ती है । यहाँ संक्षेपमें इस कल्पित हिन्द-हिताइत भाषाकी ध्वनियोंका संकेत कर देना अनावश्यक न होगा ।

**स्वर.**—ए [e], ए [ē], ओ [o], ओ [ō], तथा ऒ [प्र] [यह स्वर हीन { unaccented } ए [e] का रूप था ।]

[ विद्वानोंके मतानुसार इन पाँचों स्वरध्वनियोंका मूल ए [e] ध्वनि ही था, सब उसीसे विकसित हुए थे । ]

**अन्त स्वर—**य [y], व [w], र [r], ल [l], न [n], म [m]

**कण्ठनालीय ध्वनि—**, , , x, ४.

[ प्राणध्वनि—अघोष ह [ h̥ h̄ ] तथा सघोष ह [h̄] ]—ये दोनों अक्षरोंसे ध्वनियाँ न होकर अक्षर x तथा ४ के रूप थीं । ]

**स्पर्शव्यञ्जन—**क [k], त [t], प [p], ग [g], द [d], ब [b], घ [gh], ध [dh], भ [bh]

**सोष्म—**स [s]

इन ध्वनियोंमें चार कण्ठनालीय ध्वनियोंका विशेष महत्व है । इनमें द्वितीय तृतीय अघोष कण्ठनालीय ध्वनियाँ हैं, इतर दो सघोष कण्ठनालीय ।

प्रथम दोका वास्तविक अस्तित्व नहीं है, केवल कल्पनाके आधारपर उनको सत्ता सिद्ध है।

१, —कण्ठनालीय ध्वनिकी सत्ता निषेधात्मक है। कई स्थानपर आ० भा० हि० ए-अ के रूपमें परिवर्तित नहीं होते। इसके कारण स्वरूप वहाँ इस सघोष कण्ठनालीय ध्वनिका अनुमान किया गया है। जैसे—

हि० ऐप्प [epp-] [ले जाना], स० आप्नोति, धा० भा० यू०  
\*‘एप्’ [\*ēp-]—धा० भा० हि० \*\*‘e’ p [ ? ए ? प ]

हि० ऐस [बैठना], स० आस्ते, ग्रीक, हेस्ताइ [hestai], धा० भा०  
यू० \*‘एस्’ [es-], धा० भा० हि० \*\*‘e’s’ [ ? ए ? स ]

२, कण्ठनालीय ध्वनि भी निषेधात्मक है। यह ध्वनि भी लुप्त हो गई होगी। कई स्थानपर हिताइत अ लैतिन, ग्रीक तथा वेल्तिकम अ ही पाया जाता है। इसके आधारपर स्विस भाषाशास्त्री फर्डिनान्ड डे सोन्वूर [Ferdinand de Saussure] न यह अनुमान किया कि आदिम भाषामें कोई ‘अ रजित’ [a-coloured] कण्ठनालिक ध्वनि रही होगी। यह ध्वनि ऐ को अ बना देनी होगी। जैसे, ‘हिस्ता० मेम-ड’ [mema-i] [बहना], संस्कृत मन्वते [याद करना]।

३ २—यह ध्वनि अघोष थी तथा ऐ को अ के रूपमें परिवर्तित कर देती होगी। हिताइतमें इसका रूप h<sub>1</sub> [ h<sub>1</sub> ] पाया जाता है जैसे हि० neh<sub>1</sub> [नेहि] [में ले जाता हूँ], भा० हि० \*\* ne’ika से नयामि।

इस ध्वनिका पता कुरिलान्वित्सने चलाया था।

४ ४ यह सघोष कण्ठनालिक ध्वनि थी, इसका अस्तित्व हिताइतमें स्पष्ट है। हिताइतमें इसका h<sub>1</sub> रूप पाया जाता है। यह स्वयं हिताइत भाषामें ऐ के बाद अव्यवहित रूपमें प्रयुक्त होती है। ४ इस प्रकार २ का सघोष रूप है। यथा,

हि० मेहुर [ mehur ] [ समय ], स० मति, मिमाति, मात्र,  
मित ; ग्रीक मेटिस [ metis ] [ बुद्धि ] मेत्रोन् [ metron ] [ माप ]  
लै० मेटिओर [ metior ] [ माप ], गॉचिक मेल् [ mel ] [ समय ],  
भा० हि० \*मेर् [ \*mer- ],

इन चार वण्टनालिक ध्वनियोंके अन्वेषणका महत्त्व इसलिए है कि इसने  
एक ओर आ० भा० यू० भाषाकी स्वर-ध्वनियोंकी समस्याको, दूसरी ओर  
उमकी महाप्राण ध्वनियोंकी समस्याको सुलझाया है ।

**आदिम भारत यूरोपीय पद-रचना**—भाषाशास्त्रके दूसरे तत्व  
पद-रचनाको लेते हुए हम देखते हैं कि संस्कृत आ० भा० यू० रूपोंका पूर्ण-  
रूपसे प्रतिनिधित्व करती है । आ० भा० यू० सुप्-विभक्तियाँ प्रथम या तो  
किसी द्रव्य तथा क्रिया अथवा द्रव्य तथा द्रव्य [ यथा पट्टी, रामस्य पुत्र,  
मै ] के पारस्परिक मन्वधको तथा दूसरे, द्रव्यके वचनको व्यक्त करती थी ।  
इस प्रकार ये विभक्तियाँ क्रमशः कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान,  
सम्बन्ध, अधिकरण एवं सम्बोधन वारवको व्यक्त करती हैं, जिन्हे हम  
संस्कृतके ढगपर जाहे तो प्रथमा, द्वितीया, तृतीया, चतुर्थी, पञ्चमी, षष्ठी,  
सप्तमी तथा सम्बोधन कह सकते हैं । वचनकी दृष्टिसे ये विभक्तियाँ एक-  
वचन, द्विवचन तथा बहुवचनमें विभक्त थी । इस परिवारकी समस्त  
भाषाओंमें ये आठ विभक्तियाँ तथा तीन वचन केवल संस्कृत भाषाम ही  
उपलब्ध हैं । इगमें भी ध्यान देनेपर पता चलेगा कि यद्यपि संस्कृतमें  
द्विवचन पाया जाता है तथापि यहाँ आठों विभक्तियोंके द्विवचनमें तीन ही  
रूप पाये जाते हैं, यथा, रामो [ कर्ता, कर्म, सम्बोधन द्विव० ], रामा-  
भ्याम् [ करण, सम्प्रदान, अपादान द्विव० ] रामयो [ सम्बन्ध, अधिकरण  
द्विव० ] । इससे स्पष्ट है कि संस्कृतमें भी द्विवचन विशेष तबुचिन रूपमें  
पाया जाता है । अन्य भाषाओंमें प्राचीन ग्रीकमें यह पाया जाता है<sup>१</sup>, किन्तु

१. देखिए परिशिष्ट अ में संस्कृत, ग्रीक व संतिन शब्दोंके रूप ।

लैतिनमें लुप्त हो गया है। प्राचीन चर्च स्लावोनिक एव लियुआनियनमें यह अवश्य पाया जाता है, किन्तु अत्यधिक गुरुचित रूपमें। जर्मनीय वर्गोंकी प्राचीन भाषा गॉथिकमें द्विवचन केवल सर्वनामके रूपोंमें पाया जाता है। विभक्तियोंकी संख्या भी संस्कृतमें आठ है, ग्रीक तथा चर्च स्लावोनिकमें छ, गॉथिकमें केवल चार ही।

मुद् विभक्तियोंके चिह्नोंकी ओर आते हुए हम देखते हैं कि इन कई भाषाओंमें ये चिह्न एक-से हैं। उदाहरणके लिए प्रथमा विभक्ति एक-वचनका चिह्न \*‘स्’ [ संस्कृत मुप् ], द्वितीया एकवचनका \*‘म्’ [ स०, अम् ] तथा षष्ठी बहुवचनका \*‘ओम्’ [ जो संस्कृतमें ध्वनिनियमसे ‘आम्’ हो गया है, जैसे रामाणाम् ] ले लें। इनमें संस्कृत वृक शब्दके क्रमशः वृक, वृकम्, तथा वृकाणाम् रूप होंगे, जिनके आ० ‘भा० यू० रूप \*‘वृकः’ [ wṛkḥ ], \*‘वृकम्’ [ wṛkṃ ], तथा \*‘वृकोम्’ [ wṛkom ] रहे होंगे। इसी प्रकार संस्कृतके ‘भ’ व्यञ्जित ध्वनिवाले विभक्तिचिह्न म्याम्, भिस्, म्यस् भी आ० भा० यू० से ही जनित हैं। यह ‘भ’ संस्कृत, लैतिन तथा आर्मीनियनमें पाया जाता है, किन्तु जर्मन तथा बाल्ती स्लाविकमें यह ‘म’ हो गया है।

सं० म्यस् [ म्य ], लैतिन, बुस् [ bus ], गॉथिक, म् [ m ] सम्प्रदान बहुव०, [ Dative plural ], लियुआ० मुस् [ mus ] आ० भा० यू०— \*‘म्यस्’ [ \*bhyas ]। ग्रीकमें आकर यह \*‘भ, फ’ हो गया है, किन्तु ग्रीकमें संस्कृत भिस्—म्यस् के समानान्तर रूप केवल होमरकी भाषामें ही पाये जाते हैं, बादकी साहित्यिक ग्रीकमें नहीं। होमरमें हमें “नाउफि” [ nāuphi ] रूप मिलता है, जो संस्कृतके नौभि के समानान्तर है। इतना होते हुए भी एक ओर कुछ भाषाओंमें भ तथा दूसरी भाषाओंमें म पाये जानेसे यह भ—मकी समस्या पूरी नहीं सुलझती। यही कारण है कि करण, सम्प्रदान तथा अपादानमें कई विद्वानोंने आ० भा० यू० में \*‘म—वाले तथा \*‘भ—वाले दो

तद्वत्त्वे द्विवचन, बहुवचन रूप माने हैं ।<sup>१</sup> इस प्रकारकी कल्पना की गई है कि इन दोनोंमें आ० भा० यू०—\*भ चित्त मजाओमें (विशेषणोंमें भी) पाया जाना था, तथा—\*भ चित्त मरनामोंके रूपोंमें । किन्तु बादमें जाकर मादृश्यते आधारपर कुछ भाषाओंमें सभी रूप म-वाले हो गये, तो कुछमें सभी भ-वाले । मन्त्रतरे तृतीया, चतुर्थी तथा पचमीरे द्विवचन तथा बहुवचनमें यह 'भ' (—भ्याम्,—भिम्,—भ्यम्) है ।

वेदमें प्रथमा विभक्तिवे बहुवचनवे रूप “—घ्रासत्” से भी बनने हैं, यथा “देवात्” । मैयेवे मतानुसार जिन शब्दोंके मूळ रूपोंमें \*ॐ, \*ॐ स्वर पाये जाते थे, उनके प्रथमा बहुवचनकी अन्य मूल रूपोंवाले शब्दोंके समान अक्षरमन्त्रावाले बनानेके लिए, वैदिकमें “घ्रात्” को “घ्रासत्” बना दिया गया था । उदाहरणके लिए संस्कृत द्व्यक्षर [ disyllabic ] शब्द “देव” के बहुवचन “देवा” को, जो द्व्यक्षर है, “अहि” जैसे इकारान्त या “विष्णु” जैसे उरारान्त शब्दोंके प्रथमा बहुवचन अह्य-या विष्णव के मादृश्यते आधारपर अक्षर [ Trisyllabic ] शब्द बनाकर “देवात्” रूप दे दिया गया । इस मतने एत घातकी और पुष्टि की कि संस्कृतके कई इकारान्त तथा उरारान्त शब्द भी आ० भा० यू० जनित माने जा सकते हैं ।

गुरु विभक्तियोंकी भाँति संस्कृतकी तिङ् विभक्तियाँ भी आ० भा० यू० भाषाकी तिङ् विभक्तियोंका रूप देनेमें पूर्णतः समर्थ हैं । इसके लिए पहले हमें यह समझ लेना होगा कि आ० भा० यू० क्रियाओंके रूपाका साक्षात् सम्बन्ध व्यापार-विशेषके कालसे न होकर उस व्यापार-विशेषके प्रकारसे था । भूतकालकी छोटिन करनेवाले आ० भा० यू० \*हे के विषय, जो

१ Meillet : Introduction et L'etude Comparative de Langues Indo-europeennes. pp. 259 60. also. Wackernagel : Altindische Grammatik Vol. 3. P. 13 § 4 [h].

ग्रीक, संस्कृत तथा अवेस्तामें पाया जाता है, अन्य कोई भी चिह्न ऐसा नहीं है, जो आ० भा० यू० क्रिया रूपाको किसी काल विशेषसे सीमित करता हो। उदाहरणार्थ, संस्कृतके 'पराधभूते' लिट्'को ले लीजिए, जो परोधरूपमें अपूर्ण व्यापारके लिए प्रयुक्त होता है, वेदमें यह भूतकालके लिए प्रयुक्त न होकर क्रियाके प्रकार-विशेषका ही बोध कराता है, जैसे "स दाधार पृथिवीं द्यापुतेमां वरुणं देवाय हविषा विषेम" इस ऋग्वेदमें "दाधार" का अर्थ "दाधारयत्" न होकर "धारयति" है। वैदिक संस्कृतकी भांति इससे समानान्तर रूपका प्रयोग होमरकी ग्रीकमें कालसीमित न होकर प्रकार-बोधक ही है। किन्तु बादमें जाकर ये क्रियारूप वहाँ भी साहित्यिक [लीटिक] संस्कृतकी भांति कालसीमित हो गये हैं। इससे यह स्पष्ट होता है कि आ० भा० यू० भाषा बोलनेवाले "वीरोस्" आर्य भूत, वर्तमान तथा भविष्यत्के कालभेदसे पूर्णतः परिचित न थे। सम्प्रतके विकासके कारण धीरे-धीरे वे इनके भेदसे परिचित हो गये, किन्तु इनके अभिव्यञ्जनके लिए वे उन्हीं क्रिया रूपाका प्रयोग करते थे, जिनका व्यापार मूलरूपमें भिन्न था। इस प्रकार हम देखते हैं कि मौलिक रूपमें आ० भा० यू० क्रियाआकी पद्धति लीटिक संस्कृतकी क्रियापद्धतिसे सर्वथा भिन्न है, किन्तु यह भेद उनकी अर्थ-सम्बन्धिनी [सिमेंटिक] विशेषतासे सम्बद्ध है।

सर्वप्रथम हम आ० भा० यू० क्रिया रूपोंको निर्देशात्मक [Indicative] हेत्वात्मक [संस्कृत हेतुहेतुमत्त], [Conditional or subjunctive] विध्यात्मक [Optative] तथा आज्ञात्मक [Imperative] इन कोटियोंमें विभक्त कर सकते हैं। निर्देशात्मक कोटिमें दो काल माने जा सकते हैं—भूत तथा वर्तमान। भूतकालका द्योतक [पुर सर्ग] \*ए [स० अ, ग्रीक ए [e]] क्रियाके मूल रूपके पहले जोड़ दिया जाता था। संस्कृत अदिशत् तथा ग्रीक पृथेको म इसे देखा जा सकता है। वर्तमानके संस्कृत 'लट्' तथा [परोधभूते] लिट् दोनोंमें समानान्तर रूपाका प्रयोग किया जाता था। हेत्वात्मक तथा विध्यात्मकमें धातु तथा तिङ्, विभक्तिके बीचमें \*ए—



\*,-घ्रा, तथा -'य ए'-, \*इ-को जोड़ दिया जाता था। आज्ञा रूपोंके लिए कोई विशेष प्रकारका चिह्न नहीं था। कभी-कभी कौरा धातु रूप ही आज्ञात्मक रूपमें प्रयुक्त होता था, इसका सबेत हम संस्कृत लोटके मध्यम पुरुष एकवचनके रूप 'भर', 'पठ' आदिसे पा सकते हैं। आ० भा० यू० भाषामें संस्कृतकी भाँति कर्तृवाच्य तथा कर्मवाच्य दो रूप रहे होंगे। कर्तृ-वाच्य पुनः संस्कृतकी भाँति ही परस्मैपदी तथा आत्मनेपदी इन दो रूपोंमें पाया जाता होगा। ग्रीकमें भी परस्मैपदी [एक्टिव वॉयस], आत्मनेपदी [मिडिल वॉयस] तथा कर्मवाच्य [पैसिव वॉयस] ये तीन रूप पाये जाते हैं। इनमें परस्मै तथा आत्मने दोनों प्रकारके पदाके भिन्न प्रकारके तिङ् विभक्ति-चिह्न थे। उन्हींसे वादके विभक्ति चिह्न विकसित हुए हैं। ये विभक्तिचिह्न पुनः दो प्रकारके माने जा सकते हैं—मुख्य तथा गौण। मुख्य चिह्नोंका प्रयोग वर्तमान [निर्देशात्मक] तथा हेतुहेतुमत्के साथ होता था। जब कि गौण तिङ् विभक्तिचिह्न अपूर्ण भूत, लिट् [जो आ० भा० यू० में वर्तमानमें प्रयुक्त होता था], तथा विध्यात्मक रूपोंमें जोड़े जाते थे। संस्कृतके कई तिङ् विभक्तिचिह्नोंको हम आ० भा० यू० का ही विकसित रूप पाते हैं, यथा—

स०-मि,-ए	प्रा० भा० यू० *मि [mi], *ग्रइ [ai]	[स० भरामि, ददे]
„-सि,-से	„ *सि [si], *सइ [sai]	[स० भरसि, दसे]
„-ति,-ते	„ *ति [ti] *तइ [tai], ग्रइ [ai]	[भरति, दत्ते]
„-म,-महे	„ *मस् *मास् [ *mes, *mos ], *मध्व [ *medhva- ] [ भराम, दधहे ]	
„-य,-ध्वे	„ *ते [te] * × [ भरथ, दध्वे ]	
„-अन्ति,-न्ते	„ *एति [ -न्ति ] * [ enti, -nti ] *न्तइ [ *-ntai ] [ भरन्ति, भायन्ते ]	

इसे और स्पष्ट करनेके लिए हम यहाँ नीचेके चतुरस्रमे आ० भा० पू०, ग्रीक व संस्कृतके वर्तमान निर्देशात्मक रूपोंको सोदाहरण स्पष्ट कर देने हैं—

तिङ् चिह्न, वर्तमान; कर्तृवाच्य, परस्मैपदी

अ० भा० पू० तिङ् चिह्न	संस्कृत रूप	ग्रीक रूप
*भरे [bher-] एकवचन उ० पु० *मि [*mi], ओ [ō] म० पु० *सि [*si] अ० पु० *ति० [*ti] बहुवचन उ० पु० *मस्, मास् [mes, mos] म० पु० *ते [te] अ० पु० *एन्ति, ओन्ति, -न्ति [enti, onti, -nti]	भू- [ भर् ] भराणि भरसि. भरति भराम भरथ भरन्ति	फेरो [ phero ]-[ ले जाना ] फेरो [ phero ] फेरैस् [ phereis ] फेरै [ pherei ] फेरामस् [ pheromes ] फेरते [ pherete ] फेरन्ति [ pheronti ]

आदिम भारत-यूरोपीय भाषामें भविष्यत् सर्वथा नहीं था। इसकी व्यजना निर्देशात्मक वर्तमानके द्वारा ही कराई जाती थी, जैसे "मैं जाऊँगा" के लिए "मैं जाता हूँ" का प्रयोग। कभी-कभी हेतुहेतुमत्के द्वारा भी भविष्यत्की व्यजना कराई जाती थी। इसके रूप होमरकी भाषामें पाये जाने हैं। भविष्यत्की व्यजनामें एक तीसरे प्रकारका प्रयोग भी मिलता है, जहाँ धातु तथा वर्तमानके तिङ् चिह्नोंके बीच कभी-कभी 'म्' जोड़ दिया जाता था। ग्रीक तथा संस्कृतके भविष्यत् रूप वर्तमानमें इसी 'स्' [स्य] को जोड़कर बनाये जाते हैं। यथा सं० भरामि-भरिष्यामि [\*भरिष्यामि], ग्रीक फेरो [ phero, I bear ], फेरसो [ pherso, I shall bear ], जो प्राचीन भारत यूरोपीय रूप\* भेर-स् मि [ओ] [\*bher-s-mi (-o)] की ओर मन्त करते हैं। लौकिक संस्कृतमें आकर ये चार विधियाँ [moods] तथा दो काल [tenses] ही तीन काल तथा दस अकारोंके रूपमें विकसित हो गये हैं।

भाषाशास्त्रियोंने तुलनात्मक अध्ययनके आधारपर इस काल्पनिक भाषाकी ध्वनियाँ तथा पदरचनाका तो पता लगा लिया है, किन्तु वाक्यरचनाके आनुमानिक रूपकी पुनः सृष्टि [Reconstruction] करनेमें वे समर्थ नहीं हुए हैं। यह सफलता तभी हो सकती है जबकि इस परिवारकी विभिन्न भाषाओंकी वाक्यरचनाके तुलनात्मक अध्ययनके आधारपर सारक-चिह्नित शब्दोंमें निर्मित काल्पनिक वाक्योंकी रचना की जाय। वैसे कुछ विशेषताओंका पता भाषाशास्त्रियोंने लगाया अवश्य है। ये विशेषताएँ ऋग्वेदके मन्त्रोंकी पदरचनामें पाई जाती हैं। ऋग्वेदके मन्त्रोंमें प्रायः-सर्वनाम वाक्यमें द्वितीय स्थानपर प्रयुक्त होते थे, यद्यपि कभी-कभी इस प्रकारका प्रयोग सदिग्धता भी पैदा कर सकता है। जैसे "नि न भेऽग्निर्वैश्वानरो मुखाग्निप्यद्यत्तं"। जिसमें "भे" का अन्वय अग्नि के साथ होनेका सदेह होता है, यद्यपि उमका सम्बन्ध मुखात्से है। इसका अर्थ यों है — "अतः अग्नि वैश्वानर मेरे मुखसे बाहर न गिरे।" इस विशेषताका सन्तोषजनक कारण तो पता

नहीं, किन्तु जर्मन विद्वान् वाकेरनागेलके मतानुसार यह विशेषता ग्रीक तथा अन्य भा० यू० भाषाओंमें पाई जाती है। सम्भव है, यह आ० भा० यू० भाषाकी वाक्यरचनात्मक विशेषताओंमेंसे एक रही हो।

जहाँ तक इस परिवारकी भाषाओंके आदिम शब्दकोषका प्रश्न है, सम्यताके उप कालमें प्रयुक्त शब्द प्रायः इन सभी भाषाओंमें एक-से पाये जाते हैं। पिता, माता, भ्राता, भगिनी, दुहिता, जामाता, उदक, आप, अग्नि, जनिता, क्षमा आदिके समानान्तर शब्द अन्य भा० यू० भाषाओंमें भी मिल जाते हैं। सबसे बड़ी विशेषता, जिसका अनुमान आ० भा० यू० भाषाकी मज्ञाओंके लिंगके विषयमें किया जा सकता है, यह है कि वहाँ पुल्लिंग, स्त्रीलिंग तथा नपुसकलिंगका विभाजन पुरुष, स्त्री या अचेतन पदार्थसे सम्बद्ध नहीं था, अपितु लिंग तत्तद्भावका बोधक था, जो किसी भी व्यक्ति या वस्तुकी किसी विशेषतासे सम्बद्ध था। हम देखते हैं कि संस्कृत 'दार' शब्द पुल्लिंग है, साथ ही बहुवचन भी, इसी तरह कल्त्र तथा मित्र नपुसक हैं।

इस प्रकार हमने वैदिक संस्कृत तथा ग्रीक जैसी भारत यूरोपीय परिवारकी समस्त भाषाओंकी कल्पित जननीके भाषाशास्त्रीय रूपका सक्षिप्त अध्ययन किया। यद्यपि भाषाओंके पारस्परिक सम्बन्धको व्यक्त करनेके लिए माता, पुत्री, पौत्री, भगिनी, मातृत्वसा आदि औपचारिक शब्दोंका प्रयोग किया जाता है तथापि शुद्ध भाषाशास्त्रीय अध्ययनकी दृष्टिसे इस प्रकारके औपचारिक शब्दोंसे बचना ही श्रेयस्कर है। वैसे हम स्वयं भी परम्परागत रूपमें इस प्रकारकी औपचारिक पदावलीका प्रयोग इसी परिच्छेदमें कर चुके हैं। शास्त्रीय दृष्टिसे भाषाओंका जीवन 'विकासवाद' से अत्यधिक प्रभावित है। जिस प्रकार प्राणिशास्त्रके मतानुसार प्राणी [ जन्तुविशेष ] विकसित होकर विभिन्न स्थितियोंसे गुजरता है, ठीक उसी प्रकार भाषा भी उत्पन्न न होकर विकसित होती है। प्राकृत, वैदिक संस्कृतकी पुत्री न होकर वस्तुतः किन्ही परिस्थितियोंके कारण उसका ही परिवर्तित या विकसित रूप है। कुछ विद्वान् इस 'विकास'को 'हास' मज्ञा देते हैं। किन्तु भाषाका हास

न होकर विकास ही होता है। इस विकासके नियामक तत्त्व भौगोलिक, सामाजिक तथा ऐतिहासिक परिस्थितियाँ हैं, जो किसी भाषाकी ध्वनि, पदरचना, वाक्यरचना तथा शब्दकोषमें परिवर्तन करती हैं। इसका यह तात्पर्य नहीं कि वह भाषा उस पूर्व रूपसे सर्वथा भिन्न है। वस्तुतः वह उसीका विकसित रूप है। भाषाके वास्तविक मूल तत्त्व उसमें भी ठीक उसी रूपमें विद्यमान हैं। हम यों कह सकते हैं कि भाषाके विकसित रूपोंके सम्बन्धमें साह्य दर्शनका परिणामवाद या सन्कार्यवाद वाला सिद्धान्त मानना अनुचित नहीं होगा। प्राचीन संस्कृत विद्वान् भाषामें विकास न मानकर ह्रास मानते हैं। प्राकृत यथा अणभ्रशको वे संस्कृतका 'पतित' रूप मानते हैं। इसीलिए कान्यकुब्जेश्वर गोविन्दचन्द्रके राजपण्डित दामोदर भट्टने अपने समयकी अणभ्रश [ प्राचीन कोसली अवधी<sup>१</sup> ] के द्वारा राजकुमारको संस्कृत सिखानेके लिए बनाये गये ग्रन्थ "उक्तिव्यक्तिप्रकरणम्" में लिखा है "हम थोड़ेसे परिवर्तनोंसे ही अणभ्रश [ देशभाषा ] को संस्कृत बनाते हैं। यह [ देशभाषा ] ठीक उसी प्रकार संस्कृत बन जायगी जैसे कि पतित ब्राह्मणी प्रायः दिक्षु करनेपर पुनः ब्राह्मणी बन जाती है।"<sup>२</sup>

पर फिर भी शुद्ध भाषावेज्ञानिक दृष्टिसे किसी भाषाको अणभ्रश, पतित या ह्रामोन्मुख कहना अवैज्ञानिक ही माना जायगा।



१. डा० हजारीप्रसाद द्विवेदीका मत है कि यह 'कोसली अवधी' न होकर प्राचीन भोजपुरी है। किन्तु डॉ० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्याने जो इस ग्रन्थके सम्पादक हैं, अपनी विस्तृत भूमिकामें इसे प्राचीन कोसली अवधी ही कहा है।

२. पतिता ब्राह्मणी कृतप्रायदिक्षुता ब्राह्मणीव्यमिति चेति ।

## संस्कृत तथा अवेस्ता [ भारत-ईरानो शाखा ]

आर्योंका एक दल मध्य-एशियासे चलकर ईरानकी ओर बढ़ा । यह दल सर्वप्रथम खीवाके शारद्वलमें आकर रुका । इस समय तक यह दल अविभाजित था । यहीसे यह दल दो वर्गोंमें विभक्त हो गया । एक दल पश्चिमकी ओर बढ़ा, दूसरा दक्षिण-पूर्वकी ओर । प्रथम वर्ग ईरानमें स्थित हो गया, दूसरा दल गन्धार देशको पारकर खैबर तथा घोलानके दर्रोंके द्वारा सप्तसिन्धु प्रदेशमें प्रविष्ट हुआ । यद्यपि खीवाके शारद्वल तक इन दोनों दलोंकी भाषाका एक ही रूप था तथापि बादमें भौगोलिक, सामाजिक तथा ऐतिहासिक कारणोंसे दोनों वर्गोंका विकास अपने-अपने रूपमें हुआ । फिर भी थोड़े ध्वनिपरिवर्तनोंके अतिरिक्त, आरम्भमें ये भाषाएँ एक-सी ही थीं । आरम्भमें तो ईरानियों तथा वैदिक आर्योंके पितामह एक-सी ही भाषा बोलते थे, इसमें कोई सन्देह नहीं । यह सिद्ध हो चुका है कि ईरानिया तथा वैदिक आर्योंके पितामह चिरकाल तक एक ही समाजके व्यक्तिके रूपमें साथ-साथ रहे थे, उनकी सामाजिक रीति-नीति एक-सी ही थी, जो ऋग्वेद तथा अवेस्ताके तुलनात्मक अध्ययनसे स्पष्ट है । वेद तथा अवेस्ताकी भाषा तो परस्पर इतनी निकट है कि प्रायः ऐसा कहा जाता है कि अवेस्ताकी भाषा कालिदासकी संस्कृतकी अपेक्षा वैदिक संस्कृतके विशेष निकट है । अवेस्ता तथा वेदकी भाषाओंमें उमसे कहीं अधिक भेद नहीं है, जितना कि ग्रीक भाषाके प्राचीन मिलालेखोंमें उपलब्ध विभाषाओंमें पाया जाता है । दोनों भाषाओंकी मपटना इतनी गमान है कि अवेस्ताकी गायत्री भाषाको कनिष्य ध्वनिनियम मन्वन्थी परिवर्तनोंके आधारपर वैदिक गम्युतने रूपमें परिवर्तित किया जा सकता है । उदाहरणके लिए अवेस्ताके दगम यस्नकी अष्टम गायत्री लीजिए । गायत्री मूल रूप यो है —

यो यथा पुत्रं, भ्यु तडरुनुभम् ह्योमाम् अम् बन्देता मद्यो ।

[ yo yaθa puθram taurunam haomam wandaeta mas'yo. ]

ऋ आद्यो तनुव्यो ह्योमो वीसइते बणेशजाइ ॥

[ ṛa, ahyo tanubyo haomo wisaite baes'azai ]

इम गाथाको हम वैदिक सस्कृतमें इम प्रकार परिवर्तित कर सकने हैं —

यो यथा पुत्रं तद्वयं सोम चन्देत मर्यः ।

प्र आभ्य तनुभ्य सोमो विशते भेषजाय ॥

यहाँ हम देखते हैं कि दोनोंमें वास्तविक भेद ध्वन्यात्मक ही है ।

ध्वन्यात्मकताकी दृष्टिमें भारतेरानी [ Indo-Iranian ] शाखाकी

इन दोनों भाषाओंमें प्राचीन भारत-यूरोपीय \*ए, \*आ, \*अ, का भेद

नहीं रहा है । यहाँ आकर ये सभी अ तथा इनके दीर्घ रूप आ हो गये हैं ।

ग्रीक भाषामें इनका भेद बना रहा है । अतः यह स्पष्ट है कि यह परिवर्तन

वैदिक आर्य तथा ईरानियोंके पूर्वजोंके द्वारा बोली जानेवाली प्राचीन भारत-

ईरानी विभाषामें ही हो गया था । इम प्रकार ग्रीक एपि पेतैतइ [epi pe-

tetai ] संस्कृतमें तथा अवेस्तामें क्रमशः [ स० ] अवि पतति, [ अवे० ]

अइपि अ-पतन् [ aipi a-pata-t ] मिलेगा । प्रा० भा० यू० \*अ

इस शाखामें भी अ ही बना रहा है, यथा ग्रीक अक्मोन [akmon], स०

अइमन्, अवे० अइमन् । अ की इस प्रकारकी बहुलताके कारण पहले ऐसा

भोचा जाता था कि संस्कृत तथा अवेस्ताने प्रा० भा० यू० रूपोंको अप-

रिवर्तित रूपमें सुरक्षित रखा है तथा ग्रीकमें यही 'अ' बादमें ञाकर त्रिरूप

[ अ, ए, आ ] हो गया है, किन्तु जैसा कि हम प्रा० भा० यू० के तीन

कण्ठ्योंके विकासमें देखने हैं, इन त्रिरूप स्वरोका बड़ा हाथ है । अतः उम

मतको छोड़ देना पडा तथा प्रा० भा० यू० में तीनों ह्रस्व स्वरो—\*अ, \*ए,

\*आ की सत्ता माननी पडी । जहाँ भी ग्रीक तथा लैटिनमें कण्ठ्य ध्वनिके

बाद 'ए' पाया जाता है, वहाँ 'मत्' वर्गकी भाषाओंमें तालव्य रूप [ श, छ आदि ] मिलता है । यह तालव्यीभाव हिन्द ईरानी शाखामें इ [ य् ] के पूर्व ही पाया जाता है, जैसे स० ओजीयस्, विन्दु स० उग्र, अवेस्ता द्रओजिस्त, किन्दु द्रओप—[स० द्राघिष्ठ] । अतः यह कल्पना की गई कि वाम्त्विक रूपमें तालव्यीभावकारी भारत ईरानी अ, इ-रजिन [ 1 coloured ] था, अर्थात् प्रा० भा० यू० रूपमें यह \*ए था । इसी आधारपर यह मत स्थापित किया गया कि प्रा० भा० यू० स्वराकी ग्रीकने सुरक्षित रखा है, जब कि संस्कृत तथा अवेस्तामें ये सभी स्वरध्वनियाँ नहीं पायी जाती ।

यद्यपि भारत ईरानी अ प्रा० भा० यू० \*ए, \*ओ, \*अ तीनोंसे निकला है तथापि इसका एक अपवाद पाया जाता है । प्रायः प्रा० भा० यू० \*ए, ओ, \*अ संस्कृत तथा अवेस्तामें अ हो जाते हैं, किन्तु व ह्रस्व त्रिस्वर, जो ग्रीकमें इनके दीर्घ स्वर ए, ओ, आ के अपभ्रुतिजनित रूप हैं, भारत ईरानी वर्गमें अ न होकर इ होते हैं । उदाहरणार्थ, ग्रीक शब्द 'ए-ते-थेन' [etethen] को लीजिए जो भूतकालका रूप है । यहाँ त में ह्रस्व ए दीर्घ ए का ही अपभ्रुतिजनित रूप है, जो इसके वर्तमान कालके रूप तिथेमि में पाया जाता है । इसमें वास्तविक धातु थे [ the ] [ \*थे, \*dhe ] है । इसीके दुर्बल रूपमें लैतिनमें अ पाया जाता है, यथा लैतिन फ़सियो [ fasio ] । किन्तु संस्कृतमें यह \*धत् [ \*हत् ] न होकर हित<sup>१</sup> [ √ धा + क्त ] होता है । अर्थात् ग्रीकमें जहाँ प्रा० भा० यू० दीर्घ \*ए वा ह्रस्व रूप ए [ e ] पाया जाता है, वहाँ संस्कृत [ भारत ईरानी शाखा ] में 'इ' हो गया है । एक दूसरा उदाहरण और लीजिए । प्रा० भा० यू०

१ यहाँ 'ओजीयस्, द्रओजिस्त, या द्राघिष्ठकी 'ज' तथा 'य' ध्वनियाँ कण्ठ्य 'ग' 'घ' का विकास हैं, उग्रमें वह 'ग' ही रही है, इ के कारण अन्त्य 'ज' हो गई है । देखिए 'ग', 'ज' का विकास [ अगले परिच्छेदमें ] ।

२ श्वातेहि ।



\*दो [\*do] धातुमें 'ओ' दीर्घ स्वर है, इसका वर्तमान रूप सबल स्थितिमें ग्रीकमें 'दिदोमि' [ didomi ] है। दुर्बलरूपमें ग्रीकमें यह भूतकालमें ऐ-दो-थेन् [ edothen ] हो जाता है, जो सस्कृतके 'अदाम्' के समानान्तर है। लैतिनमें यह दुर्बल रूपमें अ होता है, यथा दतुस् [ datus ]। किन्तु सस्कृतमें दुर्बल रूपमें इ पाया जाता है, जैसे स० अदिथा। इससे यह स्पष्ट है कि जहाँ भारत-ईरानीमें 'इ' ध्वनि है तथा अन्यत्र [ग्रीकके अतिरिक्त भाषाओंमें, क्योंकि ग्रीकमें तीनों ही स्वरोंका दीर्घ रूप दुर्बलस्थितिमें ह्रस्व हो जाता है] अ ध्वनि है, वहाँ वास्तविक [मूल] रूपमें इन तीनों दीर्घ स्वरोंका वह दुर्बल रूप रहा होगा, जिसका कारण अप-धुति [Ablaut] है। इन दुर्बल रूपोंमें, वे धातु जिनमें स्वर ह्रस्व था, उस स्वरको सर्वथा खो देते थे, किन्तु दीर्घ स्वरवाले धातुओंमें इनका अवशेष एक अत्यधिक दुर्बल स्वरके रूपमें अवश्य रह जाता था। यही दुर्बल स्वर भाषा शास्त्रमें 'स्वा [schwa]के नाममें प्रसिद्ध है तथा इसके चिह्नके लिए रोमन उलटे ई [ə] का प्रयोग किया जाता है। हम इसके लिए देवनागरीमें अ का प्रयोग कर रहे हैं। यही अ भारत-ईरानीमें इ हो गया है, ग्रीकके अति-रिक्त अन्य भाषाओंमें यह अ पाया जाता है, ग्रीकमें कभी तो यह भारत-ईरानी इ, अ रूपमें पाया जाता है, कभी नहीं पाया जाता<sup>१</sup>, यथा सं० पिता, अवेस्ता [ फारसी ] पिता, ग्रीक पतेर [ pater ], स० स्थित, ग्रीक स्ततोस् [ statos ], स० हित., ग्री०-थेतास् [ thetos ]।

भारत-ईरानी शाखाकी दूसरी विशेषता य् तथा थ् अन्त स्थ ध्वनियाका विशेष प्रकारका प्रयोग है जो अन्य भारोपीय भाषाओंमें नहीं पाया जाता। वेद तथा अवेस्ता दोनोंकी भाषामें ऐसा जान पड़ता है कि इ के पूर्व होनेपर य् ध्वनि तथा उ के पूर्व होनेपर थ् ध्वनि लुप्त हो जाती

१. Wackernagel, Altindische Grammatik Vol. I. P. 16,

थी। उदाहरणके लिए मस्कृत श्रेष्ठको लीजिए, अवेस्तामें इनके समानान्तर स्रष्ट [sraes'ta] शब्द मिलता है। यहाँ एक बात ध्यान देनेकी है कि ऋग्वेदमें श्रेष्ठ शब्द प्रायः त्र्यक्षर [trisyllabic] माना गया है। अतः स्पष्ट है कि इसका मूल रूप 'थय्' है। श्रेष्ठ तथा धोरमें ठोक वही सम्बन्ध है, जो शविष्ठ तथा धूरमें, एव दविष्ठ तथा दूरमें है। अतः यह मानना अनुचित न होगा कि श्रेष्ठका वास्तविक संस्कृत रूप \*श्रविष्ठ अवश्य रहा होगा, तभी यह त्र्यक्षर माना जा सकता है। यह \*श्रविष्ठ सर्वप्रथम \*श्रइष्ठ हुआ होगा, बादमें श्रेष्ठ। इसी प्रकार ऋग्वेदके 'रेवत्' 'रविषत्' टपाको लिया जा सकता है जो दोनों ही रूपमें ऋग्वेदमें पाये जाते हैं। अवेस्ताका रेषवत् [raevat] भारत-ईरानी प्राचीन रूप रविषत्में \*रइवत्के द्वारा विकसित हुआ है। इसी आधारपर संस्कृतमें वे धातुरूप जो प्रायः प्राचीन रूपमें यि वाले थे, पदादिमें केवल इ ध्वनिसे युक्त पाये जाते हैं। यथा √यज् धातुके सप्तम्य रूप इयज्ञाको ले लीजिए, जो ऋग्वेदमें पाया जाता है। लौकिक संस्कृतमें आकर मादृश्यके आधारपर इसमें फिरसे 'य्' जोड़कर यियज्ञा रूप बना दिया गया है। इस प्रकार ब्राह्मण ग्रन्थोंमें 'य' वाला रूप पाया जाता है, यथा √यम् से 'यियस—', √यम् से 'यियस—'। कुछ रूपोंमें लौकिक संस्कृतमें भी प्राचीन इ-वाला रूप ही बचा रह गया, जैसे 'यज्' धातुके परोक्षभूते लिट्के रूप 'इयाज'में। किन्तु इस मवधमें व ध्वनिसे ऐसे विकारका उल्लेख नहीं किया जा सकता। अवेस्तामें इसके कोई उदाहरण नहीं मिलते, जहाँ उ के पूर्व होनेपर व् वा इस प्रकारका लोप पाया जाता हो। माय ही 'य्' 'उ' जैसी ध्वनियोंका गयोग प्राचीन भारत-यूरोपीयमें न्यून था। संस्कृतमें यदि वही भा० यू० व् वा उ रूप पाया जाता है तो 'रु' [ रेफ ] के ग्वरीभूत रूप [रु] के कारण। यथा न० उरा, ऊर्मि को वमयः प्रा० भा० यू० \*वरेन् [ varēn ] देणिए ओक वरेन [varēn] तथा \*वम [ vama ] प्रा० हाई जमेंत वम

[ walm ] से विकसित माना जा सकता है । यह विशेषता केवल संस्कृतमे ही पाई जाती है । अवेस्तामे यह 'व' 'व' ही बना रहता है स० उर, अवेस्ता वरो [ waro ], स० ऊर्णा, अवे० वरुअन [ waran ] संस्कृत क्रियाके परोक्षभूते लिट्मे यह व पदादिमें उ हो जाता है, यथा संस्कृत√ वच् तथा √ वस् धातुसे क्रमश उवाच एव उवाच रूप बनते हैं । किन्तु इनमे वास्तविक प्रथमाक्षर प्राचीन भारत यूरोपीय \*w-था, \*wu-नही था । अवस्नाम यह व ही बना रहता है, तथा वहाँ ववश [ wawas'a ] रूप पाया जाता है । इसीलिए अवेस्तामे संस्कृतके पदादि 'उ' वाले परोक्षभूत रूप जैसे रूप नहीं मिलते ।

संस्कृत तथा अवेस्ता दोनोंमे ही प्रा० भा० यू० \*स् ध्वनि इ,उ,र् तथा कण्ठ्य ध्वनियोसे परे होनेपर परिवर्तित हो जाती है । इस स्थितिमे प्रा० भा० यू० \*स् भारत ईरानी वर्गमे श [ s' ] हो जाता है । संस्कृतमे यह श बदल कर ष हो गया है, जब कि अवेस्तामे श ही रहा है । यह परिवर्तन अ या आ ध्वनिसे परे होनेपर नहीं पाया जाता । उदाहरणके लिए संस्कृतके सप्तमी बहुवचनके सुप्रत्यय 'सु को लीजिए, जिसका प्रा० भा० यू० रूप भौ \*सु [ \*su ] है यह इ, उ [ साय ही ए, ओ भौ ] से परे होनेपर संस्कृतमे पु हो जाता है कविपु, भानुपु । अवेस्तामे यह शु [ s'p ] होता है, अवे० बूमिशु [ būmis'n ] [स० भूमिपु], गोउरुशु [ gourus'u ] [स० गुरुपु] । इसी प्रकार 'र' तथा कण्ठ्य ध्वनिके कारण भी यह संस्कृतमे 'प' तथा अवस्नामे 'श' हो जाता है ।

स० तूष्णा, अवे० तर्शनों [ tars'no ], गोथिक, थोर्स्यन् [ Dorsyan ]  
स० उक्षित<sup>१</sup>, अवे० उक्षेइति [ uxs'eti ], ग्रीक अउखनो [ auk-  
hano ]

१. स० क्ष = क् + ष [ कपसयोगे क्ष' ]

संस्कृत तथा अवेस्ताकी यह विशेषता बाल्तोस्लाविक जैसी 'स' वर्गकी अन्य भाषामें पाई जाती है। वहाँ भी ऐसी परिस्थितियोंमें 'स' 'श' हो जाता है। जहाँ प्रा० भा० यू० में 'श्वा' [ भ (७) ] था, वहाँ भारत-इरानीमें इ रूप के कारण \*स् घ्वनि श हो जाती है, किंतु यह विशेषता बाल्तोस्लाविकमें नहीं पाई जाती, क्योंकि वहाँ प्रा० भा० यू० 'श्वा' 'इ' न होकर लैतिनकी भाँति 'अ' होता है।

स० कृषिप [ मास ], अवे० ख्रविश्यन्त [ xrawi'syanta ] [रक्त-पिपासु] ग्रीक क्रेस [kreas] प्रा० स्ला० क्रुव्यस् [krivas], प्रा० भा० यू० \*क्रेव्भस् [krewas]

गदरचनाकी दृष्टिसे संस्कृत तथा अवेस्ता दोनोंकी, सर्वप्रथम विशेषता यह है कि इनमें भारत यूरोपीय 'इ' तथा 'ए' स्वर जो क्रमशः वर्तमान तथा परोक्ष भूतके द्वित्व [reduplicated] रूपमें पाये जाते थे भिन्न भिन्न रूपमें नहीं हैं। यहाँ दोनों ही रूपमें 'इ' स्वर वाला ही द्वित्व रूप पाया जाता है, यथा—

स० तिष्ठति, अवे० हिस्तुभति [his'tanti], ग्रीक, हिस्तेमि [histemi]

स० शिपक्ति, अवे० हिशस्ति [his'santi]

स० इयति, अवे० [ उज् ] यरात [(uz)-yerat]

इतना होनेपर भी प्रा० भा० यू० 'ए' के भी अवशिष्ट चिह्न भारत-इरानीमें पाये जाते हैं। स० ददाति, अवे० ददइति [dadaiti] को लीजिए, ये वर्तमानके रूप हैं, अतः ध्यान रखिए प्रा० भा० यू० रूप \*ददोति [\*didoti] होगा, \*ददइति [\*dedoti] नहीं। ग्रीकमें यह प्रा० भा० यू० 'इ' ददोति [didosi] में स्पष्ट है। यद्यपि यही प्रा० भा० यू० 'ए' नहीं था, तथापि उसीके मिथ्यामादृश्यके आधारपर यह प्रा० भा० यू० 'इ' संस्कृत व अवेस्तामें इन शब्दोंमें 'अ' हो गया है, जो भाषा-

शास्त्रीय दृष्टिसे अपवाद है। यह मिथ्या-सादृश्य किसी परोक्षभूतके रूपसे ही आधारपर हुआ होगा, जैसे स० बभूव [प्रा० भा० घू० \*भभूव \*bhebhuwe] आदिके आधारपर। इसी प्रकार परोक्षभूतमें भी मिथ्या-सादृश्य या उपमानके आधारपर 'इ' पाया जाता है, जो मापाशास्त्रीय दृष्टिसे

'अ' होता चाहिए, यथा स० दिदेश [प्रा० भा० घू० \*ददेष \*dede-

ke]। इस सादृश्यके आधारपर सषष्ठम उन घातुआके वर्तमानमें, जिनमें 'इ' पाया जाता था, द्वित्व रूपमें 'इ' हो गया। यह 'इ' मसृज तथा अवेस्ता दोनोंमें है। यह इ-ध्वनि वर्तमान रूपोंके आधारपर परोक्षभूतके द्वित्वरूपमें भी पाई जाने लगी, जैसे म० √द्विष् से बने दिद्वेष तथा अवे० दिद्वेष [didwæs'a] में। धीरे-धीरे यह 'इ' उन घातुआके रूपोंमें भी पाया जाने लगा, जहाँ वस्तुतः घातुके मूलरूपमें 'इ' नहीं था, यथा मसृज √धम् से विवस्वान्। इसी प्रकार अवेस्तामें

भी दा [da] [स० √धा, प्रा० भा० घू० \*धो [\*dhō] घातुके दिदार

[didāra] ददार [dadāra] दीना टप पाये जाते हैं, जो मसृज 'दधार' [प्रा० वैदिक रूप दाधार] के समानांतर हैं। इस 'इ' के उपमानके आधार-

पर मसृज 'उ' वाले घातुआमें 'उ' रक्ता भी द्वित्व पाये जाने लगा।

स० √विष् से बने विदेश के सादृश्यपर √जुष् से जुजोय बना, यद्यपि अवेस्तामें इसने द्वित्व रूपमें 'इ' ही पाया जाता है, जो अवेस्ता शब्द जिजुस्ते [zizus'te] में स्पष्ट है। किन्तु यह सादृश्यजनित 'उ' किन्हीं किन्हीं रूपोंमें अवेस्तामें भी मिल जाता है, यथा संस्कृत, शुभ्रपति; अवेस्ता, शुभ्रपति

[sus̄us̄'anno]। वर्तमानक सादृश्यके आधारपर यह 'उ' परोक्षभूतमें पाया जाने लगा तथा श्रोत्र, पुष्य जैसे रूप बने। मसृजमें दीर्घ ऊकारान्त घातुआमें केवल 'भू' तथा 'सू' इन घातुआके परोक्षभूतमें ही द्वित्व रूपमें

प्रथम स्वर अ [ \*ए \*o] पाया जाता है, जो ब्रह्मण बभूव तथा समूव

[द्वारा टप मुषुवे भी हैं] से स्पष्ट है।

धानुके कर्मवाच्य रूपके सामान्यभूतमे मस्वृत तथा अवेस्ता दोनोमे इ पाया जाता है, जो अन्य किसी भारोपीय भाषामें नही पाया जाता, यथा मं० प्रधाचि [अवे० अवाशि [awāsī]। मस्वृतमे इसका प्रयोग कर्मवाच्यमें अन्य पुरुषके चिह्नके रूपमें पाया जाता है। ऊँच इसी रूपमे इसका प्रयोग अवेस्तामे होता है। किन्तु इस पदरचनात्मक विगेषताकी उत्पत्ति स्पष्ट नहीं है। फिर भी यह ता निश्चित है कि यह भारत ईरानी वर्गकी ही विशेषता है।

इसी प्रकार इन दोना भाषाओके आज्ञात्मक [ लोट् ] रूपोके अन्य पुरुष एववचन तथा बहुवचनके रूपोमें भी ऐसी ही समानता पाई जाती है, मस्वृत भरतु, भरन्तु, अवेस्ता वरतु [baratu], वरन्तु [barantu] इसके अतिरिक्त उत्तम पुरुषके एकवचनमें भी दोनोमे आ, तथा आनि दोना प्रकारके बैकलिक रूप पाये जाते है, मस्वृत, भवत, भवानि। लौकिक मस्वृतके आकर भवत वाला रूप लुप्त हो गया है। यह आनि प्रा० भा० यू० विध्यत्मक [optative] तिङ् विभक्ति \*आन से विकसित हुआ है। संस्कृतके आज्ञात्मक [imperative] रूपोमें अत्यधिक पाये जानेवाले “-तात्” वाले रूप [यथा स० भवतात्, भरतात्] प्रा० भा० यू० में तो रहे होंगे, किन्तु अवेस्तामें इनका सर्वथा अभाव है।

सुप् विभक्तियोंकी दृष्टिसे भी संस्कृत तथा अवेस्तामें कई समानताएँ पाई जाती हैं। सर्वप्रथम हम पष्ठी बहुवचनकी विभक्ति-नाम् को लेते हैं, जो दोनोमें पाई जाती है। [ प्रा० भा० यू० में यह सम्बन्धबोधक बहुवचन केवल \*ओम् [Ōm] था। यह हलन्त तथा अदन्त [अजन्त] दोना प्रकारके शब्दोंमें प्रयुक्त होता था। यह \*ओम् संस्कृतमें जाकर आम् हो गया है। हलन्त शब्दोंमें तो संस्कृतमें यह आम् ही प्रयुक्त होता है, स० गच्छताम् [गच्छत् + आम्], जगताम्, पथाम्। किन्तु अदन्त शब्दोंमें यह प्राय नाम् हो गया है, स० देवानाम् [देव + न + आम्], भानूनाम्,

हरीणाम्<sup>१</sup> । वेदमें केवल एक स्थानपर देवा जन्ममें अदन्त शब्दमें आम् का प्रयोग मिलना है, लौकिक मस्कृतमें यह देवाना जन्मके रूपमें प्रयुक्त होगा । नाम् सुप् विभक्तिचिह्न सर्वथा नया न होकर प्रा० भा० यू० विभक्ति चिह्न \*भोम् से विकसित हुआ है । किन्तु यह प्रा० भा० यू० सुप् विभक्ति चिह्न केवल आ-कारान्त स्त्रीलिंग शब्दोंमें ही था । संभव है, इकारान्त तथा उकारान्त स्त्रीलिंग शब्दोंमें भी प्रयुक्त होता ही । इसके चिह्न पुरानी हाई जर्मनके स्त्रीलिंग शब्दोंमें पाये जाते हैं { उदा०—यु० हा० ज० 'गेबोनो' ( प्रातिपदिक गेबा )—' दानोका ) फिर भी यह बात ध्यान देनेकी है कि अ-कारान्त शब्दोंमें अवेस्ता तथा संस्कृतमें पाया जाने वाला [ अत् ] नाम् [ दे० देवानाम् ] भारत-ईरानो विशेषता ही है । यह बात अवश्य है कि यह चिह्न अवेस्तामें केवल एक ही स्थानपर पाया जाता है, सं० मत्स्यानाम्, अवे० मश्यानम् [ mās'yānam ] बाकी सब स्थानोंमें यद् धनम्, ही है । अकारान्त शब्दोंके पठ्ठी बहुवचनान्त रूपोंके सादृश्यपर इकारान्त, उकारान्त शब्दोंमें भी 'नाम्' पाया जाने लगा, सं० निरीणाम्, अवे० गद्दरिनम् [ gā-rinam ], सं० यशूनाम्, अवे० योहुनम् [ wohunam ] । कभी-कभी संस्कृत-में तो यह 'नाम्' पाया जाता है, पर अवेस्तामें प्राचीन 'आम्' ही पाया जाता है, सं० मखीनाम्, पशूनाम्; अवे० हाशाम् [ has'am ] पश्वम् [ pas'wam ] । मस्कृतमें अधिकतर अदन्त शब्दोंमें यह 'नाम्' पाया जाने लगा ।<sup>२</sup>

स्त्रीलिंग शब्दोंके अकारान्त रूपोंमें मस्कृत तथा अवेस्तामें परस्पर बड़ी समानता है । इस प्रकारके शब्दोंमें तृतीया, चतुर्थी, पञ्चमी, षष्ठी, सप्तमी तथा गम्बोधनके एकवचनके रूप एकने ही हैं । यह समानता अन्य भारत

१. ध्यान दीजिए, 'नाम्'के पहलेका ह्रस्व अ, इ, उ दीर्घ हो जाता है । देव + नाम्, हरि + नाम्, भानु + नाम्के रूप देवानाम्, हरीणाम्, भानूनाम् होते हैं ।

२. ऐकारान्त, ओकारान्त एवं औकारान्त शब्दोंके रूपोंमें 'नाम्' न होकर 'आम्' ही होता है, जैसे रायाम्, गवाम् आदि रूपोंमें ।

यूरोपीय भाषाओमें नही पाई जाती तृतीया एकवचनमें प्रा० भा० यू०  
 \*श्रा का ही प्रयोग होता था, यथा सं० मुकृत्वा अधीरता में जहाँ ये  
 तृतीयान्त है । [अ] या का प्रयोग सर्वनाम स्त्रीलिंगोंमें होता था, धीरे-धीरे  
 तथा, यथा, कयाके सादृश्यपर यह सत्राओमें भी प्रयुक्त होने लगा, सं०  
 रमया, लतया । चतुर्थी, षष्ठी [पचमी] तथा सप्तमीके एववचनोमें संस्कृतमें  
 द्व्यक्षर [ disyllabic ] विभक्तयन्त पाये जाते हैं । इन सभीमें श्राय् रूप  
 समान पाया जाता है । इस प्रकार संस्कृतमें क्रमशः -श्राय्, -आया, -  
 श्रायाम् [सं० लतार्य, लताया, लतायाम्] है । अन्य भा० यू० भाषाओमें  
 इनके समानान्तर विभक्तिचिह्न द्व्यक्षर न होकर एकाक्षर है । वस्तुत आ०  
 भा० यू०में \*श्राय् नही पाया जाता था और यह भारत-ईरानी वर्गमें हो  
 आकर आकारान्त स्त्रीलिंग शब्दोंमें प्रयुक्त होने लगा था । किन्तु अवैस्तामें  
 संस्कृतके समानान्तर रूप देखे जा सकते हैं, -श्रायाइ, [ayā], -श्राया, -श्राया  
 [ayā] जिनमें 'अ'का लृम्ब रूप तृतीया एकवचनके चिह्न 'अया'के सादृश्य-  
 पर माना जा सकता है । प्रा० भा० यू०में \*श्राय्वाला रूप नही था, भारत-  
 ईरानीमें आकर यह इकारान्त या -या अन्तवाले शब्दोंके सादृश्यके आधार-  
 पर चल पड़ा होगा । इस आधारपर श्राय्, श्राया., श्राया वो रुच्ये, रुच्या,  
 रुच्याम् या देव्यं, देव्या, देव्याम् जैसे रूपोंके आधारपर माना जा सकता  
 है । प्रा० भा० यू० भाषाओंमें चतुर्थी तथा सप्तमी दोनोंकी विभक्ति \*इ,  
 थी, इस प्रकार आकारान्त शब्दोंमें दोनों विभक्तियोंमें \*इ-श्राइ अन्त वाले  
 रूप बनते थे । धीरे-धीरे सप्तम्यन्तको चतुर्थ्यन्तसे भिन्न बतानेके लिए 'आइ'  
 के बादमें भारत-ईरानीमें 'आ' जोड़ दिया गया इस प्रकार \*श्राया  
 रूप बना । संस्कृतमें आकर इयमें अम् जोड़ दिया गया [श्राया = \*श्रा +  
 \*इ + श्रा + अम्] । इसी 'श्रायाम्'के सादृश्यपर चतुर्थी तथा पचमी-षष्ठी-  
 में भी दोनों भाषाओमें 'आकारान्त' रूपोंमें 'श्राय्'का समावेश हो गया ।

१. Wackernagel: Altindische Grammatik Vol. III P. 43



प्रकार उकारान्त शब्दोंके इस विभक्तिके रूपोंमें अवेस्तामें ख्र्वा [ xra-  
wā ], [ मि० सं० प्रथमा, जो संस्कृत ऋतु शब्दका तृतीया एकवचन है,  
वैदिक सम्प्रदायमें यह अक्षर रूप मिलना है, लीकिक सम्प्रदायमें यह रूप नहीं  
मिलना, यहाँ वह ऋतुना हो गया है । ], को छोड़कर प्राय 'ऊ' वाले रूप  
ही पाये जाते हैं, यथा अवेस्ता मङ्ग्यु [ mainyu ] [ सं० मन्थुना ] ।

यहाँ तब हमने संस्कृत तथा अवेस्ताको समानताकापर ध्यान दिया ।  
अब थोड़ा उन ध्वन्यात्मक भेदोंपर दृष्टिपात कर ले, जो संस्कृत तथा  
अवेस्तामें पाये जाते हैं । इन ध्वन्यात्मक विरोधताओंमें विशेष महत्त्व व्यञ्ज  
नध्वनियोंके पारस्परिक भेदका है । अतः यहाँ हम उन्हींका सक्षिप्त  
संकेत करेंगे ।

समस्त भारत यूरोपीय भाषाओंमें केवल संस्कृत तथा तज्जन्य भारतीय  
भाषाओंमें ही प्रा० भा० यू० स्पर्श ध्वनियोंके चारों रूपोंकी रक्षा की है ।  
इनमें अधोप अल्पप्राण, अपोप महाप्राण, सधोप अल्पप्राण तथा सधोप  
महाप्राण चारों प्रकारके रूप पाये जाते हैं, जिनके उदाहरण क्रमशः क, ख,  
ग, घ हैं । अवेस्ता तथा फारसी वर्णोंकी भाषाओंमें यह बात नहीं पाई जाती,  
वहाँ महाप्राण रूपोंमें परिवर्तन हो गया है । अधोप महाप्राण ए, थ, फ  
वहाँ सोपम ख, च, फ हो गये हैं । सधोप महाप्राण घ, ष, भका महा-  
प्राणत्व वहाँ सबथा लुप्त हो गया है, इनके स्थानपर ग, द, ब रूप पाये  
जाते हैं । यथा,

संस्कृत	अवेस्ता
शफ	सफ [saʃa]
यथा	यथा [yathā]
सखा	हख [haxa]
भूमि	बूमि [bumi]

धेनु	दधु [dacnu]
घर्म	गर्म [garm]
हन्ति	जहन्ति [zainti]

संस्कृत पदादि स अवेस्तामें ह पाया जाता है । संस्कृत पदादि श अवेस्ताम स होता है । संस्कृत प अवेस्तामें श पाया जाता है । संस्कृत पदादि ह वहाँ ज हो जाना है ।

संस्कृत	अवेस्ता
सप्त, सिन्धु	हप्त [hapta], हिन्दु [hindu]
शरत् [ -३ ]	शरअद [sarəda]
जोष-जोष्ट	जओश [zaos'a]
हस्त	जस्त [zastā]

[ आ० फा० दस्त ]

ये समस्त भाषाशास्त्रीय तथ्य इस बातकी पुष्टि करते हैं कि संस्कृत तथा अवेस्ता वस्तुतः भारत-यूरोपीय परिवारमें एक ऐसा युगल है, जिसे हम भारत-ईरानी वर्गके नामसे एक ही शाखा मान सकते हैं । इस संबन्धमें सबसे बड़ी बात ध्यानमें रखनेकी यह है कि संस्कृत या अवेस्ता शब्दसे हमारा तात्पर्य इन भाषाओंके एक ही रूपसे नहीं है । जब हम संस्कृत या अवेस्ता शब्दका प्रयोग करते हैं, तो हमारा तात्पर्य उन समस्त विभाषाया या बोलिया-स हैं जो संस्कृत या अवेस्ता कालमें भारत तथा ईरानके विभिन्न उपवर्गोंके द्वारा बोली जाती थी । यह प्रयोग ठीक उसी तरहसे किया जा रहा है, जिन प्रकार केवल 'प्राकृत' शब्दसे हमारा तात्पर्य प्राकृतके एक रूपसे न होकर पैशाची, शौरसेनी, महाराष्ट्री तथा मागधी सभी भेदोंसे है, अथवा जिन प्रकार 'हिन्दी' शब्दके प्रयोगमें खड़ी बोली, ब्रज, बागड़, बघोजी, बुन्देली [यहाँ तक कि राजस्थानी, अवधी, भोजपुरी आदि भी] आदिका भी समावेश हो जाता है । वैदिक कालमें संस्कृत भाषाके बोलनेवाले भी कई वर्गोंमें विभक्त थे तथा इन विभिन्न वर्गोंमें कुछ निजी ध्वन्यात्मक तथा पदरचनात्मक विशेषताएँ

प्रकार उकारान्त मन्दीकि इम विभक्तिवने रूपोमें अवेस्तामे लुध्या [ *raθi-  
wa* ], [ मि० रा० अरवा, जो मस्कृत मनु शब्दका तृतीया एकवचन है, वैदिक मस्कृतमें यह अरवा रूप मिलना है, लौकिक मस्कृतमें यह रूप नहीं मिलता, यहाँ वह कतुना हो गया है । ], को छोड़कर प्राय 'ऊ' वाले रूप ही पाये जाते हैं, यथा अवेस्ता मइन्नु [ *mainyu* ] [ सं० मन्युना ] ।

यहाँ तब हमने मस्कृत तथा अवेस्ताको समानताओपर ध्यान दिया । अब थोडा उन ध्वन्यात्मक भेदोपर वृष्टिपात कर ले, जो मस्कृत तथा अवेस्तामें पाये जाते हैं । इन ध्वन्यात्मक विशेषताओमें विशेष महत्त्व व्यञ्जनध्वनियोके पारस्परिक भेदका है । अत यहाँ हम उन्हीका सक्षिप्त सवेन करेगे ।

ममस्त भारतन यूरोपीय भाषाओमें केवल मस्कृत तथा तञ्जन्य भारतीय भाषाओने ही प्रा० भा० यू० स्पर्श ध्वनियोके चारो रूपाकी रसा की है । इनमें अधोप अल्पप्राण, अधोप महाप्राण, सधोप अल्पप्राण तथा सधोप महाप्राण चारों प्रकारके रूप पाये जाते हैं, जिनके उदाहरण क्रमशः क, ख, ग, घ है । अवेस्ता तथा फारसी बर्गकी भाषाओमें यह बात नहीं पाई जाती, वहाँ महाप्राण रूपोंमें परिवर्तन हो गया है । अधोप महाप्राण ख, थ, फ वहाँ मोप्म छ, च, फ हो गये हैं । सधोप महाप्राण घ, ष, भका महाप्राणत्व वहाँ सबथा लुप्त हो गया है, इनके स्थानपर ग, ड, ष रूप पाये जाते हैं । यथा,

संस्कृत	अवेस्ता
शफ	सफ [ <i>safa</i> ]
यथा	यथा [ <i>yaθa</i> ]
सत्वा	हल [ <i>haθa</i> ]
भूमि	भूमि [ <i>bumi</i> ]

धेनु	दएनु [dacnu]
घर्म	गर्म [garm]
हन्ति	जइन्ति [zainti]

संस्कृत पदादि स अवेस्तामे ह पाया जाता है । संस्कृत पदादि श अवेस्तामे स होता है । संस्कृत य अवेस्तामे श पाया जाता है । संस्कृत पदादि ह वहाँ य हो जाना है ।

संस्कृत	अवेस्ता
सप्त, सिन्धु	हप्त [hapta], हिन्दु [hindu]
शरत् [ -द् ]	सरअद् [sarəda]
जोष-जोष्ट	जमोश [zaos̄a]
हस्त	जस्त [zasta]

[ अर० झा० दस्त ]

ये समस्त भाषाशास्त्रीय तथ्य इस बातकी पुष्टि करते हैं कि संस्कृत तथा अवेस्ता वस्तुतः भारत-यूरोपीय परिवारमें एक ऐसा युगल है, जिसे हम भारत-ईरानी वर्गके नामसे एक ही शाखा मान सकते हैं । इस संबंधमें सबसे बड़ी बात ध्यानमें रखनेकी यह है कि संस्कृत या अवेस्ता शब्दसे हमारा तात्पर्य इन भाषाओंके एक ही रूपसे नहीं है । जब हम संस्कृत या अवेस्ता शब्दका प्रयोग करते हैं, तो हमारा तात्पर्य उन समस्त विभाषाओं या बोलियोंमें है जो संस्कृत या अवेस्ता कालमें भारत तथा ईरानके विभिन्न उपवर्गोंके द्वारा बोली जाती थी । यह प्रयोग ठीक उमी तरहमें किया जा रहा है, जिस प्रकार केवल 'प्राकृत' शब्दसे हमारा तात्पर्य प्राकृतके एक रूपसे न होकर पंजाबी, शौरसेनी, महाराष्ट्री तथा मागधी सभी भेदोंमें है, अथवा जिस प्रकार 'हिन्दी' शब्दके प्रयोगमें खड़ी बोली, यज, बांगडू, बज्जी, बुन्देली [यहाँ तक कि राजस्थानी, अवधी, भोजपुरी आदि भी] आदिका भी समावेश हो जाता है । वैदिक कालमें संस्कृत भाषाके बोलनेवाले भी कई वर्गोंमें विभक्त थे तथा इन विभिन्न वर्गोंमें कुछ निजी ध्वन्यात्मक तथा पदरचनात्मक विशेषताएँ

रही होगी, यद्यपि ये विशेषताएँ अत्यधिक नगण्य थीं। पर इन विशेषताओंका पता ऋग्वेदके मन्त्रभाग तथा अन्य वैदिक साहित्यमें प्रयुक्त वैकल्पिक रूपोंमें लगता है। याद रखाए, वेद किसी एक मानवकी कृति न होकर विभिन्न वर्गोंके ब्राह्मणवर्ग [ ऋषिवर्ग ] की रचनाएँ हैं। यदि 'रचना' शब्द जरा बुरा लगे, तो मैं कहूँगा कि ये मन्त्र विभिन्न वर्गोंके ऋषियोंके द्वारा प्रत्यक्ष किये गये हैं। अतः तत्सू वर्गोंकी विभाषाकी ध्वन्यात्मक तथा पद-रचनात्मक विशेषताएँ इनमें आ गई हैं। साथ ही कई मन्त्र भाग सीमान्त प्रदेशमें रचे गये हैं, तो कई कुर्याञ्चालमें, तो कई अन्तर्बेदमें। इसी तरह मन्त्रोंमें कालभेद भी पाया जाता है। ठीक यही बात अवेस्ताकी गाथाओंके विषयमें कही जा सकती है, जिनमें भी विभिन्न वैभाषिक विशेषताएँ स्पष्ट हैं। अवेस्ताकी गाथाएँ एक ही कालकी नहीं हैं, ठीक उसी तरह जैसे वैदिक मन्त्र भी एक ही कालकी रचना नहीं हैं। इस संबंधमें यह ध्यान देना आवश्यक है कि प्राचीनतम अवेस्ता भाषा प्राचीनतम संस्कृतसे भी अधिक 'आर्य' [ archaic ] है। अवेस्ताकी प्राचीन गाथाओंमें वर्तमानकालके उत्तम पुरुष एक वचनमें आ [ a ] तिङ् विभक्ति पाई जाती है, जो प्रा० भा० यू० वर्णमाला उत्तमपुरुष ए० व० विभक्ति \*ओ से विकसित है। जैसा कि हम देखा चुके हैं, प्रा० भा० यू० में वर्तमानके उत्तमपुरुष एकवचनके चिह्न \*ओ तथा \*मि दोनों पाये जाते हैं। अवेस्तामें भी [संस्कृतकी भांति] वादकी गाथाओंमें केवल मि रूप ही पाया जाने लगा है।

म० दधामि, अवेस्ता दधामि [ dadāmi ] प्री० तिथेमि [ tithemi ]  
म० भरामि, अवे० धरमि [ barami ] प्री० फरो [ fero ]

इस 'आर्य' प्रयोगके अनिश्चित गाथाकी विभाषामें एक और "आर्य" [ archaic ] प्रयोग पाया जाता है, जो प्राचीनतम संस्कृतमें इतना अधिक नहीं पाया जाता। भारत ईरानी वर्गमें 'मघोप महाप्राण + अपाय' समुदाय ध्वनिर्था 'मघोप + मघोप महाप्राण' पाई जाती है। यह नियम जर्मन विद्वान्

द्यार्थोलोमेवे नामपर "द्यार्थोलोमेता नियम" कहलाना है। द्यार्थोलोमेने अनेमताकी भाषापर महान् शक्ये किया है। द्यार्थोलोमेवे इग नियमरे अनु-  
गार गायत्री विभाषामें अन्धधित आर्ष प्रयोग पाये जाते हैं, जबकि संस्कृतमें  
आर्ष [प्राचीन] तथा वाद वेदोनो प्रकारवे रूप नहीं पाये जाते। आदिम  
भारतपुरोपीय भाषामें शब्दोंरे मूल रूपोंमें आदि तथा अन्तकी ध्वनियाँ  
महाप्राण पाई जा सकती हैं, किन्तु संस्कृतमें दोनों स्थानोंपर प्रायः महाप्राण  
ध्वनियाँ नहीं पाई जाती। ऐसी दशामें संस्कृतमें अन्तरी ध्वनिकी महा-  
प्राणता प्रायः लुप्त हो जाती है। यह लोप अधिकतर 'स' ध्वनिके योगमें  
पाया जाता है। किन्तु इग विषयरे संस्कृतमें कई अपवाद भी पाये जाते हैं।  
यथा संस्कृतरे √ बह्, [ \*√ घघ्य् \*dhaghy- ] के सामान्य भूतमें  
दश-[ \*घश नहीं ] रूप पाया जाता है। इसी प्रकार संस्कृत √ बुह्,  
[ प्रा० भा० पू० \*√ घृघ्य् [\*dhughy-] ] के सामान्य भूतमें "दुष-  
[घृश-नहीं] रूप पाया जाता है। यह प्राणताका लोप एक प्रकारकी समस्या-  
सा है। इसीलिए पदपाठमें, ऐसी दशामें 'द' के स्थानपर 'घ' का प्रयोग  
पाया जाता है। इसी प्रकार √ भस् तथा √ घम् से व्युत्पन्न "बप्स-"  
तथा "जक्ष-" भी ऐसी ही समस्या है, जिनमें महाप्राणता सर्वथा नहीं पाई  
जाती। इस बातमें स्पष्ट है कि महाप्राण तथा म के योगका पूर्ववर्ती  
महाप्राण ध्वनिपर वंसा ही प्रभाव पाया जाता है, जैसा कि वेदल परवर्ती  
महाप्राणता। किन्तु यह नियम उग समय कार्यशील था जब स-ध्वनिके  
योगमें मूठ हणोके अन्तमें पाई जानेवाली सघोष महाप्राण ध्वनि अघोष  
अल्पप्राण [ क्त, त्त, प्त ] नहीं हुई थी। अतः यह मानना अनु-  
चित न होगा कि "सघोष महाप्राण + स" में ऊष्मध्वनि भी सघोष हो

१. देखिए परिच्छेद ५.

२. ध्रान्त रलिए "स" [s] अघोष ध्वनि है, तथा इसका सघो  
रूप "ज" [z] है।

गई थी, तथा वार्थोलोमेके मतानुसार ऊष्म तथा महाप्राणतामे वर्णविपर्यय [metathesis] भी हो गया था। यथा—

“घ् + स”, “घ् + स” “भ् + स” ध्वनियाँ क्रमशः

“ग्ह”, “दग्ह”, “ब्ह”, [gzh, dzh, bzh]

हो गई थी। गाथाकी विभाषामे हमे ये “आपं” रूप स्पष्ट मिलते हैं, यथा,

अवे० दिग्जइदवाड [digu zaidyā] [वज् ∠ ब्ज् ∠ ब्ग्ह ∠ भ् + स]

अवे० अघोम्ता [agha] [गज् ∠ ग्ग्ह ∠ घ् + स]

परवर्ती अव्ययों आकर अघोप ध्वनियोंके रूप अवश्य पाये जाते हैं, यथा—

अवे० हंगर्भप्रशाने [hangarabshāne] [पश ∠ भ् + स]

अवे० दक्ष [daxśa] [दक्ष ∠ घ् + स]

इसके अतिरिक्त अवेस्ताकी प्राचीनतम गाथाओमें एक और भी आपं प्रयोग पाया जाता है। धा० भा० यू० की एक विशेषता यह भी थी कि नपुंसकके बहुवचन कर्ताक साथ एकवचन क्रियाका प्रयोग किया जाता था। वस्तुतः इमे स्त्रीलिंगके एकवचनके समकक्ष माना जाता है। नपुंसकलिंगके बहुवचनका कैकल्यिक ‘आवागन्त’ रूप ऋग्वेदमें भी पाया जाता है, यथा भुवनानि विश्वा जहाँ दिश्या वस्तुतः विश्वानि का वैकल्यिक रूप है। ग्रीकमें भी इमे एकवचन मानकर एकवचन क्रियाका प्रयोग पाया जाता है। अवेस्ताकी प्राचीनतम गाथाओमें इराका आपं प्रयोग बहुत पाया जाना है, यद्यपि परवर्ती गाथाओमें यह प्रयोग कम हो गया है। ऋग्वेदमें इन प्रकारके प्रयोग बहुत कम पाये जाते हैं।

इन सब विशेषताओंको देखनेसे ज्ञात होता है कि सम्युत तथा अवेस्ता परस्पर जितनी अधिक निकट हैं तथा भाषाभान्तर ही नहीं वैदिक साहित्यका विद्यार्थी भी अपने अध्ययनमें अवेस्ताको नहीं छोड़ सकता। अवेस्ताकी

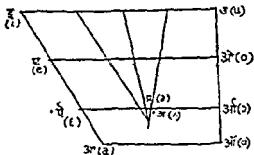
१. Wackernagel : Altindische Grammatik [Lautlehre]

भाषाओंके तुलनात्मक अध्ययनमें संस्कृत भाषाकी कई भाषावैज्ञानिक समस्याएँ, तथा वैदिक साहित्यके कई आर्ष प्रयोगोक्ती गुटिषयाँ मुलज्ञ सखनी हैं । इन प्रकारके तुलनात्मक अध्ययनके कई महत्त्वपूर्ण तथा मजेशर गवेषणाएँ थी हैं । यही अध्ययन हमें बताना है कि संस्कृत धातु  $\sqrt{\text{भू}}$  का प्राचीन भारत ईरानी रूप  $\text{अ्र}$  था, जिसका  $\text{अ्रव्}$  [ araw ] रूप अवेस्तामें पाया जाता है । संस्कृत तथा अवेस्ता दोनों प्रा० भा० यू० की वे जुड़वाँ बेटियाँ हैं, जिनकी प्रवृत्ति जाननेके लिए, एककी भी प्रवृत्ति तथा आवृत्ति जाननेके लिए, दूसरीकी प्रवृत्ति व आवृत्तिकी जानकारी भाषावैज्ञानिकके लिए जरूरी हो जाती है ।



## संस्कृत ध्वनियाँ तथा स्वर

किसी भी भाषाकी ध्वनियोंको सर्वप्रथम दो प्रकारकी माना जा सकता है —स्वर तथा व्यञ्जन । स्वरोके उच्चारणमें वायु मुखसे इस प्रकार निकलता है कि मुखके अतर्गत उसका अवरोध नहीं होता । ये ध्वनियाँ जिह्वा तथा ओंठोकी विभिन्न स्थितियोंके अनुसार विभिन्न रूपमें उच्चरित होती है । जिह्वाको उठाया जा सकता है, नीचा किया जा सकता है, आगे बढ़ाया जा सकता है, पीछे हटाया जा सकता है तथा सामान्य अवस्थामे पडी रक्ता जा सकता है, ओंठोको गोलाकार बनाया जा सकता है, पीछे हटाया जा सकता है, अथवा अपनी सामान्य स्थितिमें रक्ता जा सकता है । कभी-कभी स्वरके उच्चारणके समय नासिका-द्वार भी खुला रक्ता जा सकता है, और इस दशामें मानुनासिक स्वरका उच्चारण होना है, यथा तांशुक्रमे, द्वितीय ध्वनि 'म्ना' का उच्चारण सानुनासिक [मानुस्वार] ही है । जिह्वाकी विभिन्न स्थितियोंके अनुसार हम इन स्वर ध्वनियोंको गश्च, अग्र तथा केन्द्रीय इन तीन कोटियोंमें विभक्त कर देते हैं । जिह्वाकी इन स्थितियोंके आधार-पर मानस्वरोकी उच्चारण स्थितिको हम इस चतुर्भुजस अक्षर कर सकते हैं ।



हम चतुर्भुजकी इ आ रेखाके स्वर इ, ए, ऐ, आ अग्र स्वर है, इनके उच्चारणमें जिह्वा आगेकी तरफ बढ़ती है । इ में जिह्वाकी स्थिति उच्चतम रहती है, आ में निम्नतम । इसी प्रकार पश्च ध्वनियोंमें जिह्वा पीछे सटी रहती है, वस्तुतः उसका पिठला भाग कोमल तालुकी ओर उठता है । केन्द्रीय स्वर 'अ' [a] के समय जिह्वा सामान्य स्थितिमें पडी रहती है । केन्द्रीय स्वरकी पश्च-प्रकृति अ [ʌ] के समय ओठोकी चञ्चलता भी पाई जाती है, जो 'अ' [a] के उच्चारणमें नहीं पाई जाती । ऐ, आ ध्वनियाँ विवृत हैं, इनके उच्चारणमें मुख विवृत रहता है तथा जिह्वा आ या आके उच्चारणकी अपेक्षा कुछ ऊपर उठी हुई रहती है । ए, ओके उच्चारणमें जिह्वा और अधिक उठी रहती है, तथा मुख उतना विवृत नहीं रहता । स्वरोका अक्षर संघटना [syllabic function] में प्रमुख हाथ होता है । कभी-कभी दो स्वर भी एक साथ मिलकर अक्षरसंघटनाका कार्य करते हैं । इन्हें ध्वनियुग्म [diphthong] कहा जाता है । संस्कृतकी ऐ [ आइ ], औ [ आउ ] ध्वनियाँ ध्वनियुग्म हैं ।

प्राचीन भारतीय ध्वनिशास्त्रियोंने ध्वनियोंका वर्गीकरण प्रयत्न, स्थान तथा करणकी दृष्टिसे किया है । स्थान तथा करणको आधुनिक ध्वनि-विज्ञानकी परिभाषामें हम 'पॉइण्ट आव् आर्टिकुलेशन' या 'प्लेस आव् आर्टिकुलेशन' तथा करणको 'आर्टिकुलेटर' कहते हैं । द्वयोष्ठ्य तथा दन्तोष्ठ्य ध्वनियोंको छोड़कर प्रायः सभी ध्वनियोंमें करण जिह्वाका कोई-न-कोई भाग होता है, स्थान उसके द्वारा स्पृष्ट अन्तर्मुखका अंगविशेष । प्राचीन भारतीय आचार्योंने अ, आको कण्ठ्य, इ, ई, ए, ऐको तालव्य, तथा उ, ऊ, ओ, औ को ओष्ठ्य माना है । ऋ, ॠ तथा लृ को उन्होंने जिह्वा-मूलीय माना है । कात्यायन प्रातिशाख्यके मतानुसार लृ दन्त्य है । भाषा-वैज्ञानिक दृष्टिसे ऋ, ॠ, लृ वस्तुतः इ, लृके अक्षर संघटनाकारी रूप हैं, स्वतन्त्र स्वर नहीं । ध्वनिशास्त्री अन्य स्वरोका वर्गीकरण जिह्वाकी स्थितिके अनुसार करना विशेष ठीक समझता है ।

व्यंजन ध्वनियाँको हम दो कौटियामें विभक्त करते हैं—स्पर्श [stops] तथा निरन्तर [continuants]। स्पर्श ध्वनिने उच्चारणमें एक क्षणक लिए म्पनके अन्दर वायुका अवरोध हो जाता है, तदनन्तर ध्वनि मुक्त की जाती है। यथा पके उच्चारणमें, ओंठाको एक-दूसरेसे सटानेसे वायुका अवरोध होता है, तत परचात् ओंठाको खोलनेपर ध्वनि सुनाई देती है। निरन्तर व्यञ्जनाम स्पर्श ध्वनियाँकी भाँति वायुका पूरा अवरोध नहीं हो पाता, पञ्च इनका उच्चारण करते समय वायु मुखसे निकलता रहता है। वा, स, य आदि ध्वनियाँ निरन्तर हैं। भारतीय वैयाकरणक मतानुसार क से म तककी ध्वनियाँ स्पर्श हैं—कादयो भान्ता स्पर्शा। किन्तु आधुनिक ध्वनिशास्त्री अनुनासिक ध्वनियोंको 'निरन्तर' माननेके पक्षमें हैं। व्यञ्जनका दूसरे ढगवा भेद स्वरतन्त्रिया [vocal chords]के कम्पनके आधारपर किया जाता है। गघोष ध्वनियाँ, यथा ग, ज, ङ, ढ, घ आदिके उच्चारणमें स्वर-तन्त्रियाम कम्पन होता है जो नाद या घोषको व्यक्त करता है, अघोषध्वनियाँ, यथा क, ख, ट, ल, व आदिके, उच्चारणमें स्वरतन्त्रियामें कम्पन नहीं होता, फलत नाद उत्पन्न नहीं होता। इसके अतिरिक्त प्राणनाके आधारपर स्पश ध्वनियाँको अल्पप्राण तथा महाप्राण रूपमें भी विभक्त किया जाता है। स्थानभेदकी दृष्टिसे इन व्यञ्जन ध्वनियोंका वर्गीकरण यों किया जाता है —

१ कर्णध्वनियोंको संस्कृत वैयाकरणोंन कण्ठ्य कहा है। प्रातिशाख्यामें इनका स्थान जिह्वामूल माना गया है।<sup>१</sup> कर्णके उच्चारणमें जिह्वाका मूल

१ कण्ठ्योऽकार प्रथमश्चर्म्मो च ऋकारलकारावय षष्ठ ऊठमा, जिह्वामूलीया प्रथमश्चर्म्म [ऋक् प्रा० प्रथम पटल, १८], [ऋ प्रा प १९-२०] ताय हो—अह्वित्तर्जनीया कण्ठे [शुनलयजु प्रा० १७१] इचशोपास्ताली [१ ६६], उवोषोपथा ओठे [१ ७०], ऋत्वकी जिह्वामूले [१ ६५], लूलसिता वते।

ऋ षकी जिह्वामूले [शु० प० प्रा० १. ६५] "जिह्वामूलीया प्रथमश्चर्म्म [ऋक् प्रा० १ १८]

कोमल तानु [velum] को छूता है । आधुनिक ध्वनिशास्त्री इन ध्वनियोंको कोमलतालुजन्य [velar] कहना अधिक सगत समझते हैं ।

२. चर्षण ध्वनियोंको तालव्य माना जाता है । इनके उच्चारणमें जिह्वा मध्यके द्वारा कंठर तालुके दोनो छोरोंका स्पर्श किया जाता है । ससृृतकी ये ध्वनियाँ शुद्ध तालव्य ध्वनियाँ थी, पर आजकी हमारी भाषाओंकी ये ध्वनियाँ सौम्य स्पर्श हैं, इन्हे ध्वनिवैज्ञानिक शब्दावलीमें हम सौम्य स्पर्श [affricates] कहेंगे । इस वाकका सवेन डॉ० चाटुर्ज्यनि अपनी 'बंगाली फोनिटिक रीडर' में किया है । ब्रज, हिन्दी तथा अवधीकी च, छ, ज, झ, ध्वनियाँ तालव्य न होकर सौम्य स्पर्श हैं ।<sup>३</sup>

३. टर्षण ध्वनियोंको मूर्धन्य कहा जाता है ।<sup>४</sup> किन्तु मूर्धन्य नाम ठीक नहीं जान पटना । आधुनिक ध्वनिशास्त्री इस वर्गकी ध्वनियोंके लिए 'रिट्रोफ्लेक्स' [retroflex] शब्दका प्रयोग करते हैं । इस वर्गकी ध्वनियोंके उच्चारणमें जिह्वाका अग्र भाग उलटकर बटोर तालुके किसी भी अंगको छूता है । जिह्वाके इस प्रतिवेष्टितत्वका मकेत प्रातिशाल्योंमें भी मिलता है ।<sup>५</sup>

१. इचोयास्ताली [शु. य. प्रा. १. ६६], तालव्यावेकारचकारवर्गो [अ. प्रा. १. १६]

२. Dr. Saksena. Evolution of Awadhi p. 31

३. पटौ मूर्धनि [शु. य. प्रा. १. ६७]; मूर्धन्यो षकारटकारवर्गो [अ. प्रा. १. १६]

४. जिह्वाभेण प्रतिवेष्टय मूर्धनि टवर्गे [तंत्तरीय प्रा. २. ३७]; मूर्धन्याना जिह्वाय प्रतिवेष्टितम् [अथर्वप्राति १. २२], मूर्धन्य प्रतिवेष्ट्याग्रम् [वाजसनेय प्रा. १. ७८] साथ ही देखिए—Daniel Johns : An Outline Of English Phonetics P, 119

मूलीयकका उच्चारण 'ख' सा होता है, यथा अन्तकरण [अन्त [ख] करण], उपध्मानीय दन्तोष्ठ्य ध्वनि है, इसके उच्चारणमें अधरोष्ठ ऊपरके दाँताका हल्का-सा स्पर्श करता है, इसका उच्चारण 'फ' सा होता है, यथा अन्तपुर [अन्त [फ] पुर]। दन्तोष्ठ्य 'व्व' इसी 'फ' का सघोष रूप है। अन्तर्राष्ट्रीय ध्वनिशास्त्रीय सकेतलिपिमें इनके लिए क्रमशः φ, β चिह्नाका प्रयोग होता है। 'श्व' का उच्चारण संस्कृतमें अलगस ध्वनि [phoneme] न होकर द्वयोष्ठ्य 'व' का ही ध्वन्यग [allophone] माना जाना चाहिए। इसका उच्चारण भी केवल वैदिक संस्कृतमें पाया जाता है, जहाँ पदादि 'श्व' [w] का 'व्व' [β] पढ़नेकी प्रथा है। शिष्याओंमें इसका सकेत मिठना है — मुख्यकारो विज्ञेय पदादौ पठितो भवेत् [माध्यन्दिनी शिक्षा २ ६]।

संस्कृत ध्वनियोजना यह वर्गीकरण निम्न मानचित्रसे जाना जा सकता है —

स्थान	स्पर्श				निरन्तर			
	अल्पप्राण		महाप्राण				अनुनासिक	
	अघोष	सघोष	अघोष	सघोष	अघोष	सघोष	अघोष	सघोष
कण्ठ्य या कोमलतालुजन्य	क	ग	ख	घ	ह ०	ह		ङ
तालुज्य प्रतिवेष्टित	च	ज	छ	झ	श	ष		ञ
या मूर्धन्य	ट	ड	ठ	ड	ष			ण
दन्त्य	त	द	थ	ध	र	ल		न
द्वयोष्ठ्य	प	ब	फ	भ		व		म
वत्स्य						र		[न]
दन्तोष्ठ्य					[फ] प	[व्व]		

संस्कृतके अतर्गत अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ओ ऐविव स्वर ध्वनियाँ, तथा ए, औ ध्वनिमुग्ध हैं। इनके अतिरिक्त 'र' तथा 'ल' के अक्षर सघटनाकारिरूप ऋ, ॠ, लृ वा भी ग्रहण संस्कृत स्वरोंमें किया जा सकता है, जहाँ ये स्वरका कार्य करते हैं। संस्कृतमें पाँच अनुनासिक ध्वनियाँ हैं — ङ, ञ, ण, न, म। पर भाषावैज्ञानिक दृष्टिसे संस्कृतमें तीन ही अनुनासिक ध्वनियाँ [nasal phonemes] मानी जा सकती हैं — ण, न, म, तथा ङ, अ वस्तुतः न के ही ध्वन्य [allophones] हैं। थाकेरनागेलने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक "अतिन्दिस्के ग्रामातीक" [प्राचीन भारतीयकी व्याकरण] में 'ङ' को संस्कृतमें अलग ध्वनि माना है, किन्तु हम इस मतसे मनुष्य नहीं। ब्लॉखने अवश्य ही 'न', 'म' तथा 'ण' ये तीन अनुनासिक ध्वनियाँ संस्कृतमें मानी हैं।<sup>१</sup> कुछ विद्वानोंके मतानुसार टवर्गोप स्पृष्ट ध्वनियो तथा 'प' को संस्कृतको अलगसे ध्वनि न मानकर तवर्ग तथा स का नतिभाव [Prosody of retroflexion] मानना ठीक होगा, पर हम इस मतसे सहमत नहीं क्योंकि संस्कृतको टवर्ग ध्वनियाँ वस्तुतः दन्त्याका नतिभाव न होकर तालव्य ध्वनियोंका विकास है।

### संस्कृत स्वर-ध्वनियोंका विकास—

संस्कृतकी स्वर सपत्ति भारत ईरानी स्वरोंके अत्यधिक निकट है। इस भाषामें ह्रस्व तथा दीर्घ अ, इ, उ, ऋ [ लृ केवल एक ही संस्कृत धातु क्लृप् म मिलता है, जिसका रूप अवेस्तामें 'क़र्भर्अप्' [ kərəp ] है ], पाय जाते हैं। इसके अतिरिक्त एनाक्षरीभूत ध्वनिमुग्ध ए, ओ तथा

1 Wackernagel Altindische Grammatik [Lautlehre] V. I p. 2, §2

२. Bloch L'Indo Aryen. P 71.

३ एया नतिदन्त्यमूर्धन्यभाव [श्रुक् प्रा० ५ ६१], दन्त्यस्य मूर्धन्या-पत्तिर्नति [वाजसनेयी प्रा० १ ४२]

ऐ, औ भी पाये जाते हैं। इसके अनिखिन्न लृम्ब तथा दीर्घ अ, इ, उ के सानुनासिक रूप भी पाये जाते हैं, जिसे प्रातिशाह्यो तथा शिक्षा-प्रयोगों में "रक्त" सजा दी गई है।

अ—संस्कृत अ का विकास प्रा० भा० यू० \*अ, \*ए, \*ओ तथा अक्षरघटनाकारी स्वरीभूत अनुनासिक \*न्, \*म् से हुआ है। उदाहरणार्थ, सं० अजति, अवेस्ता अजदति [azaiti], ग्रीक अगेइ [agei]

∠ \*अगेइ [\*agei]

„ अस्ति „ अस्तिष् [astiy], ग्रीक ऐस्ति [esti]

∠ \*ऐस्ति [\*esti]

„ पति „ पइतिष् [patiy] ग्रीक पोसिस् [posis]

∠ \*पोसिस् [\*potis]

„ दश „ दस [dasa], ग्रीक देक [deka]

∠ \*देक्म् [\*dekm]

„ तत<sup>१</sup> „ .... .... ग्रीक ततोस् [tatos]

∠ \*ततोस् [\*tatos]

१,

आ—संस्कृत आ का विकास इन्हीके दीर्घरूपसे हुआ है। आदिम भा० यू० आ, ए, ओ तथा स्वरीभूत न्, म् के दीर्घरूपसे आ का विकास हुआ है। यथा,

सं० मात् [मातर्] अवे० मातर् [matar] ग्रीक मातेर्

[mater] ∠ \*मातेर् [\*mater]

सं० मा „ मा [ma] ग्रीक मे [me] ∠ \*मे [me]

१. रक्तसंज्ञोऽनुनासिकः [ऋक् प्रा० १. १७]

२. तनु विस्तारे इति धातोः क्तप्रत्ययः।

„ दुहिता [दुहित्] „ दुदा [ duḍda ] „ युगातेर [ thugater̄ ]  
 ∠ \*दुघ्मतेर [dughater̄]

[३] ससृजत् इ, उ जहाँ इर्, उर् के रूपमें पाये जाते हैं, वहाँ प्रा० भा० यू० \*ऋ [r̄] से विकसित है । यथा—

स० गुरु, अवैस्ता गोरुह [gouru], ग्रीक बरुस् [barus] ∠ \*गृउस्  
 [\*grus]

„ गिरि „ गइरि [gairi] „ ∠ \*गृरि [गृर्भ] [\*grri]  
 [\*grri]

ऋ, ॠ, लृ —संस्कृत ऋ, ॠ, लृ शुद्ध स्वर न होकर र्, ल् के स्वरीभूत रूप हैं । ऋत्प्रतिशास्त्रके टीकाकार उज्वटके मतानुसार 'ऋ' को चार पादमें विभक्त किया जा सकता है । इनमेंसे प्रथम तथा अन्तिम पाद स्वरका तथा मध्यक दो पाद व्यञ्जनके हैं । इसे हम या व्यञ्जन कर सकते हैं —

ऋ =  $\frac{अ}{४} + \frac{र}{२} + \frac{अ}{४}$  इसीका दीर्घ रूप ऋ है । इसी प्रकार लृ को

$\frac{अ}{४} + \frac{ल}{२} + \frac{अ}{४}$  माना जा सकता है । ऋ तथा लृ दोनोंका अवैस्तामं

अर्द्ध [ar̄d̄] के रूपमें विकसित हुआ है । ये सभी प्रा० भा० यू० \*ऋ [r̄]

\*लृ [l̄] से विकसित हुए हैं । संस्कृतका 'लृ' जो केवल 'बलृप्' में पाया

जाता है, सम्भवत प्रा० भा० यू० \*ऋ [\*r̄] से विकसित हुआ है ।

प्रा० भा० यू० \*र, \*ल दोनों ही संस्कृतमें ऋ के रूपमें विकसित हुए हैं ।

स० √ मृद् — ∠ \*मृर्द्ध [\*mr̄zd̄]

„ दृङ् ∠ \*दृर्द्ध [\*dr̄zd̄ha]



„ वृढ [परि-], ∠ \* वृद्ध [v.rzdha]

„ पृथु अवे० एभ्रुअपु [pəra:thu] ∠ \*पृथु [prithu]

संस्कृत दीर्घ ऋ को संस्कृत इकारान्त तथा उकारान्त शब्दोंके द्वितीया तथा षष्ठी बहुवचन 'हरोन्-हरोणाम्', 'भानून्-भानूनाम्' के सादृश्य पर ऋकारान्त शब्दोंमें बनाया गया रूप मानते हैं। वस्तुतः दीर्घ ऋ केवल इही दो विभक्तियोंके बहुवचन रूपोंमें [ऋकारान्त शब्दोंमें] पाया जाता है, यथा पितॄन्, श्रोतॄन्, पितॄणाम्, श्रोतॄणाम्; मातॄः, स्वसृणाम्। अतः इमे प्रा० भा० यू० दीर्घ \*ऋ [r̄] से विकसित नहीं माना जा सकता।

ए, ओ—संस्कृत की ए, ओ ध्वनियों क्रमशः प्रा० भा० यू० \*अइ, \*एइ, \*ओइ, तथा \*अउ, \*एउ, \*ओउ से विकसित हुई हैं। ये दोनों मूलतः गन्धशर है। इनके विकासके उदाहरण रूपमें ये रक्ते जा सकते हैं —

ग० अइये, ग्रीक हेप्पाइ [heppoi] ∠ \*एक्वाइ [ek<sup>10</sup>oe]

„ भवेत् [मि० ग्रीक, फेरोइतो, [pheroito] ∠ \*भवेइतेर [bhe<sup>10</sup>-oito]।

संस्कृत भाषामें ही अइ [अय्], तथा अउ [अव्], ए तथा ओ के रूपमें परिवर्तित होते मिलते हैं — मघवन्-मघोन, भगवान्-भगोस्।

ऐ, औ—संस्कृत ऐ, औ ध्वनियुग्मोंका विकास प्रा० भा० यू० गन्धशरों [ ध्वनियुगमो ] से हुआ है, जिनमें प्रथम स्वरध्वनि दीर्घ \*आ, \*ए, \*ओ [ā ē ō] रही है। ऐ, औ संस्कृतमें भी आय् तथा आव् के रूपमें परिवर्तित होने देखे जाते हैं। यथा, गौ, गावः, नौ, नौभि, नाव,

धीः, दावा । इनके प्रा० भा० यु० से उत्पन्न विकासके लिए ये उदाहरण दिये जा सकते हैं :—

सं० प्ररक्षम्, ग्री० ऐलेइप्स [eleipsa] ∟ \*लेय्व् [ \*leykʷ-]  
 ,,नोः ,, नाउस् [naus] ∟ \*नाव्स् [naw-s]  
 योः ,, जेउस् [प्राचीन ग्री० जेउस्] [zeus] ∟ \*द्येव्स्  
 [dyew-s]

शुद्ध स्वरोके अतिरिक्त संस्कृतमें स्वरोके सानुनासिक रूप भी पाये जाते हैं । वैदिक तथा लौकिक दोनों संस्कृतमें अधिकतर मानुनासिक स्वर दीर्घ पाये जाते हैं, आ, ई, ऊ, किन्तु ह्रस्व स्वरोके साथ भी सानुनासिकता होती है । वेदमें पदान्त आ जो वृ से पूर्व होता था, दूसरे पदके आदिमें स्वर ध्वनि आनेपर सानुनासिक हो जाता था, साथ ही वह प्लुत भी हो जाता था । जैसे लोकाऽऽभ्रकल्पयन्, भ्रमिनस्ताऽऽरुचः । वैदिक तथा लौकिक संस्कृतमें दीर्घ आ, ई, ऊ तीनों पदान्त न् से पूर्व होनेपर तथा ऐसे अन्य पदसे सहित होनेपर, जिसके आदिमें चर्गाय, टर्गाय तथा तर्गाय ध्वनि हो, अनुनासिक हो जाते हैं, यथा अहोश्च सर्वाद्, पशूस्तादिचक्रे । कुछ ध्वनिशास्त्रियोंके मतानुसार ह्रस्व स्वर भी सानुनासिक होते हैं । यह रूप वहाँ पाया जाता है, जहाँ परवर्ती ध्वनि ऊप्य या 'ह' है । भ्रंश [भ्रंश], सिंह [सिंह], किंयुक [किंयुक], पुंसक [पुंसक] में क्रमशः सानुनासिक ध, इ, उ ध्वनियाँ हैं । पाणिनिने भी ह्रस्व तथा दीर्घ 'अ' 'इ' 'उ' के धावपके अन्तमें होनेपर अनुनासिकीकरण माना है ।

संस्कृत व्यञ्जन ध्वनियोंका विकास—प्रा० भा० यु० व्यञ्जन ध्वनियोंका पूर्ण विकास संस्कृतमें पाया जाता है । व्यञ्जनोक्तो दृष्टिसे संस्कृत विंग प्रकार भारत-ईरानी शाखाका पूर्ण प्रतिनिधित्व करती है, यह हम पूर्ववर्ती परिच्छेदमें बताने चुके हैं । जैसा कि हम द्वितीय परिच्छेदमें

बता आये हैं प्रा० भा० यू० में तीन प्रकारकी कण्ठ्य ध्वनियाँ थीं । संस्कृतकी क्वर्ग ध्वनियाँ प्रायः प्रा० भा० यू० शुद्ध कण्ठ्य तथा कण्ठोष्ठ्य ध्वनियोसे विकसित हुई हैं ।

क — प्रा० भा० यू० शुद्ध कण्ठ्य 'क' तथा कण्ठोष्ठ्य 'क्व' पश्चस्वर अथवा व्यञ्जन ध्वनिसे पूर्व होनेपर संस्कृतमें क ही बने रहे हैं । वैसे अग्र स्वरसे पूर्व होनेपर वे क्ष के रूपमें विकसित हुए हैं ।

म० क्वि ग्रीक क्रैस [क्व] स् [kre[w] as] ∠ \*क्वेवल् [krewas]

„ क्रूर लैतिन क्रुओर [Cruor] [रक्व], कृसी क्रोव्य [Krovy]

∠ \*क्रुवोस् [Kruuos]

„ क्वोस् [quos], ग्रीक वा [qc-] ∠ \*क्वोस् [K<sup>w</sup>os]

ख — संस्कृत ख ध्वनि प्रा० भा० यू० \*ख, \*ख्व स विकसित मानी जा सक्ती है, किन्तु हमारे मतसे संस्कृत \*ख शुद्ध कण्ठ्य \*ख का ही विकसित रूप है । स्टर्टेवण्टके मतानुसार प्रा० भा० यू० \*ख शुद्ध कण्ठ्य \*क तथा भा० हिताइत अधोप कण्ठनालिक ध्वनि, 'x' का पल्लवित रूप माना जा सक्ता है । प्रा० भा० यू० \*ख अवेस्तामें कभी ह तथा कभी ख पाया जाता है । इसे प्रा० भा० यू० \*ख्व वा भी विकसित रूप माना जा सक्ता है ।

ख० खदति ∠ \*खदादति [skhadoti]

म० मख, ग्रीक ओनुख [onukh]

मख, मरतोमाइ [makhomai] [युद्ध] ∠ \*मखोस्

[makhos]

ग — संस्कृत ग प्रा० भा० यू० \*ग तथा \*ग्व से निकला है, टीक उगी तरह जैसे मन्वृत्त क प्रा० भा० यू० \*क तथा \*क्व से ।

ग० उग्र ∠ \*उग्र [ugra]

स० गौ, ग्रीक बोउस् [Bous] < \*शोवस् [g<sup>h</sup>ōws]

घ —संस्कृत घ प्रा० भा० यू० \*घ तथा \*ध्व से विकसित हुआ है, यह प्रा० भा० यू० \*घ तथा \*ध्व कही कही संस्कृतमें आकर ह के रूपमें भी विकसित हुआ है। अतः संस्कृत ह प्रा० भा० यू० \*ह जैसी ध्वनिसे विकसित नहीं हुआ है।

वैदिक स० द्रोघ < \*ध्राउघो [dhrōgho]

संस्कृत घन, हतो भ्रात्र [ghnaty] < \*ध्वानो [gh<sup>h</sup>ōno]

तुलनात्मक भाषाशास्त्रीय दृष्टिसे संस्कृतमें दो तरहकी तालव्य ध्वनियाँ पाई जाती हैं, एक ये हैं जो संस्कृतमें प्रा० भा० यू० तालव्य ध्वनियाँ—\*ब्य, \*ह्य, \*भ्य, \*ध्य, से विकसित होकर आई हैं, दूसरी वे चवर्गीय ध्वनियाँ जो अन्य दो प्रकारके प्रा० भा० यू० षष्ठ्य ध्वनियोंसे विकसित हुई हैं। ये तालव्य ध्वनियाँ वस्तुतः उन ध्वनियोंसे विकसित हुई हैं, जो मध्य मूलतः तालव्य नहीं थीं, किन्तु परवर्ती अवस्तर [ए, इ आदि] के कारण ईपतालव्य रूपमें उच्चारित होती थीं। उदाहरणार्थ प्रा० भा० यू० \*ब्य [k<sup>h</sup>o] में प्रथम [व्यजन] ध्वनि तालव्य न होकर षष्ठ्योष्ठ्य है, किन्तु यह प्रा० भा० यू० षष्ठ्योष्ठ्य ध्वनि संस्कृतमें 'च' हो गई है, और विकसित शब्द 'च' [और] हो गया है। अतः स्पष्ट है कि प्रा० भा० यू० षष्ठ्य तथा षष्ठ्योष्ठ्य ध्वनियाँ ही अवश्वरके परवर्ती होनेपर संस्कृतमें च हो गई हैं, जब कि प्रा० भा० यू० तालव्य षष्ठ्य संस्कृतमें श के रूपमें विकसित हुआ है। इसी संबंधमें यह भी कह दिया जाय कि संस्कृत छ ध्वनि भाषाशास्त्रीय दृष्टिसे संस्कृत च ध्वनिका महाप्राण रूप न होकर संस्कृत श ध्वनिका महाप्राण रूप है। अर्थात् संस्कृत छ का विकास प्रा० भा० यू० \*स्त \*ह्य

से न होकर \*ह्य से हुआ है। यद्यपि प्रातिशाख्योमे तथा परवर्ती व्याकरण ग्रन्थामे भी इसे 'च' का महाप्राण माना है, किन्तु संस्कृत 'छ' के विकासके विषयमें भाषाशास्त्रीय तथ्य इससे भिन्न है। इसीलिए प्रायः ऐसा देखा जाता है कि संस्कृतमे श, छ मे परिवर्तित हो जाता है, जैसे सधिमं, — तत् + शय्या = तच्छय्या, पद् [त्] + श = पच्छ। इससे यह स्पष्ट है कि संस्कृत श तथा छ क्रमशः प्रा० भा० यू० \*ह्य, \*ह्य मे विकसित हुए हैं।

श — संस्कृतमे प्रा० भा० यू० \*ह्य, श बना है, पर ग्रीक तथा लैटिनमे क ही रहा है, यथा—

संस्कृत √ श्, ग्रीक क्लुओ [kluo], लैटिन क्लुओ [cluo] ∠ \*क्लु-  
[klu-]

„ दर्श „ देदोर्के [dedorke] ∠ \*देदोर्के [dedorke]

छ — संस्कृत 'छ' 'श' का महाप्राण है, किन्तु जैसा कि हम देखेंगे इसका विकास प्रा० भा० यू० शुद्ध \*ह्य से न होकर \*ह्य से हुआ है। उदाहरणार्थ संस्कृतके 'छाया' शब्दको लीजिए, जिसका समानान्तर ग्रीक शब्द 'स्किआ' [skia] है। हम देखते हैं कि सधिमं 'छाया' का यह 'छ' 'च्' से युक्त हो जाता है, यथा शिव + छाया = शिवच्छायाम्। यह 'च्' बनाता है कि वास्तविक संस्कृत शब्द \*च्छायाम् रहा होगा जो उच्चारण सांकर्यकी दृष्टिसे 'छाया' बन गया। यह छ्द प्रा० भा० यू० \*ह्य का विकास है। यद्यपि पदादिमे संस्कृतमे यह 'च्छ' उच्चरित नहीं होता, तथापि पदमध्यमे यह पुनः अपने स्वभावको प्राप्त हो जाता है, जैसे शिवच्छायाम्। धीरे धीरे 'च्छ' तथा 'छ' मे कोई भेद नहीं माना जाने लगा। वैदिक संहिताओंकी लिपिमें 'च्छ' को 'छ' से लिपीकृत किया गया है। काठक शाखाकी संहितामें इसीके लिए 'श्छ' का चिह्न पाया जाता है। संस्कृत गच्छति मे भी यही छ्द है, जो गच्छति [कुछ लोगोंके मतानुसार] लिखा जा सकता है।

संस्कृत गच्छति, ग्रीक बस्को [baskō] [में जाता हूँ] ∠ \*ग्म्स्खति

[g<sup>w</sup>mskhati]

„ पृच्छति, प्रा० हाईजर्मन फ्रोस्कॉन [forskōn] ∠ \*प्रस्खति

[prskhati]

च :—संस्कृत च ध्वनि उन प्रा० भा० यू० \*क तथा \*क्व से विकसित हुई है, जिनके परे कोई अप्रस्वर था। संस्कृतमें ही कई धातुओं तथा शब्दोंमें 'क' तथा 'क्व' का विपर्यय देखा जाता है, जैसे ग०√शुक् [शुक्] धातुसे शुक् तथा शुचि दोनो शब्द निष्पन्न होते हैं।

संस्कृत चकार ∠ \*केकोरे [kekōre] ।

„ चक्ष ∠ \*केकोवसे [kekokse] ।

„ चित्, ग्रीक तिस [tis] ∠ \*क्वि [kwī] ।

ज :—संस्कृत ज प्रा० भा० यू० \*ग तथा \*ग्व से विकसित है, जो अप्रस्वरसे पूर्व थे। संस्कृतमें ग तथा ज का विपर्यय देखा जा सकता है, लक् [लग्], लजी, लजः ।

स० ओजस्, लं० प्रोगस् [ogas] ∠ \*अउगस् [augas] ।

„ जीव, प्रा० स्लावोनिक श्चोव्य [zhivpa] ∠ \*ग्वोर्वा [gwo<sup>r</sup>wa]

[g<sup>w</sup>iwos] ।

„ जगाम ∠ \*ग्वोमे [g<sup>w</sup>eg<sup>w</sup>ome] ।

झ :—'झ' को संस्कृतमें 'ज' का महाप्राण माना जाता है, पर भाषाशास्त्रीय तथ्य भिन्न है। अप्रस्वरके पूर्ववर्ती प्रा० भा० यू० 'घ' 'घ्य' संस्कृतमें आकर 'ह' के रूपमें विकसित हुए हैं। पश्च स्वर या अन्य ध्वनियोंके पूर्व वे 'घ' ही बने रहे हैं। अतः भिन्न प्रकार घ, ग का महाप्राण है, उसी प्रकार भाषाशास्त्रीय दृष्टिसे ह, ज की महाप्राण ध्वनि है। संस्कृतकी

‘भ्र’ ध्वनि शुद्ध भारोपीय शब्दोंमें नहीं पाई जाती। अधिकतर इस ध्वनिवाले शब्द या तो बाहरसे संस्कृतमें आये हैं, या अनुकरणजनक शब्द हैं, यथा भ्रष्टिति, भ्रूणभ्रूणापित, भ्राकृत्निभ्रंरणाम् मे ।

ह :—संस्कृतमें दो प्रकारकी ‘ह’ ध्वनि पाई जाती है, एक सघोष दूसरी अघोष । भारतीय विद्वानोंकी इस बातका पूरा पता था, यद्यपि अघोष ‘ह’ के लिए कोई विशेष लिपि संकेत न होकर, केवल विसर्ग पाई जाती है । पाणिनिने या उनके पूर्ववर्ती किसी वैयाकरणने वर्णसंमन्नायमें दो बार ‘ह’ का प्रयोग किया है—हृषवरट्, हृल् । इतने प्रथम सूत्रका ‘ह’ सघोष है, द्वितीय वाला ‘अघोष’ । यहाँ हमें सघोष ‘ह’ के विकासपर ही संकेत करना है कि वह प्रा० भा० यू० \*घ, \*ध्य, \*ध्वसे विकसित हुआ है ।

न० द्रुह्यति  $\angle$  \* $\sqrt{\text{ध्र्वघ}}$  [ $\sqrt{\text{ध्र्वघ}}$ ] [\* $\text{ध्र्वघ्यति}$ ]  
\*dhrewghyiti]

„ हन्ति  $\angle$  \* $\sqrt{\text{ध्वन्}}$  [ध्वन् [ध्वन्, ध्वोन्] \*ध्वन्ति [gh<sup>h</sup>nti]

[धीक, ध्वेनी [tneino] [मं मारता हूँ]

„ वहति, अने० वज्रहति [wazaiti], लै० उएहित [uehit]

$\angle$  \* $\sqrt{\text{वघ्ऐति}}$  [\*woghēti]

प्रा० भा० यू० में प्रतिवेष्टित ध्वनियों [मूर्धन्य ध्वनियों] थी ही नहीं, किन्तु संस्कृतमें ‘ट, ठ, ड, ढ, ण’ में प्रतिवेष्टित [मूर्धन्य] स्पर्श ध्वनियों पाई जाती है । ये ध्वनियाँ कहाँसे आईं ? अधिकतर ऐसी धारणा चल पडी है कि ये ध्वनियाँ द्रविड भाषाओंकी ध्वनिसम्पत्तिका प्रभाव है, किन्तु वे

१ विद्वानोंका इस विषयमें ऐकमत्य नहीं है कि वर्णसंमन्नायकी रचना पाणिनिने की थी, या उनसे पूर्ववर्ती वैयाकरण [शिव या महाेश्वर ?] ने ।

ध्वनियाँ कौन सी थी, जो इस रूपमें विकसित हुई? अध्ययन करनेपर मता चलता है कि मन्त्रकी इन प्रतिवेष्टित ध्वनियोंमें कई प्रकारकी ध्वनियाँ घुल-मिल गई हैं। संस्कृतकी अधिकारा 'टवर्गीय' ध्वनियाँ संस्कृत में प्राकृतका [उलटा] प्रभाव है। संस्कृतमें, ननुवदमे ही, रेफके प्रभावसे परवर्ती दन्त्यका नतिभाव पाया जाता है, यथा 'विकट', 'उत्कट' का 'कट' वस्तुतः 'कृत' से विकसित हुआ है, इनका मूल रूप विकृत, उत्कृत है। वही वही तो यह रेफ संस्कृतमें ही स्पष्ट रूपसे वर्तमान होता है, किन्तु वही कभी यह ऐतिहासिक विकासमें लुप्त हो गया होगा है, यथा सं० कटु, कियुभानियन कर्तुस् [kartus]। यहाँ हम लियुभानियनके आधारपर यह कह सकते हैं कि संस्कृतका वाच्यविभक्त 'कृत' था, तथा यद्यपि ऐतिहासिक विकासमें रेफ लुप्त हो गया, तथापि 'त' का नतिभाव 'ट' उसीके कारण है। यह रेफ [र्] अन्य भारतयूरोपीय भाषाओंमें लुप्त रूपमें भी हो सकता है। उदाहरणके लिए संस्कृत जठर का मध्ययुगीन गायिक किल्पेइ [kilpei] से है। इसी आधारपर रूसी विद्वान् फोर्नुनातोव [Fortunatov] ने यह सिद्धान्त स्थापित किया कि प्रायः संस्कृत प्रतिवेष्टित प्रा० भा० यू० ल + दन्त्य से विकसित है। किन्तु यह सिद्धान्त इसलिए आदृत न हो सके कि इसमें कई अपवाद देखनेमें आते हैं। संस्कृत जठर की मूर्धन्य ध्वनि रेफके ही कारण हो सकती है, जो संस्कृत शब्द कर्तु, जरती आदिमें स्पष्ट रूपसे विद्यमान है। संस्कृत प्रतिवेष्टित सदा ही प्रा० भा० यू० र या ल से प्रभावित 'दन्त्य' ध्वनिमें विकसित हुए हैं, यही बात नहीं है। संस्कृत श ध्वनिका भी प्रतिवेष्टित विकास पाया जाता है, जो प्रा० भा० यू० र या ल से विकसित है, यथा संस्कृत शब्द पद् तथा विद् ने तृतीयान्ततुर्था व० व० में पद्भिः, विद्भ्यः रूप पाये जाते हैं। किन्तु यह कहना भी सत्य न होगा कि मध्ययुगीन 'शान्त' शब्दोंमें 'भ' के पूर्व प्रतिवेष्टितत्व पाया ही जाता है, इसके विकृत प्रमाण हृग्भिः, दिग्भ्यः हैं, जो हृग् तथा दिग् के रूप हैं। यहाँ हम मध्ययुगीन गुणज्ञाना गरज नहीं है कि यथा नतिभाव ध्वनिशास्त्रीयदृष्टिमें ठीक है, तथा 'ग्' वाले रूप ध्वनि-



नियमके अपवाद हैं, अथवा यह बात विपरीत रूपमें है। तथापि, वाकेर-नागेलके मतानुसार इन स्थानोपर नतिभाव [मूर्धन्यता] को ही निपतरूपी मानना होगा, क्योंकि ऐसा न माननेपर कण्ठ्य ध्वनिके साथ पाई जानेवाली नतिको, जैसे दिक्षु = दिक् + पु; दक्षु = दक् + पु मे—स्पष्ट करनेमें अशक्यता होगी। इसी प्रकार अन्य प्रा० भा० यू० तालव्य ध्वनियों 'ह्य' 'ग्य' 'ध्य' ने भी अपनी-अपनी प्रतिवेष्टित ध्वनियोंको विकसित किया है। जैसा कि हम अनुपदमें देखेंगे ये तालव्य ध्वनियाँ संस्कृत प्रतिवेष्टित [मूर्धन्य] ध्वनिनाके विकासमें महत्त्वपूर्ण कार्य करती हैं।<sup>१</sup>

ट.—संस्कृतकी ट ध्वनि एक ओर प्रा० भा० यू० \*त का विकसित रूप है, जो कभी रेफमे युक्त था, तो दूसरी ओर कभी प्रा० भा० यू० \*क्य [स० श] तथा कभी \*ग्य, \*ध्य [स० ज, ह] से युक्त था। उदाहरणके लिए स० कटु < \*कर्तुस् [kartus], स० वटि [वश्—ति], मृष्ट [मृज्—त] राष्ट्र [राज्—त्र] को ले सकते हैं। संस्कृतके सामान्य भूते लुङ्के अषाट् [ < —पाज्—त], अषाट् [ < —वाह्—त] में, जो √ यज् तथा √ वह् धातुके रूप हैं, प्रा० भा० यू० \*ग्य, \*ध्य है, जो संस्कृतमें क्रमशः ज तथा ह हो गया है। सन त्रगकी अन्य भाषाओके तुलनात्मक अध्ययनसे इस बातकी पुष्टि होती है कि ये ध्वनियाँ धातुमें मूलतः स्पर्श व्यञ्जन न होकर सघोष ऊर्म थी, यथा अवस्ता यजइति [yazaiti] [स० यजति], प्रा० चर्च स्लावोनिक चेत [wez] [स० √ वह्]।

ठ.—संस्कृत थ इसी प्रकार रेफ, श, ज तथा ह के योगसे \*थ का विकसित रूप है। यथा, जठर, गोंधिक किल्थेइ [kɪlpeɪ] के आधारपर

१ Wackernagel Altindische Grammatik, [Lautlehre] Vol I pp 173-5 § 149.

२ Bloch L'Indo-Aryen p, 53

ध —संस्कृत ध ध्वनि प्रा० भा० यू० \*ध का अपरिवर्तित रूप है, जैसे, सं० दधार, ग्रीक तैथेटाइ [tēthētai] ∠ \*धधोरे [dhedhōre]

प्रा० भा० यू० ध भो प्रा० भा० यू० ध, ध्व की भौति अक्षरधरसे पूर्व होनेपर संस्कृतमें आकर ह हो जाता है। इसने उदाहरणके रूपमें हम संस्कृत हित का ले सकते हैं, जो √धा धातु से क्त [धा + क्त] प्रत्यय जाड कर बना है। यहाँ ध का ह हो गया है। पाणिनिने स्वयं भी इस भाषाशास्त्रीय तथ्यको 'दधातेहि' इस मूत्रके द्वारा स्वीकार किया है। ग्रीकमें यह प्रा० भा० यू० \*ध, 'थ' [th] हो जाता है।

प —संस्कृत प ध्वनि प्रा० भा० यू० \*प का अपरिवर्तित रूप है, यथा, पिता ∠ \*पअतेर [pater], सं० पत्नी, ग्रीक पोस्त्रिआ, ∠ \*पोत्नी

फ —संस्कृत फ प्रा० भा० यू० \*फ का अपरिवर्तित रूप है, यथा, संस्कृत फल, ग्रीक फुल्लोन [phullon] [फ] ∠ \*फल्लो-  
[ \*phallo- ]

ब —संस्कृत ब प्रा० भा० यू० \*ब का अपरिवर्तित रूप है, यथा, संस्कृत बर्हि, अवस्ता बर्अतिश् [barazis] ∠ \*बरघिस्  
[ barghis ]

भ —संस्कृत भ प्रा० भा० यू० \*भ का अपरिवर्तित रूप है, यथा, संस्कृत भरति, अवस्ता बरइति [barati], ग्रीक भरेसि [bheresi]  
∠ \*भरेति [bhēretē]

प्रा० भा० यू० \*भ वैदिक संस्कृतमें ह के रूपमें भी विभिन्न दिशाई देता है। √बभू-√बभू जैसे वैवदिपव रूप वेदमें पाये जाते हैं, पर यह विशेषता विभाषागत मानी जा सकती है।

ध्वन्यात्मनताकी दृष्टिमें संस्कृतमें ण, न, म ये तीन ही अनुनासिक ध्वनियाँ मानी जा सकती हैं। इ तथा प्र स्वतन्त्र ध्वनियाँ न होकर न व ही

ध्वन्यग है। न ध्वनि कवर्गीय ध्वनिके परवर्ती होनेपर ड तथा चवर्गीय ध्वनिके परवर्ती होनेपर ज हो जाती है। उदाहरणके लिए हम यङ्-काम-यते, शञ्च मे, को ले सकते हैं। कभी-कभी ङ-ग ध्वनियाँ उनसे परे न या म ध्वनि होनेपर डका छत्र धारण कर लेती है, यथा वाङ्-मय, विङ्-नाग मे। किन्तु यहाँ ड को स्वतन्त्र ध्वनि न मानकर क-ग ध्वनियोंका ही मन्व्यात्मक [prosodic] रूप मानना ठीक है। कुछ विद्वान् ण को स्वतन्त्र ध्वनि मानतेके पक्षमें नहीं है। ज्युट ब्लॉख इसे स्वतन्त्र ध्वनि माननेपर जोर देते हुए लिखते हैं—किन्तु [ ड, ज, ण मेंसे ] अकेला मूर्धन्य [रा] ही स्वतन्त्र ध्वनि है तथा स्वरमध्यगत रूपमें प्रकट होता है। यह या तो उस स्वरके बाद होता है, जो प्रागैतिहासिक रूपमें ऋ था, या वह स्वयं र या ष का परवर्ती है। यह एक स्वतन्त्र ध्वनि है, किन्तु इसकी स्वयंकी स्थिति मीमिन है। यह ध्वनि पदादिमें नहीं पाई जाती। नव्य भारतीय भाषाओंमें इसका अत्यधिक विस्तार पाया जाता है।

ड, ज :—ये दोनो अनुनासिक 'न' के ही ध्वन्यग है। कभी-कभी ऐसे स्थानोपर भी जहाँ 'कवर्गीय' ध्वनिका ऐतिहासिक कारणोंसे विकल्पसे लोप हो गया होता है, 'ड' ध्वन्यग पाया जाता है, यथा यङ्ते, युङ्धि वस्तुतः युङ्क्ते, युङ्ग्धि के ही रूप है।

ण :—यह वह न ध्वनि है, जो ऋ, र, ष के प्रभावमें रा हो गई है, अथवा परवर्ती टवर्गीय ध्वनिके कारण ण हो गई है। उदाहरणके लिए इन वाद्योंको ले लें—वर्ण, नृणाम्, कृपण, क्षोभण, निवण्टु, मण्डयति।

न :—संस्कृत न प्रा० भा० यू० न का अपरिवर्तित रूप है, यथा सम्कृत मनस्, ग्रीक मेनेस् [menos] < मेनेस् [menos]

म :—संस्कृत म प्रा० भा० यू० म का अपरिवर्तित रूप है, यथा

संस्कृत मातृ [ मातृ ], ग्रीक मातेर् [māter], लैटिन मातेर् [māter]  
 ∠ \*मातेर् [\*māter]

,, नामन्, लैटिन नोमेन् [nōmen] ∠ नोमेन् [nōmen]

अन्त म्य ध्वनिपङ्क्ति लेनेके पूर्व मुविधाकी दृष्टिसे हम सोफ़र ध्वनिपङ्क्ति पहले ले लेते हैं। ये ध्वनियाँ तीन हैं —श, य, स। य का अध्ययन हम कर चुके हैं, अतः यहाँ य तथा स को ही लेंगे। इनके साथ 'ह'के उस रूपको भी लेंगे, जो अघोष 'ह' है।

यः—संस्कृत 'य' प्रा० भा० यू० स अथवा भारतईरानी श का ही विकसित रूप है। जहाँ ये ध्वनियाँ ऋ, र तथा टवर्ग के योगमें साथ ही इ, उ, ए, ओ तथा कण्ठ्य ध्वनिकी परवर्ती होती हैं, य हो जाती है। वैसे ड के विकसित रूप हम बना चुके हैं कि य यन्तु स [अघोष ऊप्य ध्वनि] का ही प्रतिव्यंष्टि [मूर्धन्य] रूप है, जो अ, आ में भिन्न स्वरसे परवर्ती होनेपर य हो जाता है।

सः—संस्कृत स प्रा० भा० यू० \*सका अपरिवर्तित रूप है, यथा—

संस्कृत अस्ति, ग्रीक ऐस्ति [esti], लैटिन एस्त [est] ∠ \*एस्ति [esti]

हः—यहाँ हम ह के अघोष रूपको लेंगे। अघोष ह का उच्चारण संस्कृतमें यदा यदान्तमें पाया जाता है। इसे संस्कृतमें विसर्ग कहते हैं। राम, हरि में यही अघोष ह है। संस्कृतमें विसर्गके उच्चारणकी एक विशेषता है कि वह पूर्ववर्ती स्वर ध्वनिसे युक्त होकर उच्चरित होता है। राम, हरि का वास्तविक उच्चारण [रामह, हरिहि] होता है। यह अघोष ह प्रा० भा० यू० यदान्त \*स् या \*र से विकसित हुआ है।

**संस्कृत अन्तःस्थोंका विकास :—** प्रा० भा० यू० भाषाकालसे ही इस परिवारकी भाषाभाम अन्न म्य बड़ा महत्वपूर्ण कार्य करते देखे जाते हैं। जैसा कि हम द्वितीय परिच्छेदमें बता आये हैं, प्रा० भा० यू० में य, व, र, ल के अतिरिक्त न, म भी अन्त स्थ थे। अन्त स्थाने भारतयूरोपीय भाषाभाषी उम विभेपनामें प्रमुख कार्य किया है, जो अपवृत्ति कहलाती है। वैसे वैज्ञानिक दृष्टिमें अन्न स्याका विचार हम स्वरध्वनियाने साथ ही करना चाहिए था, किन्तु सुविधाकी दृष्टिमें हमने ऐसा नहीं किया है। हम दायते हैं कि मसृत्त म, व, र, ल प्रा० भा० यू० \*य, \*व, \*र, \*ल से विकसित हुए हैं, किन्तु फिर भी प्रत्येक प्रा० भा० यू० \*र तथा प्रत्येक प्रा० भा० यू० \*ल मसृत्तमें क्रमशः र तथा लके रूपमें विकसित हुए हैं, यह मानना भ्रान्तिपूर्ण होगा। प्रतिवेष्टित ध्वनियाने विकामकी भाँति वैदिक मसृत्तकी दूसरी विभेपना प्रा० भा० यू० \*र, \*ल का विकास है। ऋग्वेदमें र, ल ध्वनियाना अध्ययन करनेपर पता चलता है कि ऋग्वेद कालमें ही कई विभाषाभामे इनका विकास परस्पर एक दूसरेके लिए पाया जाता है। प्रत्येक प्रा० भा० यू० \*ल अवस्थामे र हो गया है, और ऋग्वेदने भी यह प्रायः र ही पाया जाता है, वहाँ ल बहुत कम पाया जाता है। यह मानना गलत न होगा कि भारत-ईगनी शागाम जाकर प्रा० भा० यू० \*ल, र हो गया है। जहाँ शीव आदिमें ल पाया जाता है, वहाँ यदि इस शागाम र है, तो वह इसी वैभाषिय विभेपनाके कारण। उदाहरणने लिए मसृत्त  $\sqrt{रस्, प्रीर}$  ध्रुवक्षतो [ aleshso ], ग० रिच्, लंनिन लिक्खो [ luquo ] ग० गभं, शीव देल्फाम् [ delbhos ] को ले साने हैं। किन्तु भारत ईरानी शागाम ऐसी भी विभाषा रहो होगी, जिनमें प्रा० भा० यू० \*ल अपरिवर्तित रहा होगा, यथा ग० लोक्, ले० सुकुस [ lucus ], ग० इपोर, शीव क्षुष्मा [ kluo ]। वैसे मसृत्तमें ऐसे भी शब्द मिलने हैं, जिनमें प्रा० भा० यू० \*र, ल हो गया है,

यथा स० क्लोश लियुआ० लौक्ति [ kronkti ] स० लुम्प, लैतिन रम्पो [ rumpo ] । इन कारणोंसे यह स्पष्ट है कि मस्कृतका र, स का विकास त्रिचञ्चो-सा रहा है । ये ध्वनियाँ केवल मूल शब्दों [ धातु तथा प्रातिपदिकों ] में ही परिवर्तित न होकर प्रत्ययों तकमें परिवर्तित हो जाती हैं, यथा, स० शुक्-ल, [ शुबल ] शुक्-र [ शुम् ], स० भद्र  $\angle$  \*भद्-ल; भद्-र [ भद्र ] । इसीलिए प्रत्याहार सूत्रोंमें पाणिनिने बनाया है कि उनके व्याकरणमें र से र का ही नहीं ल का भी ग्रहण होता है । बादके संस्कृत विद्वानोंने भी 'र, ल' में अभेद माना है, यमक तथा श्लेष अलकारमें इनका अभेद वाला प्रयोग बहुत पाया जाता है [ रत्नयोरभेद ] । संस्कृत य, व प्रा० भा० यू० \*य, \*व से विकसित हुए हैं, यथा,

म० युगम्, ग्रीक जुगात् [ zugon ] लै० जुगुम् [ zugum ],  
गोविन् जुक् [ zuk ], प्रा० अग्नेजी व्योक [ zyoḥ ],  
आ० अग्नेजी योक [ yole ], जर्मन त्सोख [ zoch ],  
रूसी इगो [ igo ]  $\angle$  \*युगाम् [ yugom ]

म० अश्व, ग्रीक हेषात् [ heppos ], लियु० अश्व [ as'va ]

$\angle$  \*एक्वात् [ eks'os ]

सं० अवि ग्रीक ओविस् [ ovis ], लैतिन ओविस् [ ovīs ],

प्रा० आयरिश ओव, [ oī ], गार्थिक अवि-स्त्र [ avi-str ]

प्रा० अ० [ ēowe, ēowan ] [ अं० ewe ] लियु० अविस् [ avīs ].

प्रा० स्लावोनिक्, ओव्यस्ता [ ovy-t-ṛ ], रूसी ओवस्ता

[ ovīstṛ ]  $\angle$  \*ओवि [ ovi ]

जैसा कि हम यथा चुरे हैं इन्हीं चार अन्त र्थ ध्वनियोंके रचन इ, उ, ऋ, ॠ हैं । गम्भूतके गन्धि तथा गुच्छगारणके निचमामे यह स्पष्ट है कि ध्वन्यात्मकताकी दृष्टिसे इनमें विशेष भेद नहीं है—इधि + अत्र [ इच्छत्र ]।

मधु + अरि [मध्वरिः], इषेय, उवाच आदि उदाहरणोंसे यह स्पष्ट है। इन छ अन्त स्वरों [ यदि न्, म्, को भी सम्मिलित कर लिया जाय तो, जो प्रा० भा० यू० में अन्त स्थ थे, किन्तु संस्कृतमें नहीं ] में से ष, ष का विक्रान्त संस्कृतमें अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। य तो कभी-कभी दो स्वराम सन्धि न होने देनेके लिए भी प्रयुक्त होता है, यथा रमया, धिया मे। यहाँ रमा तथा धी प्रातिपदिक है, जिनमें तृतीया एकवचनकी सुप् विभक्ति अः [ टा ] जोड़ी गई है। ध्यान देनेपर पता चलेगा कि रमा + अर, धी + अर से क्रमशः \*रमा, \*ध्या रूप बननेकी सम्भावना है, साथ ही एक गडबडी यह भी होती है कि प्रातिपदिकका अक्षर भार तथा विभक्ति रूपका अक्षर-भार [syllabic weight] एक-मा बना रहता है। अतः एक ओर इस सन्धिको रोकनेके लिए दूसरी ओर द्व्यक्षर प्रातिपदिक [ रमा ] को त्र्यक्षर विभक्तिरूप तथा एकाक्षर प्रातिपदिक [ धी ] को द्व्यक्षर विभक्ति रूप बनानेके लिए 'ष' का प्रयोग किया गया है। पर यह ध्यान देना होगा संस्कृतमें यह 'ष' श्रुति [ glide ] न होकर शृङ्ग ध्वन्यात्मक तत्त्व [ phonological element ] है।

इसी सम्बन्धमें दो शब्द संस्कृतमें पाई जानेवाले अपश्रुतिके विषयमें कह दिये जायें। 'अपश्रुति' से हमारा तात्पर्य स्वर ध्वनियो तथा स्वर ध्वनियुग्मके उभ परिवर्तनसे है, जो मूल भारोपीय भाषामें होता था। ये स्वर सम्बन्धी परिवर्तन, मुख्यरूपेण शब्दके उदात्तादि स्वरकी प्रकृति तथा स्थानसे सम्बद्ध थे, तथा गुण सम्बन्धी एव मात्रा सम्बन्धी हो सकते थे। संस्कृत भाषाके छात्रके लिए इनमेंसे मात्रिक अपश्रुति विशेष महत्त्ववारिणी है, किन्तु यहाँ गौणी अपश्रुतिपर भी कुछ कह देना आवश्यक होगा। गौणी अपश्रुतिमें प्रा० भा० यू० अ, ऐ, औ के ह्रस्व तथा दीर्घ रूप परस्पर परिवर्तित होते थे। अर्थात् इस प्रकारकी अपश्रुतिमें एक स्वर-ध्वनि सर्वथा भिन्न ध्वनि बन जाती थी। प्रा० भा० यू० में तथा ग्रीक आदि भाषाओंमें जहाँ प्रा० भा० यू० स्वर शृङ्ग रूपमें वर्तमान है, ऐ व औ के ह्रस्व तथा

दीर्घरूपों एत्र अ तथा ओ के ह्रस्व तथा दीर्घरूपों परस्पर परिवर्तन पाया जाता है, यथा शोक फेरो [ phēro ] फोरौस् [phoros], लैनित तेगो [tego], तोग [toga]। इस सम्बन्धमें यह भी ध्यान दे लेना आवश्यक होगा कि यह गौणी अपभ्रुति अ तथा ए एव उनके दीर्घ रूपोंके परिवर्तनके सम्बन्धमें नहीं पाई जाती। जैसा कि हम देख चुके हैं, संस्कृतमें ये तीनों प्रकारके स्वर अ तथा उनके दीर्घरूप आ के रूपमें विवक्षित हुए हैं, अतः यहाँ गौणी अपभ्रुतिना कोई अवकाश ही नहीं रहा है। संस्कृतकी दृष्टिमें माथ्रिक अपभ्रुतिना ही महत्त्व है, जिसका विवेचन हम द्वितीय परिच्छेदमें कर चुके हैं।

जैसा कि स्पष्ट है, प्रा० भा० यू० मूल स्वर ए तथा ओ ही थे। यही नहीं, यहाँ तन बढा जा सकता है कि याम्बुकि मूल स्वर केवल ए था, जो प्रा० भा० यू० में स्वर सम्बन्धितो [accentual] विशेषताके कारण ओ भी हो जाता था। तीसरा मूल स्वर अ था, जिसे यद्यपि ए, ओ न तात्पर्य दृष्टिमें सम्बद्ध नहीं मान सकते, किन्तु यह स्वर प्रा० भा० यू० में बहुत कम पाया जाता था। ँ तथा औ आदि मूल स्वर रहे हाने यह एा शरीरवैज्ञानिक तथ्य है, क्योंकि ये स्वर कमसे कम गतिविधि द्वारा उच्चरित हो सकते हैं। इनके उच्चारणमें प्रायः उच्चारणके स्थान तथा गरण उदासीनता रहते हैं तथा उनमें कोई विशेष गतिविधि [articulation] नहीं पाया जाता। अ के उच्चारणमें स्वात तथा गरणमें कतिपय गतिविधियाँ या गति अवश्य पाई जाती हैं, तथा इ, उ के उच्चारणमें अति गतिविधि अवश्य होता है। यही कारण है कि उच्चारण-गौरवकी दृष्टिसे इ, उ मूलस्वर ँ, औ बन जाते थे। ये मूल स्वर जब अन्तर्मार्गमें युक्त होते थे, तो मूल ध्वनियुग्मात्ता मग धारण कर लेते थे यथा अर्धय, अर्धइ, अर्धउ, अर्धए, अर्धओ, अर्धअ, अर्धइ, अर्धउ, अर्धए, अर्धओ, [ इसी प्रकार अर्धओय आदि ध्वनियुग्म भी रहे होंगे ]। इ, उ जैसी ध्वनियाँ भी इसी ध्वनियुग्मात्ता विधिसे रूप लेती हैं।



प्रा० भा० यू० में \*इय् \*उव् जैसे ध्वनियुग्म सर्वथा नहीं थे, यह बात ध्यानमें रखनेकी है ।

चूँकि यह परिच्छेद केवल ध्वनियोंके ऐतिहासिक विकासपर ही न होकर उनके उच्चारणसे भी सम्बद्ध है, कुछ गम्भ वैदिक मन्त्रोंकी उच्चारण सम्बन्धिनी विशेषताओंपर बह दिये जायें । जहाँ तक अन्ध ध्वनियोंका प्रश्न है, प्रातिशाख्य तथा शिक्षाग्रन्थोंमें इनका उच्चारण ठीक वही संकेतित किया गया है, जो लौकिक सस्कृतमें पाया जाता है । किन्तु य, व, ष तथा अनुस्वारके उच्चारणमें वैदिक कालमें कुछ भेद था । इन विशेषताओंका मन्त्रमें यद्यपि प्रातिशाख्योंमें नहीं मिलता, तथापि शिक्षाओंमें तथा आज भी उच्चरित किये गये वेद मन्त्रोंमें ये विशेषताएँ स्पष्ट परिलक्षित होती हैं । वैदिक कालमें ये विशेषताएँ वैभाषिक रही होंगी । अविकतर ये विशेषताएँ यजुर्वेदके उच्चारणमें पाई जाती हैं, तथा इस प्रवृत्तिका प्रभाव ऋग्वेदके उच्चारणपर भी पडा है ।<sup>१</sup> लौकिक सस्कृतमें आकर ये विशेषताएँ लुप्त हो गई, किन्तु इनमेंसे कुछ विशेषताओंको प्राकृत तथा देसी विभाषाओंमें ग्रहण कर लिया । शिक्षा ग्रन्थोंके मतानुसार असंयुक्त 'यकार' का उच्चारण पदादिमें रहनेपर 'ज' होता था । पदमध्यमें भी 'य, ऋ, र, ण, ह' से युक्त होनेपर वह ज उच्चरित होता था —

पदादौ विश्रमानस्य ह्यसंयुक्तस्य यस्य च ।  
 आदेशो हि जकारः स्यात् युक्तः सन् हरणेन तु ॥  
 रेफेनाथ हकारेण युक्तस्य सर्वथा भवेत् ।  
 मकारकारयुक्तस्य लकारः सर्वथा भवेत् ॥

[माध्यन्दिनीशिक्षा २.३.-५]

१. देखिए, मेरा निबन्ध "यजुर्वेदके मन्त्रोंका उच्चारण" [ शोध-पत्रिका २००६ ]

यजुर्वेदके उच्चारणमें [ऋग्वेदमें भी] यद्भूतं यच्च भाव्यम् वा उच्चारण "जद्भूतं यच्च भावियम्म" होता है। इसी प्रकार सूर्यं आत्मा जगत-स्तस्युपइव का उच्चारण सूर्जं आत्मा जगतस्वस्युपइव होता है। इसी प्रकार पदादि 'व' का उच्चारण भी वहाँ एक विशेषता रखता है। माध्यन्दिनी शिक्षाकारके मतानुसार इसका उच्चारण 'गुरु' होता है।

गुरुर्वकारो विज्ञेयः पदादी पठितो भवेत् ॥ [यही २-६] माध्यन्दिनी शिक्षाकारका तात्पर्य 'गुरु' शब्दसे यहाँ व के दन्तोष्ठ्य रूप [ळ, ढ] से है। संस्कृत व्याकरणोंने व को दन्तोष्ठ्य माना है—[वकारस्य दन्तोष्ठ्यम्]। व या दो तरहका उच्चारण यजुर्वेदमें पाया जाता है, पदादिमें व्व [ढ], पदमध्यमें व [५] दुबल यजुर्वेदी आज भी पदादि व वा उच्चारण दन्तोष्ठ्य [dento-labial] करते हैं, यथा ततो विराडजायत विराडो अधिपूस्तः का याजुय उच्चारण ततो विराडजायत विराडो अधिपूस्तः होता है। किन्तु पदमध्यमें व, व का उच्चारण ज, व नहीं होता, यथा तस्माज्जाता अजावयः के उच्चारणमें, जो इसी तरह उच्चरित होता है।

'व' का उच्चारण 'ट' वर्गीय ध्वनिमें अयुक्त होनेपर स होता है। माध्यन्दिनीशिक्षा तथा वैश्वीशिक्षामें इस विशेषताका उल्लेख मिलता है।

वकारस्य सकारः स्याद्दुरुयोगे तु नो भवेत् ॥

[माध्य० शिक्षा २-१]

वः सप्तमृते च ॥ [वैश्वीशिक्षा ३]

उदाहरणके लिए सहस्रशीर्षा पुर्य' वा उच्चारण सहस्रशीर्षा पुर्य-किया जाता है। किन्तु "अप्यनिष्ठशागुलम्" में दुरुयोग है इसलिए यहाँ व वा उच्चारण व नहीं होता। यजुर्वेदकी चौथी उच्चारण विशेषता, त्रिमे ऋग्वेदमें भी अपना लिए है, अनुस्वारके उस उच्चारणसे सम्बद्ध है, जब उगती पत्तनी ध्वनि गोष्म [ग, प, न] या प्राणध्वनि [र] हो। ऐसी

स्थितिमें अनुस्वारका उच्चारण 'गुम्' होता है। यथा अशुना का उच्चारण अगुशुना होता है, तथा पुरुष एवेद सर्व का उच्चारण पुरुष एवेदगु सर्व होता है। ये विशेषताएँ वैदिक कालकी ही कुछ विभाषागण विशेषनाएँ रही होंगी। इनमें पदादि य का ज होना, तथा ष का ख होंना तो प्राकृतमें भी पाया जाता है। कई संस्कृतके पण्डित आज भी लौकिक संस्कृतके पदादि य का ज तथा ष का ख उच्चारण करते देखे जाते हैं। पदादि संस्कृत य का उच्चारण कई मैथिल तथा बंगाली पण्डित ज करते हैं।

संस्कृत ध्वनियोंकी सन्ध्यात्मक विधेयता [Prosodic features] —

ध्वनिशास्त्रीय दृष्टिसे स्वर तथा व्यञ्जन ध्वनियोंकी उस विशेषताका भी बड़ा महत्त्व है, जिसे हम पारिभाषिक पदका प्रयोग करते हुए "सन्ध्यात्मकता" [prosody] कह सकते हैं। इसके अन्तर्गत हम उस विशेषताको लेते हैं, जो व्याकरण ग्रन्थोंमें अक्षधि, हल्मधि तथा विसर्गसधिवे नामसे प्रसिद्ध है। किस प्रकार स्वर ध्वनियों तथा व्यञ्जन ध्वनियों परस्पर मिलकर पद, वाक्यांश तथा वाक्यमें एक नये रूपमें परिवर्तित हो जाती हैं, इसका विस्तारसे विवेचन संस्कृत व्याकरणके सन्धि प्रकरणके अन्तर्गत देखा जा सकता है। यहाँपर हम कुछ महत्त्वपूर्ण विषयोंपर संक्षेप मात्र करेंगे, क्योंकि प्रस्तुत ग्रन्थ व्याकरणको दृष्टिमें रखकर नहीं लिखा गया है।

[१] पाणिनिका 'इको घणञि' सूत्र इस बातकी पुष्टि करता है कि इ, उ, ऋ, ए, अ तथा य्, व्, र्, ल् में कोई तात्त्विक भेद नहीं है, तथा परवर्ती ध्वनिसे स्वर होनेपर इनका स्वरूप पुन व्यञ्जनत्वका प्राप्त कर लेना है, दध्यान्त, मध्वरि, धाप्रदा, लाकृति ।

[२] पाणिनिका 'एधोऽघघापाव' सूत्र इस बातकी पुष्टि करता है कि ए, ओ, ऐ, औ क्रमशः अय्, अय्, आय्, आय् ये ध्वनिसुग्म ही हैं। तभी मधिमें ये पुन वास्तविक रूपको प्राप्त कर लेते हैं हरये, विष्णवे, नायक, पावक ।

[३] भाषाशास्त्राय दृष्टिसे अ तथा आ, इ तथा ई, उ तथा ऊ में कोई ध्वन्यात्मक भेद नहीं। इसी बातका मकेत 'अक्षः सवर्णे दीर्घः' सूत्र करता है। इनमें जो भेद है, वह ध्वन्यात्मक [ phonematic ] न होकर सन्ध्यात्मक [ prosodic ] तथा मात्रात्मक [ qualitative ] है।

[४] मस्युत 'श' वा 'छ' से घनिष्ठ संबंध है, यह मकेत पाणिनिसे सूत्र 'शश्छोऽटि' से मिलता है।

[५] स्वर ध्वनिकी पूर्ववर्ती अधोप स्पर्श ध्वनि भी मधिमं गधोप हो जाती है। ध्यान रगिए सधोप ध्वनिके सम्पर्कमें आकर अधोप भी सधोप हो जाती है। इसी तरह अधोप स्पर्श ध्वनिमें परे सधोप स्पर्श ध्वनि होनेपर भी अधोप सवर्गिय सधोप ध्वनि बन जाती है। दिक् + इन्द्रः [दिगिन्द्रः], दिक् + गज [दिग्गजः], दिग्दिण्डिमः।

[६] इसी तरह अधोप या सधोप अल्पप्राण स्पर्श ध्वनिसे परे अनुनासिक स्पर्श ध्वनि होनेपर वह ध्वनि सवर्ग अनुनासिक हो जाती है। दिक् + नागः [दिङ्नागः], पद् + नगयः [पङ्गयः]।

[७] रेफ, प या मूर्धन्य ध्वनियोंके सम्पर्कमें आकर दन्त्य ध्वनियों भी प्रनिवेष्टित [मूर्धन्य] हो जाती है।

[८] हम देग चुके हैं, मस्युत ह वा विनास मूल्य ऋष तथा ऋष ने दृआ है। उन मधिमं इमरा यह मूल रूप पुन. आ जाता है। यदि ह से पूर्व षष्ठ्य ध्वनि होगी है तो यह ष हो जाता है, यदि ह से पूर्व दन्त्य ध्वनि होती है तो यह ष हो जाता है। वाक् + हरिः [वापहरिः], तत् + हरिः [तद्धरिः]; राष ही यदि पूर्ववर्ती ध्वनि अधोप है, तो ह के गधोपत्वके कारण वह भी गधोप हो जाती है।

[९] अजन्त पुल्लिङ्ग शब्दोंके द्वितीया बहुवचनके रूपोंके "आन्" वाले पदोंके बाद चवर्ग या तवर्ग ध्वनियोंके आनेपर क्रमशः 'म्' या 'न्' का आगम हो जाता है, तथा अनुनासिक स्पर्श ध्वनि 'न्' पूर्ववर्ती स्वरको गानुनासिक बनाकर स्वयं लुप्त हो जाती है। तान् + तान् = तास्तान्,

अहोन् + च [ सर्वान् ] = अहोश्च [ सर्वान् ] । इससे इस कल्पनाकी पुष्टि होती है कि प्रा० भा० यू० द्वितीया विभक्ति चिह्न \*ओन्स् [ons] था ।

[१०] यद्यपि विसर्गका उच्चारण अघोष 'ह' होता है, तथापि इसका सम्बन्ध 'ह' से न होकर भाषावैज्ञानिक दृष्टिसे स से है । यह स् रेफ [r] से भी धनिष्ठ सम्बन्ध रखता है । सम्भवतः इसीलिए पाणिनिने विसर्गको 'ह' मज्ञा दी है । यह विसर्ग परवर्ती स्पर्श ध्वनिसे अनुसार उसका सस्थानीय रूप धारण कर लेता है । कण्ठघ ध्वनियोंके पूर्व यह जिह्वामूलीय हो जाता है, श्रोत्रघ ध्वनियोंके पूर्व उपध्मानीय हो जाता है [त्रिन्हें हम क्रमशः बच्चाकार विगर्ग [x] और गजकुम्भाकृति विसर्ग [ɣ] भी कहते हैं], दन्त्य ध्वनियोंके पूर्व यह विसर्ग [s] रूपमें, तालव्य ध्वनियोंके पूर्व श् रूपमें, तथा प्रतिवैष्टि ध्वनियोंके पूर्व ष् रूपमें पाया जाता है । उदाहरणके रूपमें हम तत x किम्, पुनः पुनः, ततस्ते, ततश्चक्रे, धनुष्टकारः को ले सकते हैं ।

[११] अ, आ, ई, ऊ से भिन्न स्वर ध्वनिसे परे होनेपर तथा धादमे किसी स्वर, सघोष स्पर्श या 'घ' के होनेपर विसर्ग 'र' हो जाता है । यह विशेषता 'हरिर्वयंकः' इस उदाहरणमें देखी जा सकती है । भा० यू० परिवारकी अन्य भाषाओंमें 'स्' के र् के रूपमें परिवर्तित होनेकी स्थिति लैटिनमें देखी जाती है । लैटिनमें स्वरमध्यगन [intervocalic] स्, र् हो जाता है । उदाहरणके लिए लैटिन फ्लोस् [flos] शब्दका पष्ठी बहुवचन रूप फ्लोरिस [floris] \*flosis] बनता है । यह ध्वनिशास्त्रीय तथ्य इस बातका मकेल करता है कि 'स्' तथा 'र्' का परस्पर कोई सम्बन्ध माना जा सकता है । ग्रीककी भी बड़ी विभाषाओंमें यह स् ध्वनि स्वरमध्यगन होनेपर र् हो गई थी । यस्तुतः स्वरमध्यगन स् पहले सघोष ङ बना होगा, तदनन्तर यह र् बना होगा । इसका विश्वास या रहा होगा ।

१. Atkinson : Greek Language p. 45.

also see Buck . Comparative Greek and Latin Grammar pp. 132-32.

V S V → V Z V → V R V.

[ यहाँ V स्वरका, S अघोष दन्त्य सोष्मध्वनिना, Z सघोष दन्त्य सोष्म ध्वनिका, R रेफका चिह्न है । ] अघोष दन्त्य सोष्म ध्वनि स्वर या अन्य सघोष ध्वनिके प्रभावके कारण सघोष बन जाती है, तथा रेफ उसी सघोषत्वका प्रतीक है । इस तरह ऊपर दिये गये उदाहरणकी संख्यात्मक मरणि यों मान सकते हैं ।

हरिस् यथंकः [हरिः यथंकः] → हरिज् यथंकः → हरिर् यथंकः  
[हरिर् यथंकः] इस प्रकार हमें यहाँ \*हरिज् जैसे रूपकी कल्पना करनी पड़ती है ।

इसीके दूसरे उदाहरण हम ये दे सकते हैं :— गौः + गच्छति—गौर्गच्छति, तं + भूतम् = तंभूतम्, मुनेः = मनः = मुनेभ्यः, शत्रुः + हरति = शत्रुहरति, गौः + प्रागच्छति = गौरागच्छति आदि ।

[१२] विसर्गका एक तीसरे प्रकारका विकास और पाया जाता है । विसर्गके पूर्व दीर्घ स्वर ध्वनि आ, ई, ऊ के होनेपर तथा परे सघोष ध्वनि होनेपर उसका लोप हो जाता है । विसर्गके पूर्व ह्रस्व स्वर ध्वनि तथा परे रेफ होनेपर ह्रस्व स्वर ध्वनि दीर्घ बन जाती है तथा विसर्गका लोप हो जाता है । [ ड्रलोपे पूर्वस्य च दीर्घोऽणः ], यथा हरी रम्यः [हरिः + रम्यः], शम्भू राजते [शम्भुः + राजते] । इतना ध्वनिशास्त्रीय कारण यह बताया जा सकता है कि यहाँ भी 'विसर्ग' [ स् ] पहले ज् [ z ] बनकर फिर लुप्त हुआ, संस्कृतमें ज् [ z ] जैसी ध्वनिका अभाव है अतः विसर्ग [ स् ] ने सघोष रूपका लोप हो जाना है । पर जहाँ इस लोपमें अक्षर-भार [syllabic weight] में गड़बड़ होती है, वहाँ पहले ह्रस्व स्वरकी दीर्घ बनाकर अक्षर-भारकी कमी पूरी की जाती है । यदि विसर्गके पूर्वका अक्षर स्वतः दीर्घ है तो अक्षर-भारकी गड़बड़ीका प्रश्न ही नहीं उठता, वहाँ लोप होनेसे कोई कमी नहीं होती, अतः न नथोन ध्वनिके संनिवेशका ही प्रश्न उठता है, न उन स्वरध्वनियोंके दीर्घीकरणका ही । इसे हम यों स्पष्ट कर सकते हैं ।

[१]— $\bar{V}S + C[B] \rightarrow \bar{V}C [B]$ —[इमा गताः, एता गच्छन्ति]

[२]— $\bar{V}S + V \rightarrow \bar{V} V$ —[इमा प्रागताः; इमा अत्र]

[३]— $\bar{V}S + R [H] \rightarrow \bar{V} R [H]$ —[इमा राजन्ते, इमा हरन्ति]

[१३] विभर्गमन्धिका एन तीसरा प्रकार वह होता है जहाँ विसर्ग [स्] से पूर्व तथा परे दोनों ओर अ ध्वनि हो। ऐसे स्थलोंपर दोनों स्वर तथा मध्यगन विभर्ग ओ का रूप धारण कर लेते हैं। भाषाशास्त्रीय दृष्टिसे यह माना जा सकता है कि यहाँ भी स् [ः] पहले सघोष 'क्' [ɟ] होता है। फिर उसका लोप कर उसकी पूर्ति व् [w] पूरकने द्वारा की जाती है। हम इसे यों बताने सकते हैं—रामः + अयम् = \*राम [ɟ] + अयम् = राम [w] अयम् [राम [ɟ] अयम्] = रामोऽयम्। भाव यह है 'व्' श्रुतिका स्वरगत पूरक रूप [closure] अक्षर-भार [syllabic weight] को कायम रखनेमें सहायता करता है। साथ ही यह 'व्' \*रामायम्' जैसे रूपको बननेसे भी रोकता है, जो अ + अ वाली सन्धिमें पाया जाता है।

[१४] सन्धि प्रकरणमें संस्कृतमें ऐसे भी शब्द मिलते हैं, जो सन्धिगत रूप धारण नहीं करते। इन्हींको प्रगृह्य पारिभाषिक संज्ञा दी गई है। अजन्त शब्दोंके द्विवचन रूपोंमें तथा क्रियाके द्वि० व० रूपोंमें ई, ऊ, ए, वाले रूप प्रगृह्य हैं। इसी तरह अमी, इ, अहो, आ भी प्रगृह्य हैं। इनके उदाहरण ये हैं—इ इन्द्र, इवी इह, आ एवम्; सापू भागच्छतः, अमी अशवा, विद्ये इष्टे, याचते अथम्, अहो अपेहि। प्रगृह्य रूप जैसे-वैसे बने रहने हे उनमें महिता स्थितिमें कोई विकार नहीं होता।

१.  $\bar{V}$  = दीर्घ स्वर [ आ, ई, ऊ ]; S = विसर्ग, स्; C [B] = सघोष ध्वजन V = स्वर; R = रेफ; H = प्राणध्वनि, ह।

विसर्ग सधिके प्रकरणमें कुछ ऐसे भी शब्द हैं, जिनके विसर्गका व्यजन-के परे रहनेपर सदा लोप पाया जाता है, जैसे भोः, एष, स' के सधियन रूपमें—भो नैषध, स ददर्श, एष गच्छति ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि सधियमें ध्वनिशास्त्र बड़ा महत्वपूर्ण कार्य करता है, जिस प्रकार एक ध्वनि दूसरे प्रकारकी ध्वनिसे साथ आकर अपना रूप बदल देती है । एक साथ दो विभिन्न प्रवृत्तिकी ध्वनियोंके उच्चारणमें वक्ताको असुविधा होती है । यह उनका उच्चारण विभिन्न रूपमें तभी कर सकता है, जब कि दोनों ध्वनियोंका उच्चारण एक साथ न कर क्षण-भरके लिए बीचमें ठहर जाय । यदि वह एक साथ अविच्छिन्न प्रवाहमें इनका उच्चारण करेगा, तो ये ध्वनियाँ परस्पर प्रभावित अवश्य होंगी । इस सम्बन्धमें हम देखते हैं कि एक साथ अधोप तथा सधोप ध्वनिका उच्चारण करनेमें वक्ताको असुविधा होती है । यह एक ध्वनिशास्त्रीय तथ्य है कि प्रथम ध्वनिके अधोप होनेपर तथा द्वितीय ध्वनिके सधोप होनेपर बट भी उगी वर्गकी सधोप ध्वनि ही जायगी । यथा दिक् + गज [ दिग्गज ], घाक् + दण्ड [ घाग्दण्ड ] में हम देखते हैं कि एक साथ उच्चारणके कारण प्रथम पदके अन्तकी अधोप अन्यप्राण म्यसं ध्वनि परवर्ती सधोप ध्वनिके कारण सधोप हो जाती है । इसी प्रकार परवर्ती ध्वनिके अनुनासिक होनेपर पूर्ववर्ती अधोप अन्यप्राण स्पर्श ध्वनि सवर्तीय अनुनासिक हो जाती है, यद् भो हम देण चुं है । इन्हे हम सधोपोन्मरण [prosody of voicing] तथा अनुनासिकीकरण [prosody of nasalization] कहेंगे । यदि इन पदोंका उच्चारण महिना [sentence] के रूपमें न किया जाय और पद स्वल्प उच्चरित किये जायें तो ये 'सम्प्राप्तमानाएँ' नहीं रहेंगी । हम तीन उदाहरण ले लें, दिक् + गज [दिग्गज], तत् + मतम् [सम्मत्म्], तत् + दधका [तद्दधका] । इनका महिनागत उच्चारण कोष्ठरवाला होगा । एतद्वाक्यमें उच्चरित किये जानेपर, हमारा उच्चारण कोष्ठरवाला ही होगा, चाहे हम उसे यथानेवा चितना ही प्रयोग क्यों न करें । किन्तु यदि श्रवणका स्वभाव



उच्चारण करेंगे तो सन्धि का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता, तथा दिक् कह-  
कर कुछ देर बाद गज' कहा जाय, तो 'क्' के उच्चारणमें कोई विकृति  
नहीं आयेगी ।

संस्कृतमें जहाँ विसर्ग सन्धिमें विसर्गवा लोप हो जाता है, वहाँ विसर्गव  
स्थानपर एक दक्षिण विराम सा पाया जाता है । सन्धिमें इम दक्षिण  
विरामका भी बड़ा महत्त्व है । जहाँ उपभावर्ती स्वर ध्वनिके बादका विसर्ग  
लुप्त हो गया है, तथा अपर पदके आदिमें स्वर ध्वनि है तो पुन सन्धि न होने  
देनेके लिए उच्चारण कर्ता बीचमें कुछ रुककर उच्चारण करता है । यहाँ  
वह ध्वरितगतिका आश्रय इसलिए नहीं लेता कि एक श्वाभ्यन्त उच्चारण  
करनेपर स्वरध्वनियामें फिर-से दूमरी सधि होनेकी सम्भावना है । यह  
दक्षिण विराम संस्कृतमें कोई ध्वन्यात्मक तत्त्व [phonematic element]  
न होकर केवल सन्ध्यात्मक तत्त्व [ prosodic element ] है । सम्भवत  
यह एक कण्ठनालिक स्पर्श [ glottal stop ] है, जैसा कि अरबी  
भाषामें 'हमडा' का उच्चारण होता है । इम उच्चारण सम्बन्धी विशेषता-  
को इम उदाहरणसे स्पष्ट कर दें ।

असौ यस्तास्रो अरण उत बभ्रु सुमगल ॥ [ ह्रस्वसूक्त ] का  
उच्चारण "असौ यस्तास्रो ? अरण ? उत बभ्रु सुमगल होता है । यहाँ  
हम देखते हैं कि तास्रो + अरण, अरण + उत में सधि न होने देनेके  
लिए बीचमें दक्षिण विराम पाया जाता है, जिसके लिए हमने ऊपरके  
उच्चारणमें ? चिह्नका प्रयोग किया है । वैदिक संस्कृतमें ए तथा ओ से परे  
अ के होनेपर अ का लोप नहीं होता । लौकिक संस्कृतमें यह लुप्त हो जाता  
है, तथा वैदिक तास्रो अरण लौकिक संस्कृतमें तास्रोऽरण हो जायगा ।  
द्रुतगतिसे उच्चारण करनेपर अरण उत का उच्चारण अरणोत हो जायगा,  
इसे बचानेके लिए ही यह विराम पाया जाता है । विसर्गवा लोप होनेपर या  
ए, ओ का लोप होनेपर भी यह दक्षिण विराम लौकिक संस्कृतके उच्चारणमें  
भी पाया जाता है । हम एक उदाहरण ले लें—

रम्या इति प्राप्तवती पताका राग विविक्ता इति वर्धयन्ती", यहाँ रम्या + इति तथा विविक्ता + इति में विसर्गका लोप हो गया है तथा उच्चारण करते समय पाठक 'रम्या' के बाद आये क्षण भर ठहर कर 'इ' का उच्चारण करता है। यदि यह विराम न होगा तो वाक्योच्चारणका मध्यात्मक रूप \*रम्येति, \*विविक्तेति हो जायगा। यह रूप एन और व्याकरणात्मक रूपको गड़बड़ा देगा, क्योंकि यहाँ दोना द्वितीया बहुवचनान्त रूप है, दूसरी ओर वणिक छन्द भी गड़बड़ा जायगा, जहाँ चतुरदार-समुदाय श्पक्षर [ trisyllable ] तथा पञ्चाक्षर समुदाय चतुरक्षर हो जायगा। इसीको रोकनेके लिए इस 'कष्टनालिक' विरामका प्रयोग होगा।

एक बार सधि होनेपर पुन सधि न होने देनेके लिए इन विरामके अतिरिक्त अन्य साधनका भी प्रयोग पाया जाता है। यह है बीचमें य् या य् श्रुतिके पूर्वका प्रयोग<sup>१</sup>। इस स्थानपर ये शुद्ध ध्वनि तब न होकर सध्यात्मक तत्त्व ही होते हैं। संस्कृतके सधिप्रकरणमें हम देखते हैं कि जहाँ अन्धधिमें एक बार पूर्ववर्ती पदके अन्तकी ए, ओ ध्वनिका लोप हो जाता है, वहाँ गहितागत रूप दो तरहके पाये जाते हैं, एक विराम मुन रूप, दूसरा श्रुतिगत रूप। यथा,

हरे + इह = हर + इह  $\left\{ \begin{array}{l} \text{हर इह [१]} \\ \text{य्} \\ \text{हर इह} = \text{हरयिह [२]} \end{array} \right.$

विष्णो + इह = विष्ण + इह  $\left\{ \begin{array}{l} \text{विष्ण इह [१]} \\ \text{य्} \\ \text{विष्ण इह} = \text{विष्णयिह [२]} \end{array} \right.$

यहाँ हम स्पष्टत दो तरहके रूप देखते हैं। य्, य् श्रुतिहीन रूपका उच्चारण हर ? इह, विष्ण ? इह करना होगा। द्रुत उच्चारणमें य्, य् श्रुति का प्रयोग इसलिए हाता है कि यहीं \*हरेह, \*विष्णेह रूप न बन

१ देखिए,—मेरा लेख, अन्त-स्य ध्वनियं [ शोधपत्रिका २००६ ]

जायें, तभी अग्र स्वरके सबधमे घ् तथा पश्च स्वरके सबधमे घ् का प्रयोग करनेपर हरयिह, विष्णविह रूप बनेंगे ।

यहाँ इन घ्, घ् ध्रुतियोपर दो शब्द और बह दिये जायें । वीम ता यह सिद्धान्त माना जा सकता है कि घ्, घ् का ध्रुतिविभाजन परवर्ती ध्वनिके रंग [colour] पर आधारित है, यथा ओष्ठ्य, कण्ठ्य तथा प्रतिव्येष्टित ध्वनियाको गहरी [या गाढ-रजित] [dark] तथा तालव्य और दन्त्य ध्वनियाको हल्की [या ईपद्रजित] [light] माना जाता है । घ् ध्रुतिको गाढरजित [dark] ध्वनियोसे सबद्ध माना जा सकता है, तथा घ् ध्रुनिको ईपद्रजित [light] ध्वनियोसे । किन्तु यह सिद्धान्त सब जगह ठीक नहीं बैठता । इसके पहले हम यह देख लें कि ध्रुति-तन्व मोटे तौरपर कहीं-कहीं हो सकता है — [१] जहाँ ए, ओ का लोप हो गया है, यथा उपरवाला उदाहरण, [२] जहाँ 'स्' सघोष होकर 'ञ्' हो गया है, तदनन्तर 'अ' संस्कृत ध्वन्यात्मक सत्त्व न होनेके कारण लुप्त हो गया है, पर सध्यात्मक भार [prosodic weight] को रखाके लिए किसी तत्त्वकी आवश्यकता होती है, जो इस लोपकी कमी पूरी कर सके । हम देखते हैं कि कई स्थलापर जहाँ भारत ईरानी वर्णकी विशेषताके कारण 'अ' [z] ध्वनि अवेस्तामें पाई जाती है, उनके समानान्तर रूपमें संस्कृतमें घ्, घ् ध्रुतियोमेंसे अन्यतरका प्रयोग पाया जाता है । हम देख चुके हैं कि जहाँ कहीं स्वरके बाद विसर्ग या 'स्' होगा, वहाँ अग्रध्वनि या सघोष व्यञ्जनके परे होनेपर विसर्ग या स् सघोष रूप [ञ्, z] धारण कर लेता है । एकबार और हम उस मूत्रको याद कर लें ।

$$-ah + C [ B ] = -aS + C [ B ] = -aZC [ B ]$$

अब जहाँ कहीं अवेस्तामें स्वरमध्यगत या सघोष ध्वनिमध्यगत स्, ञ् हो जाता है, संस्कृतमें वह लुप्त होकर  $-a [w]C [B]$  या  $-a [y]C [B]$  रूप बन जाता है । हम कुछ उदाहरण ले लें ।

[१] एधि :—संस्कृतमें यह  $\sqrt{अग्}$  धातुका रूप है, इसे हम अस् + धि बहेंगे । अवेस्तामें इसका समानान्तर रूप सिद्धि [ zdi ] पाया जाता

है जिसका विकास प्रा० अव्ययता रूप \*अज् + धि से मान सकते हैं। सस्वृतमें यह सरणि या होगी, अस् + धि = \*अज् + धि = अ[O] + धि = अ [ य ] धि = एधि। इस तरह हम देखते हैं स् पहले ज् होता है, फिर उसका लोप हो जाता है, जहाँ हमने शून्य-व्यञ्जन [O] का संकेत किया है। तदनन्तर 'य्' श्रुतिका स्वर रूप 'इ' उच्चरित होता है और बादमें अ + इ में मधि हाकर ए हो जाता है। भाषावैज्ञानिकों के मनमें एधि का रूप इस तरह निष्पन्न माना जा सकता है।

[२] सेदुः—संस्कृतमें यह √सद् धातुके लिट् के प्र० पु० बहु-वचनका रूप है। यहाँ √सद् धातुके दुर्बलरूप या शून्य रूप [zero grade] में सद् [sd] होगा। इस तरह सेदुः रूपकी निष्पत्ति या होगी—

सद् [√सद्] + उ = स + सद् + उ = \*स + सद् + उ = स +

[O] द + उ = स + स<sup>१</sup>द् + उ = स<sup>१</sup>दु = सेदु हम देखते हैं √सद् के दुर्बल रूपमें उ का लिट् विभक्ति चिह्न लगाकर यह रूप निष्पन्न होता है। इसके रूपमें लिट्के कारण 'स' का द्वित्व होता है, जो प्र० पु० ए० व० समाद म स्पष्ट है। तदनन्तर स्, ज् बनकर लुप्त होता है, तथा उसी वी श्रुतिके द्वारा पूरी की जाती है।

[३] नेदिष्टः—इसी तरह नेदिष्ट भी व्युत्पत्ति भाषावैज्ञानिक दृष्टिा √न-सद् + ष्ट या मानी जा सकती है। यहाँ भी 'सद्' वाली व्योम सोपम ध्वनि सधोप सोपम बनकर लुप्त होती है, तथा श्रुतिके प्रयोगसे नेदिष्ट रूप निष्पन्न होता है।

[४] पशोभि—यहाँ व् श्रुतिवाला उदाहरण दत्ता भी आवश्यक है। पशस् शब्दमें भि सुप् विभक्ति चिह्न जाकर पशोभि रूप निष्पन्न होता है। इन रूपको हम या स्पष्ट कर सकते हैं।

पशस् + भि = \*पशत् + भि = पश [O] + भि =

पश व् + भि = पश उ भि = पशोभि।

जिस तरह ऊपरके उदाहरणोमें य् श्रुति इ बनकर सन्धिगत रूपोमें ए पाई जाती है, वैसे यहाँ व् श्रुति उ बनकर सन्धिगत रूपोमें ओ पाई जाती है। सोऽहम् [सः + अहम्] वाले ओ ध्वनिकी भी ऐसी ही वहानी है, जो वस्तुतः सस् [सः] + अहम् = सः + अहम् = स व् + अहम् = स उ अहम् = सोऽहम् है। इसमें भेद यही है कि यहाँ परवर्ती अ का लोप हो जाता है, जो लौकिक संस्कृतमें प्रायः 'अवग्रह' [ऽ] से सूचित किया जाता है।

वैसे ध्यानसे देखनेपर पता चलता है कि कोई-कोई भाषामें किसी विशेष श्रुतिके प्रति विशेष प्रवृत्ति देखी जाती है। लौकिक संस्कृतमें य् श्रुतिकी अपेक्षा व् श्रुतिका मन्ध्यात्मक रूप ओ अधिक देखा जाता है। शौरसेनी तथा महाराष्ट्रीने इसी परम्पराको अपनाया है, वैसे वहाँ य् श्रुतिका अभाव नहीं है, तथा अपभ्रंशमें तो य् श्रुतिका स्वरमध्यगत प्रयोग परिनिष्ठित [standardised] हो गया है। मागधीमें य् श्रुतिके प्रति अभिनिवेश है। संस्कृत विसर्गके स्थानपर जहाँ शौरसेनी-महाराष्ट्री य् [उ] श्रुतिके ओ वाले रूपको अपनाती है, मागधी य् [इ] श्रुतिके ए वाले रूपको। हम अकारान्त शब्दके प्र० बहुवचनके रूप ले लें। संस्कृत देवाः के समानान्तर रूप शौ० देवाः तथा मागधी देवे हैं।

श्रुतियोका यह विचार केवल विसर्गके मन्धन्वमें किया गया है, अतः यहाँ प्राकृत तथा अपभ्रंश वाली पदमध्यगत श्रुतिका विवेचन करना अनावश्यक समझा गया है। हिन्दीकी पदमध्यगत श्रुति सम्बन्धी विशेषतापर कुछ प्रवाद हमने अन्यत्र डाला है।

**संस्कृत भाषामें स्वर [accent] :—**

किसी भी भाषाके पदोको अक्षरो [syllable] में विभक्त किया जा सकता है। ये पद एकाक्षर, द्व्यक्षर, त्र्यक्षर, चतुरक्षर हो सकते हैं। अक्षर-संघटनाका यह विश्लेषण हम असमस्त [व्यस्त] पदोंके विषयमें करते हैं।

लौग्निसंस्मृतके समानात् पदोमे तो बोरियो अक्षर पाये जाते हैं, जैसे वादम्बरीके समासान्त पदोमे । पर भाषावैज्ञानिक दृष्टिसे उनका महत्त्व नहीं, न वहाँ भाषाकी नैसर्गिकता ही है । अक्षरमे स्वर प्रमुख है, वह अक्षरका मेरुदण्ड है, अतः अक्षर, कोरा स्वर, स्वर तथा व्यञ्जन, व्यञ्जन [एक या दो] तथा स्वर, तथा व्यञ्जन [एक या दो] स्वर तथा व्यञ्जन [एक या दो] इस तरह कई तरहका हो सकता है । यदि हम स्वरके लिए V तथा व्यञ्जनके लिए C चिह्नका प्रयोग करें, तो अक्षरके प्रकारको हम यो बता सकते हैं — [१] V, [२] VC, [३] C [c] V, [४] C [c] VC [c] । इनके उदाहरण क्रमशः उ, आम्, सा [खा]; पात् [स्पश, स्पन्द] दिये जा सकते हैं । यह स्वर ध्वनि कभी ह्रस्व हो सकती है, कभी दीर्घ ।

अक्षर ही वह तत्त्व है जिसके उच्चारणमे दो तरहकी स्वर-प्रकृति पाई जाती है — एक स्वरका आरोह [rising tone], दूसरा स्वरका अवरोह [falling tone] । इन्हीकी मिश्रित स्थिति वह होती है जहाँ उच्चारणकर्ता उच्च स्वर-स्थितिसे एकदम नीचेकी ओर उतरता है, जहाँ आरोहसे एकदम अवरोहकी ओर आता है, इसे ही ध्वनिशास्त्री "rising-falling tone" कहते हैं । हमारे यहाँ ये ही क्रमशः उदात्त, अनुदात्त तथा स्वरित कहलाते हैं । जैसा कि प्रातिशाख्योमे बताया गया है —

[१] उदात्त स्वरमप्यत्र अक्षरके उच्चारणमे गात्रांकी शक्तिरा आरोह [ऊर्ध्वगमन] होता है —

[उच्चं उदात्त. १।१०६]; आपामेनोर्ध्वगमनेन गात्राणां य स्वरो निष्पद्यते स उदात्तस्यो भवति<sup>२</sup>

१. यहाँ 'स्वर' शब्दका अर्थ स्वरध्वनि न होकर गलेकी प्राणाद्वारे उतार या चढावसे है ।

२. शुक्लयजु प्रातिशाख्य [वात्स्यायन] १-१०६ तथा उसका उद्धृत कृत भाष्य पृ० २३

[२] अनुदात्त स्वरवाले अक्षरके उच्चारणमे गात्रोकी शक्तिका मार्दव [अधोगमन] पाया जाता है ।

[ नीचैरनुदात्तः १।१०६ ]; नीचैर्मर्दिवेण।धोगमनेन  
गात्राणां यः स्वरो निष्पद्यते सोऽनुदात्तसंज्ञो भवति ]<sup>१</sup> .

[३] जहाँ एक बार उदात्त स्वरके कारण गात्रोका आयाम [आरोह] हो, तदनन्तर अनुदात्तस्वरके कारण गात्रोका मार्दव [अवरोह] हो, वहाँ दोनो तरहके प्रयत्नोसे मिश्रित स्वर स्वरित कहलाता है ।

[ उभयवान्त्स्वरितः । १।११०; उदात्तस्योर्ध्वगमनं गात्राणां प्रयत्न  
अनुदात्तस्याधोगमनं गात्राणां प्रयत्न आम्भ्यां प्रयत्नाम्भ्यां समाहारीभूताम्भ्यां  
स स्वरितसंज्ञो भवति ]<sup>२</sup>

[ उदात्तपूर्वा स्वरितमनुदात्तं पदेऽक्षरम् । ]<sup>३</sup>

[४] स्वरितके बादके अनुदात्त स्वरको, जहाँ एक साथ गात्रोका मार्दव पाया जाता है, अलगसे पारिभाषिक संज्ञा दी गई है । वे 'प्रचय' या 'एकधृति' कहलाते हैं ।

[ स्वरितादनुदात्तानां परेषां प्रचयः स्वरः ॥ ]<sup>४</sup>

उदात्त, अनुदात्त तथा स्वरितकी इस उच्चारण स्थितिको शौनकेने ऋक्प्रातिशाख्यमे क्रमशः आयाम, विश्रम्भ तथा आक्षेप कहा है —

[ उदात्तश्चानुदात्तश्च स्वरितश्च प्रयः स्वराः । प्रायामविश्रम्भा-  
क्षेपंस्त उच्यन्तेऽक्षराश्रयाः ॥ ]<sup>५</sup> .

१ वही तथा उसपर उद्धृत कृत भाष्य १. १०६, पृ २३ ।

२ वही, १. ११०. पृ २३. ।

३ शौनकीय ऋक् प्रातिशाख्य, तृतीय पटल; ४ ।

४ शौ० ऋ० प्रा०, तृतीय पटल, ११ ।

५ वही, तृ० प० १ ।

एकाक्षर, द्व्यक्षर, त्र्यक्षर, चतुरक्षरके स्वर-विभाजनका क्रम अलग-अलग तरह का देना जाता है। साथ ही इनका उच्चारण पदरूपमें अन्य होता है, सहिता रूपमें अन्य। इस बातको आजके ध्वनिर्विज्ञानिकोंने पद-स्वर [ word-intonation ] तथा गहितास्वर [ sentence intonation ] के भेद को स्पष्ट कर स्थापित किया है। जहाँ तक एकाक्षरके स्वरका प्रश्न है, पद रूपमें उमवा स्वर उदात्त भी माना जा सकता है, अनुदात्त भी, पर अधिकतर उसे अनुदात्त ही माना जाता है। वाक्यमें उसका स्वर बदल भी सकता है। वैसे वैदिक संस्कृतमें कई एकाक्षर [ monosyllable ] स्वर स्वतः उदात्त होते हैं, कई अनुदात्त। अन्य पदोंमें [ द्व्यक्षरादि पदोंमें ] प्रायः पूरे पदमें एक ही उदात्त स्वर पाया जाता है, बाकी स्वर अनुदात्त [ और स्वरित ] ही होंगे। एक ही प्रकारकी ध्वन्यात्मक [ phonetic ] या अक्षरात्मक [ syllabic ] सघटना [ sequence ] में स्वर-भेदसे अर्थ-भेद हो सकता है। संस्कृतमें भी स्वर-भेदसे एक ही ध्वन्यात्मक सघटना [ phonematic sequence ] वाले पदोंका अर्थ-भेद देना जाता है। यह अर्थ-भेद ममासमें बहुत नाम करता देता जाता है, जहाँ मुख्य कारण स्वर-भेद [ difference of accent ] ही होता है। हम एक प्रसिद्ध उदाहरण को ले-लें—इन्द्रशत्रुः। जहाँ तक इस समस्य पदमें पदद्वयके व्यन्तरूपका प्रश्न है, हम उसपर विचार न कर हम समस्य पदके चतुरक्षर रूपपर ही विचार करेंगे। जैसा कि हम सनेत कर चुके हैं प्रायः प्रत्येक पदमें एक ही उदात्त स्वर हो सकता है [ वैसे इस नियमके कुछ अपवाद भी हैं, जिनका उल्लेख हम आगे करेंगे ], इन पदमें भी एक ही अक्षर उदात्त-स्वर सम्पन्न हो सकता है। ध्यम्न पदोंको लेनेपर हम देखेंगे कि इन्द्र तथा शत्रुः दोनों पदोंका प्रथमाक्षर उदात्त है, किन्तु समस्य पदमें यह उदात्त स्वर या तो पूर्व पदमें ही रह सकता है, या उत्तर पदमें ही। अब हमें यही देयना है कि इन्द्रशत्रुः में उदात्त स्वर किम अगमें होगा। द्व्यक्षर [ disyllables ] में उदात्तस्वर प्रायः प्रथमाक्षर [ first syllable ]



पर पाया जाता है, किन्तु पदोके समस्त होनेपर कर्मधारय तथा तत्पुरुष समासमें उदात्त स्वर अंतिम अक्षर [ final syllable ] पर पाया जाता है, क्योंकि ध्यान दीजिए कर्मधारय तथा तत्पुरुष समासमें उत्तर पद प्रधान होता है । जब कि बहुव्रीहिमें यह उदात्त स्वर प्रथम अक्षरपर ही बना रहता है, क्योंकि यहाँ अन्य पदार्थकी प्रधानता होती है । यदि स्वरके आरोह या आयाम-मार्गको व्यक्त करनेके लिए हम आधुनिक ध्वनिशास्त्रियोंकी प्रणालीका आश्रय लें तो उसे यों व्यक्त करेंगे—

- [ १ ] इन्द्रशत्रुः [ बहुव्रीहि ]<sup>१</sup> — — — —  
 [ २ ] इन्द्रशत्रुः [ तत्पुरुष ]<sup>२</sup> — — — —

इस सुबधमें आधुनिक ध्वनिशास्त्रियोंका मत है कि उच्चतम स्वर [ उदात्त ] पदमें एक ही होता है, पर बाकी अनुदात्त स्वर सभी एक कोटिके नहीं होते तथा उनके स्वरमें भी सूक्ष्म भेद होता है, मोटे तौरपर वे सभी अनुदात्त कहलाते हैं ।

प्रा० भा० यू० में स्वरका महत्त्वपूर्ण स्थान था । वैदिक संस्कृतने प्रा० भा० यू० स्वरकी पूर्ण रक्षा की है । शुद्ध उच्चारणकी रक्षानी इच्छासे भारतीय मनीषियोंने उदात्त तथा अनुदात्त स्वरोंका सकेत करनेके लिए चिह्न बनाये, साथ ही पद व सहिता गत स्वर-परिवर्तनका विवेचन किया । भारतीय भाषा में भी ग्रीक भाषाके शुद्ध उच्चारणकी रक्षाके लिए हेलेनिक समयसे ही स्वरचिह्नोंका प्रयोग आरम्भ हो गया था, जो अलेग्जेंड्रियन वैयाकरणोंने हाथों परिष्कृत हुआ । प्राचीन ग्रीकमें तीन प्रकारके स्वर-चिह्नोंका प्रयोग पाया जाता है—', ^ जो क्रमशः उदात्त, अनुदात्त तथा स्वरितके प्रतीक हैं । ग्रीकमें प्रायः अनुदात्त स्वरके अक्षरोंको अचिह्नित

१. इन्द्र शत्रुर्ग्रन्थस्य स. [ जिसका शत्रु इन्द्र है ]—बहुव्रीहि ।

२. इन्द्रस्य शत्रुः [ इन्द्रका शत्रु ]—तत्पुरुष ।

छोड़ दिया जाता था। वैदिक सस्कृतमें ठीक उल्टी प्रणाली है कि जहाँ उदात्तको अचिह्नित छोड़ दिया जाता है। वैदिक सस्कृतमें तत्तत् वेदमें भिन्न-भिन्न प्रकारके चिह्नोंका प्रयोग पाया जाता है। वेदोंमें ही नहीं, शाखाओं-तकमें यह भेद पाया जाता है। किन्तु ऋग्वेदकी प्रणाली प्रायः अन्य वेदोंमें भी आदृत हो गई है। अथर्ववेद, वाजसनेयी [ यजुष् ] रुहिता, तैत्तरीय [ यजुष् ] सहिता, तथा तैत्तरीय ब्राह्मण स्वरसंकेतोप ऋग्वेदसे ही प्रभावित है। जहाँ तक सामवेदके स्वरचिह्नोंका प्रश्न है, वे गानसे संबद्ध होनेके कारण भिन्न प्रकारके हैं, उनमें स्वरके आरोहावरोहको वारंवारिक मात्राके नियामक संकेत १, २, ३, ४ भी पाये जाते हैं। यहाँ तो हमें ऋग्वेदके स्वर चिह्नोंका संकेत भर देना है। ऋग्वेदीय प्रणालीके अनुसार अनुदात्त स्वरको ध्वजा करनेके लिए अधरके नीचे पड़ी लकीर [-] का प्रयोग किया जाता है, किन्तु उदात्त स्वरवाले अधरपर कोई चिह्न नहीं होता। स्वरित स्वरवाले अधरके ऊपर खड़ी लकीर [ । ] अक्षिप्त की जाती है। उदाहरणके लिए

हम 'अधर पद 'अग्निना' को ले लें। यहाँ प्रथम अक्षर 'अ' अनुदात्त है, अतः नीचे पड़ी लकीरमें चिह्नित किया गया है, द्वितीय अक्षर 'ग्नि' उदात्त है, अतः अचिह्नित छोड़ दिया गया है, तृतीय अक्षर 'ना' पुनः अनुदात्त है, तथा उदात्तके बाद आनेके कारण स्वरित हो गया है, अतः ऊपर खड़ी लकीरमें चिह्नित किया गया है। इस प्रथममें हमारा प्रमुख लक्ष्य वैदिक सस्कृतके स्वरका विवेचन है, उसके चिह्नोंका विवेचन नहीं, अतः मैत्रायणी संहिता, वाठव संहिता आदिके चिह्नण संबंधिपर हम प्रकाश नहीं डालेंगे। यहाँ हम वैदिक स्वर-प्रक्रियाकी अत्यधिक महत्वपूर्ण ५-६ विशेषताओंका ही संकेत करेंगे। साथ ही हम वैदिकी अलग-अलग शाखाओंके स्वर गत वैमर्शपर ध्यान न देंगे, क्योंकि यह विषय अलगमें संवेचनाका तथा स्वतंत्र प्रवचनका विषय हो सकता है।

प्रा० भा० मू० की स्वरप्रक्रियाका अध्ययन भी तुलनात्मक भाषाशास्त्रका एक महत्वपूर्ण अंग है। प्रथम नियमों के अन्वये शाखा-एतदी-

करण इसी प्रा० भा० यू० स्वरप्रक्रियाके आधारपर हो सका है। वर्नरने ग्रिम नियमके उपनियमकी अवतारणा करते हुए, जो भाषाशास्त्रमें वर्नरके उपनियम [Verner's Corollary] के नामसे प्रसिद्ध है, यह स्थापना की थी कि ग्रिमका नियम वहाँ लागू होता है, जहाँ मूलतः कर्लैसिकल भाषाओंमें उदात्तस्वर सम्पन्न अक्षर [accented syllable] था तथा स्पर्श ध्वनि पदादिमें थी, ऐमा होनेपर कर्लैसिकल [संस्कृत, लैटिन, ग्रीक] सघोष अल्प-प्राण, लो जर्मनमें महाप्राण [अथवा सोप्य ख, थ, फ], तथा हाईजर्मनमें अघोष अल्पप्राण हो जाते हैं, इसी तरह कर्लैसिकल अघोष अल्पप्राण, लो जर्मनमें सघोष अल्पप्राण, तथा हाईजर्मनमें महाप्राण [अथवा सोप्य ख, थ, फ] हो जाते हैं, तथा कर्लैसिकल महाप्राण लो जर्मनमें अघोष अल्पप्राण तथा हाई जर्मनमें सघोष अल्पप्राण हो जाते हैं। वर्नरने बताया था कि कई स्थलोंमें ग्रिमका उक्त नियम पूरी तरह इसलिए लागू नहीं हो पाता कि वहाँ स्पर्श ध्वनि पदादिमें नहीं होती साथ ही वह अनुदात्त स्वरसम्पन्न अक्षर [unaccented syllable] में होती है।

प्रा० भा० यू० की स्वरप्रक्रियाको जाननेके लिए संस्कृत जितनी सहायक सिद्ध हो सकती है, उतनी ग्रीक तथा लैटिन नहीं। ग्रीक तथा लैटिनमें स्वरके उदात्तत्वका नियामक तत्त्व प्रायः शब्दकी अक्षर संख्या होती है। ग्रीककी स्वरप्रक्रिया त्र्यक्षर-नियम [the law of three syllables] के द्वारा अनुबद्ध है। इसके अनुसार ग्रीकमें पदान्तसे पूर्वके तीसरे अक्षरसे अधिक पीछे उदात्त स्वरका प्रयोग नहीं होता। वैसे इसके कतिपय अपवाद भी देखे जाते हैं। लैटिनमें भी किसी हदतक त्र्यक्षर नियमकी पाबन्दी की जाती है तथा वही भी उदात्त स्वर पदान्तसे पूर्वके तीसरे अक्षरसे अधिक पीछे नहीं पाया जाता, किन्तु फिर भी लैटिनकी स्वरप्रक्रिया ग्रीककी स्वरप्रक्रियासे भिन्न है। लैटिनमें उपधा अक्षरकी मात्रा स्वरका नियमन करती है, जब कि ग्रीकमें पदान्त अक्षरकी मात्रा स्वरका नियमन करती है। संस्कृतमें इस तरहका कोई निश्चित नियम नहीं है, इसलिए भाषावैज्ञानिकोंने संस्कृत स्वरप्रक्रिया-

को 'स्वतन्त्र' [free] माना है। यहाँ शोक या लैतिनकी तरह उदात्त स्वर किसी सीमामें संकुचित नहीं है, वह कही भी, किसी भी अक्षरमें हो सकता है। साथ ही ग्रीक या लैतिनकी तरह शस्त्रुत स्वरप्रक्रियाका नियामक तत्त्व न तो पदात्त अक्षरकी मात्रा [जैसा कि ग्रीकमें है] है, न उपधा अक्षरकी मात्रा ही [जैसा कि लैतिनमें है] किन्तु संस्कृत स्वरप्रक्रिया पदकी व्युत्पत्ति [उसमें प्रयुक्त प्रत्यय, विभक्ति आदि] तथा उसके वाक्यगत [महितागत] प्रयोगपर निर्भर करती है।

[१] संस्कृतमें प्रायः प्रत्येक पदमें केवल एक ही उदात्त स्वर पाया जाता है। ठीक यही बात ग्रीकमें पाई जाती है। स० त०, प्राक० त०<sup>१</sup>म् [tato's] स० जानु, ग्रीक० गानु [gánu]। पर कुछ ऐसे भी पद हैं, जिनमें वेदमें प्रमुख स्वर स्वरित पाया जाता है। किन्तु यह रूप प्रायः 'य' 'व' वाले सयुक्ताक्षरमें पाया जाता है, जो वस्तुतः 'इ' 'उ' के ही सन्ध्यात्मक [prosodic] रूप हैं। उदाहरणके लिए हम र०<sup>१</sup>यम्, त०<sup>१</sup>न्वम् इन दो पदोंको ले लें। यहाँ यह विशेषता पाई जाती है कि अनुदात्तके प०<sup>१</sup>न्वम् बादमें स्वरित आ गया है, जो सदा उदात्तके बाद होता है। यह विशेषता इस बातका संकेत करती है कि इन द्व्यक्षर [disyllabic] पदका उच्चारण त्र्यक्षर [trisyllabic] होना था, तथा वहाँ द्वितीय अक्षर उदात्त स्वर युक्त था। वस्तुतः इनका उच्चारण र०<sup>१</sup>यि०<sup>१</sup>म्, त०<sup>१</sup>नु०<sup>१</sup>म् होता है। विद्वानोंको पता है कि गायत्री मन्त्रके 'वरेभ्य' पदका उच्चारण भी

१ सुविधाकी दृष्टिके ग्रीक शब्दोंके देवनागरी लिपीकरणमें मैंने नैदिक स्वर चिह्नोका ही प्रयोग किया है।

'वरेणिय' होता है, तथा ऐमा करनेपर ही तत्सवितुर्वरेण्य इस पदमें आठ अक्षर पूरे होते हैं ।<sup>१</sup>

[२] समासान्त पदोंमें प्राय एक ही उदात्त स्वर होता है, किन्तु उन द्वन्द्व समासोंमें जहाँ दोनों पदाऽऽ द्विवचनमें हैं, तथा उस तत्पुरुषमें, जहाँ पूर्वपद पृष्ठजन्त है, दोनों पदाऽऽओंमें उदात्त स्वर पाया जाता है, यथा मित्रा बहणा, बृहस्पतिः ।<sup>२</sup>

[३] कुछ पद ऐसे भी हैं, जिनमें सभी अक्षर अनुदात्त होते हैं, तथा उदात्त स्वरका अभाव होता है । इनमें प्रमुख वे क्रिया पद हैं, जो वाक्यकी समाप्तिका क्रियाएँ होती हैं ।<sup>३</sup> यथा, अग्निमीळे पुरोहितम् में, जहाँ 'ईळे' में कोई उदात्त स्वर नहीं है । यदि सम्बोधन वाला रूप वाक्य या पादके आदिमें नहीं होता, तो यह भी उदात्तस्वररहित [ enclitic ] होता है । सम्बोधनकी ऐसी ही विशेषता ग्रीकमें भी पाई जाती है<sup>४</sup> ।

[४] समस्त पदोंमें प्राय कर्मधारय तथा तत्पुरुषमें उदात्त अन्तिम अक्षरपर होता है, बहुव्रीहिमें प्रथमाक्षरपर, जैसे राजपुत्रः [ तत्पुरुष ], राजपुत्रः [ बहुव्रीहि ] ।<sup>५</sup>

[५] सधिमं यदि प्रथम द्वितीय दोनों अक्षरोंमेंसे कोई भी या दोनों उदात्त होते हैं, तो सधिय अक्षर उदात्त होता है । इस तथ्यका सबैत महाकवि कालिदासने भी इस उपमाके द्वारा किया था—निहन्यरोनेरुपदे य उदात्तः

१. गायत्री वर्णित वृत्त है तथा उसके प्रत्येक चरणमें आठ अक्षर

[ वर्ण ] होते हैं ।

२. Macdonell · Vedic Grammar p. 452, rule 7.

३. Ibid. p. 454-5.

४. Atkinson : Greek Language p. 57.

५. Macdonell : Vedic Grammar p 457-8.

स्वरानिव । उदाहरण, नुदस्वाय [नुदस्व + अय], नातर [न + अतर] ।

[६] वाक्यमें अर्थान् सहितापाठमें भी ये स्वर एक दूसरेको प्रभावित करते हैं । उदात्तवे वाद आनेवाला अनुदात्त स्वरित हो जाता है, तथा वह खड़ी लकीरसे चिह्नित होता है, उमवे वाद आनेवाले अनुदात्त एकश्रुति या प्रचय कहलाते हैं, और तब तक अचिह्नित छोड़ दिये जात हैं, जब तब कोई उदात्त स्वर नहीं आता, किन्तु ज्या ही कोई उदात्त स्वर आया उससे पूर्ववर्ती अक्षरको अनुदात्तके चिह्नसे चिह्नित कर दिया जाता है, यह इस बातका द्योतक है कि उच्चारण कर्ताको अपना स्वर ऊँचा करना है, इसी तरह स्वरित इस बातका चिह्न है कि उसे स्वर नीचा करना है । इस अवधमें हम सहिता पाठका एक उदाहरण ले लें—

१ येना सू॒यं ज्योति॒षा वा॒पसे॒ तमो॒

२ जग॑च्च॒ विश्व॑ मु॒दिय॑षि॒ भानु॑ना ॥

१.

२

किन्तु ये ही पद व्यस्त होनेपर पदपाठमें यो हो जायेंगे —

येना । सू॒यं । ज्योति॒षा । वा॒पसे॒ । तमो॒ ।

जग॑त् । च॒ । विश्व॑ । ज॒त् । मु॒दिय॑षि॒ । भानु॑ना ॥

लौकिक संस्कृतमें आकर स्वर चिह्नका प्रयोग नहीं पाया जाता । किन्तु इसका मतलब यह नहीं कि वही स्वर नहीं पाया जाना । वस्तुतः वहाँ

इन नियमोंकी पावन्दी ढीली हो गई और आज इस सम्बन्धमें लौकिक मंस्कृतमें कोई नियम नहीं है। वैसे पाणिनिने अपनी व्याकरणमें इसको ध्यानमें रखकर सूत्र बनाये हैं, पर स्वरोकी अत्यधिक महत्ताको उन्होंने भी वैदिकी प्रक्रियामें ही माना था, ऐसा संकेत मिल सप्रता है। सम्भवतः इसीलिए भट्टोजिदीक्षितने सिद्धान्तकौमुदीमें स्वरवैदिकी प्रक्रियाका विचार विशेषतः वैदिक प्रयोगोंके सम्बन्धमें ही किया है।

# संस्कृत पद-रचना

## [संज्ञा, विशेषण एवं सर्वनाम]

संस्कृतके पद<sup>१</sup> प्रा० भा० यू० पदोकी भाँति उन समस्त चिह्नोके द्योतक है, जिन्हें हम तीन भागमें विभक्त कर सकते हैं। इनमेंसे प्रथम अक्षर मुख्य भावना द्योतक है, जिसे हम मूल रूप [धातु या शब्द] कह सकते हैं। अन्य दो अक्षर प्रत्यय तथा विभक्ति-चिह्न हैं। इन चिह्नोमें कई प्रकारकी तात्त्विक प्रक्रियाएँ पाई जा सकती हैं, तथा प्रमुख रूपसे स्वर-परिवर्तन भी पाया जाता है। इनमें प्रत्ययका अस्तित्व ही सकता है, उभयका अभाव भी हो सकता है। इन परिवर्तनोमसे कतिपय मुख्य परिवर्तन ये हैं —

[१] अनुभासिकका नतिभाव<sup>२</sup> [retroflexion], यथा यान्, किन्तु प्रयाण ।

[२] स्पर्शध्वनियोका संयोजन, यथा, ददाति, दत्त, देहि, विश, विद्भि, विष्णु ।

[३] प्राचीन भारत यूरोपीय कण्ठोष्ठ्य ध्वनियोका संस्कृत पदरचनामें दो प्रकारका ध्वन्यात्मक विकास, यथा, हन्ति, जिघ्रन्ते, घनः; भजति, भागः ।

[४] प्रा० भा० यू० तालव्य 'क्' का संस्कृतमें आकर दो प्रकारका विकास, इस सम्बन्धमें संस्कृतके कः, कश्च, किम् जैसे रूप भारत-ईरानी वर्गमें चित् को अपेक्षा अधिक नवीन हैं। इस परिवर्तनका एक पद-रचनात्मक महत्त्व भी है, तथा यह परिवर्तन स्वर ध्वनिके आधारपर पाया जाता था।<sup>३</sup>

१. सुब्-तिङन्त पदम् ।

२. दन्त्यस्य मूर्धन्यापत्तिर्निति । [शुक्लयजु प्रातिशाख्य १ ४२] ।

३. Bloch : L'Indo Aryan, P. 99.



भारतके प्राचीन निरुक्तकार यास्कने वैदिक शब्द "शेव" को "शिष्यते" से मूहीन [व्युत्पन्न] माना है। इस व्युत्पत्तिमें उन्होंने 'व' को एव प्रत्यय माना है, जो ष के स्थानपर प्रयुक्त हुआ है। इसी उदाहरणमें दूसरी विशेषता मूलरूप शिष् के स्वरका गुणीभाव है। इस प्रकार शे तथा शि दोनों एक ही मूल [धातु] से जनित दो रूप हैं। अन्य स्थानोंपर उन्होंने स्वरध्वनिके लोपका भी उल्लेख किया है, जो स० प्रत्त<sup>१</sup> [√दा], सतः [√अस्], जामुः [√गम्] में स्पष्ट है। इसी प्रकार यास्कने गतम् [√गम्], राजा [राजन्] में व्यञ्जन ध्वनिके लोपका उल्लेख किया है। संस्कृत पृषुः तथा ऊतिः को उन्होंने √प्रथ् तथा √अथ् से व्युत्पन्न माना है, जहाँ मूल स्वरध्वनि परिवर्तित हो गई है।<sup>२</sup> स्वर-ध्वनिके इस प्रकारके परिवर्तन प्रा० भा० यू० में भी पाये जाते हैं, जो हम 'अपर्युति' के अन्तर्गत देख चुके हैं। भारतीय व्याकरण इन स्वर-परिवर्तनोंको गुण

१ उदाञ् दाने क्तः। अथ उपसर्गात् इति तादेशः—शब्दार्थचिन्ता-मणि, भाग ३ पृ० २४२।

२. यास्क तथा बादके व्याकरणोंने ५ प्रकारके निरुक्त माने हैं। इनमें प्रथम चार प्रकारके निरुक्तोंमें ध्वनिपरिवर्तन आते हैं। ये हैं—  
वर्णागम, वर्णविपर्यय, वर्णविकार तथा वर्णनाश। वर्णागमका उदाहरण 'सुन्दर' दिया जा सकता है, जो सुनरसे बना है। यहाँ "द" ध्वनिका आगम हो गया है। वर्णविपर्ययका 'सिंह' [हिनस्तोति सिंहः] है। वर्णविकार जैसे √भञ् से भागः या षट् + दशसे षोडश; तथा वर्णनाश जैसे प्रत्त, जामुः, गतम् आदिमें या षृषत् + उदरसे बने रूप षृषोदरमें।

वर्णागमो वर्णविपर्ययश्च द्वौ चापरो वर्णविकारनाशौ ।  
धातोस्तदर्थान्तिशयेन योगस्तदुच्यते पञ्चविध निरुक्तम् ॥  
वर्णागमो गवेन्द्रादी सिंहे वर्णविपर्ययः ।  
षोडशादी विकार श्यात् वर्णनाश षृषोदरे ॥

तथा वृद्धि कहते हैं। हमें ऐसा पता चलता है कि प्रा० भा० यू० में मूलरूपों [ धातु तथा शब्दों ] में एक निश्चित व्यञ्जनसंघटना [ consonantal sequence ] तथा परिवर्तनशैली स्वर [ प्रायः एक ही परिवर्तनशील स्वर ] पाये जाते होंगे। प्रा० भा० यू० में हम इनके ऐ, ओ; ए, ओ अथवा 'शून्य रूप [ स्वररहित, zero-vowel ] को देख सकते हैं। भारत-ईरानी वर्गमें ये अ-आ के साथ सम्मिलित हो गये हैं, और इस प्रकार यहाँकी ध्वन्यारम्भक प्रक्रियामें केवल एक ही प्रकारके मात्रिक परिवर्तनकी उपलब्धि होती है, जो अ-रूप, आ-रूप तथा शून्यरूप है, जिन्हें हम क्रमशः भृ-; भारः; भृ-में देख सकते हैं। इसी संबंधमें यह भी जान लें कि इ, यू, यू के खरीभूत रूप ऋ, इ, उ की भाँति अनुनासिक न् म् वाले रूपोंमें भी यह अभ्युत्पत्तिक प्रवृत्ति पाई जाती थी। यदि हम भारतीय व्याकरणोंकी पारिभाषिक शब्दावलीका प्रयोग करें, तो हम कह सकते हैं कि न् तथा म् वाले गुण रूप [ भाषाशास्त्रीके मूल रूप ], वृद्धिमें अन्, अम् तथा मूर्त्तरूपों में [ भाषाशास्त्रीके शून्य रूपों में ] अ पाये जाते हैं। उदाहरणके लिए, यम् तथा मन् धातुरूपोंमें वृद्धिरूप [ भाषाशास्त्रीका दीर्घरूप ] पाया जाता है। इनके 'अम्' [ जम्भुः ]; 'मन्' [ मन्ताते ] रूपोंमें गुणरूप [ भाषाशास्त्रीका मूल रूप ], तथा गतः, मतः में मूल रूप [ भाषाशास्त्रीका शून्यरूप ] पाया जाता है। संस्कृतके इ, उ वाले मूल रूपोंके रुण रूपोंमें तथा वृद्धि रूपोंमें क्रमशः ए तथा ओ; एवं ऐ तथा औ ठीक वही कार्य करते हैं, जो संस्कृतके ऋ [ इ ] वाले मूल रूपोंमें अर् तथा आर् करते हैं।

इन सब प्रकारके रूपोंके विवेचनसे हमारा तात्पर्य यह है कि प्रा० भा० यू० शब्दोंकी भाँति संस्कृतके समान पदोंमें हम एक धातु [ मूल, root ] मान सकते हैं। यह धातु अथवा मूल रूप ही संस्कृतकी पदरचनाका मूल-दण्ड या "न्यूक्लिअस" [ nucleus ] है। इसके पहले कि हम संस्कृतके इन मूलरूपोंपर दृष्टिपात करें, हमें प्रा० भा० यू० मूलरूपोंकी कुछ विशेषताओंपर दृष्टिपात कर लेना होगा—

[१] प्रा० भा० यू० मूलरूपोंमें आरम्भ तथा अन्तमें सघोष महाप्राण ध्वनि पाई जा सकती है, किन्तु सघोष अल्पप्राण नहीं, इस प्रकार वहाँ \*भेव्ध् [ \*bhewdh ] [ स० बुध् ] जैसे रूपोंकी स्थिति मानी जा सकती है, \*बेव्द् [ \*bewd ] जैसे रूपोंकी नहीं ।

[२] जिन प्रा० भा० यू० मूल रूपोंकी प्रथम ध्वनि सघोष महाप्राण है, उनके अन्तमें अघोष ध्वनि नहीं पाई जा सकती । इस प्रकार \*भेव्ध् जैसे रूप हो सकते हैं, किन्तु \*भेव्त् [ \*bhewt ] जैसे रूप नहीं ।

[३] प्रा० भा० यू० मूल रूपोंमें एक साथ ऐसी दो अन्त स्थ ध्वनियाँ नहीं पाई जा सकती, जो व्यञ्जनका कार्य कर रही हों। अतः वहाँ \*तव्त्, \*तय्त्, \*तय्त्, \*तय्त् जैसे मूल रूप नहीं पाये जा सकते ।

अब इन मूलरूपोंकी ओर आते हुए हम देखते हैं कि संस्कृत व्याकरणों-ने इन्हें धातुरूप [ क्रियात्मक ] माना है । किन्तु, जैसा कि हम देखते हैं, कई मूल रूप ऐसे हैं, जिन्हें हम धातुरूप नहीं मान सकते । उदाहरणके लिए 'पद्,-' तथा 'मह्,-' को ले सकते हैं । संस्कृत व्याकरणोंने किसी धातुके कोई-न-कोई प्रत्यय जोड़कर सभी शब्दोंकी व्युत्पत्ति मिद्ध करनेकी चेष्टा की है ! उनके उणादि प्रत्यय इस चेष्टाके प्रमाण हैं । किन्तु भाषावैज्ञानिक दृष्टि-स हम इस तथ्यको अस्वीकार नहीं कर सकते कि प्रा० भा० यू० भाषाके कालमें उसके धोलनेवालोंमें सज्ञा, क्रिया तथा विशेषण जैसी व्याकरणात्मक भावनाका उदय नहीं हुआ था तथा उनके लिए इनका परस्पर भेद उतना स्पष्ट नहीं था, जितना कि सम्यक्ताके विकास तथा वृद्धिके कारण उनके धादके वशजोंके लिए । इस प्रकारके तथ्यका सबसे बड़ा प्रमाण यही है कि इस प्रकारके समस्त शब्द [ क्रिया, सज्ञा, विशेषण आदि ] एक ही धातुसे व्युत्पन्न हो सकते थे । वस्तुतः ये मूल रूप किसी निश्चित व्याकरणारमक अर्थका बोध न करा कर एक सामान्य भावके बोधक

थे, जिसे हम क्रिया, सजा जैसे सकुचित दायरेमें आवृत्त नहीं कर सकते। ये केवल प्रत्ययविहीन अथवा विकरण-विहीन [ a thematic ] मूल रूप थे, जिनका प्रयोग विभिन्न प्रत्ययो अथवा विकरणोंको जोड़कर किसी भी भावके लिए किया जा सकता था। इन्हीं मूल रूपोंमें कृत् या तद्धित प्रत्यय, तथा सुप् या तिङ्, विभक्ति प्रत्यय लगाकर पद-रचना होती है। इसके बाद विभिन्न पदों [ धातुरूपविभक्त पदों ] को भी नाना प्रकारके भावबोधनके लिए समस्त किया जा सकता है, तथा यह समासप्रक्रिया कहलाती है।

व्याकरणात्मक दृष्टिसे हम संस्कृतके शब्दोंको सजा [ नाम ], क्रिया [ आख्यात ], अव्यय, सख्यावाचक शब्द, तथा सर्वनाम इनमें विभक्त कर सकते हैं। इस परिच्छेदमें हम नाम शब्दोंकी पदरचनापर प्रकाश डालेंगे। संस्कृतके सजा-रूप अधिकतर हिन्द ईरानी [ भारत-ईरानी ] वर्गसे ही विकसित हुए हैं। इनकी रचनामें प्रायः वे ही नियम तथा तत्त्व पाये जाते हैं, जो ईरानी तथा अन्य भारोपीय भाषाओंके नाम शब्दों [ substantives ] में। नाम-शब्दोंको सर्वप्रथम हम व्यस्त तथा समस्त दो कोटियोंमें विभक्त कर सकते हैं। इनकी रचनामें प्रायः भिन्न प्रणाली पाई जाती है।

**प्रातिपदिक या मूल शब्दः**—व्यस्त शब्दोंकी पद-रचनामें हमें यह समझ लेना चाहिए कि इन मूल रूपों [ प्रातिपदिका ] को हम दो कोटियोंमें विभक्त कर सकते हैं। एक वे मूल रूप, जिनकी पदनिमित्तमें कोई प्रत्यय या विकरण नहीं लगता। दूसरे वे जिनके मूल रूप तथा अन्य प्रकारके सुप् तथा कृत् या तद्धित प्रत्ययके बीचमें कोई-न-कोई प्रत्यय या विकरण लगता है। इस प्रकारके प्रथम उन मूल रूपों [ धातुओं ] में भी लगते हैं, जिनसे क्रियारूप बनते हैं। इन्हीं प्रत्ययो या विकरणोंके आधारपर हम इन मूलरूपोंको सविकरण [ thematic ] तथा अविकरण [ a thematic ] इन दो कोटियोंमें विभक्त कर देते हैं। यहाँ हम केवल नाम-शब्दोंका ही विचार कर रहे हैं, क्रियारूपोंकी रचनामें इन विकरणोंकी प्रक्रियाका उल्लेख

हम अगले परिच्छेदमें करेंगे । विकरणविहीन [अविकरण] मूलरूप संस्कृत तथा अन्य भारोपीय भाषाओंमें अत्यधिक पाये जाते हैं । अन्य यूरोपीय भाषाओंमें ये प्रायः लुप्त हो गये हैं । उदाहरणके लिए घी, क्षा, गी [गो], झू के मूल रूपोंको ले सकते हैं, जिनसे प्रथमा विभक्ति एकवचनमें द्यौः, क्षाः, गौः, झूः रूप धनते हैं । इनमें मूलरूप तथा 'मुप्' प्रत्यय [ 'सु' ] [ प्रा० भा० यू० \*स् ] के बीचमें किसी भी विकरणका प्रयोग नहीं हुआ है । इसी प्रकार राज् तथा विश् इन मूल रूपोंके राट्-ड् तथा विट्-ड् रूपों [ प्रथमा एकवचन रूपों ] में भी विकरण-विहीनता देखी जा सकती है । ये विकरणविहीन रूप उन मूल रूपोंसे भी बनाये जा सकते हैं, जिनमें द्वित्व पाया जाता है, यथा ह्से जुह्, तथा हहसे दधक् । इस प्रकारके रूपोंमें एक विशेषता यह भी पाई जाती है कि ड्, उ तथा ऋ अन्तवाले मूल रूपोंमें यह मूल रूप 'त्' से युक्त पाया जाता है । यथा मित्, स्तुत्, कृत् तथा दिद्युत् में जो क्रमशः मि, स्तु, कृ तथा द्यु इन मूल रूपोंसे धने हैं । इस प्रकारके "त्" के प्रयोगकी उत्पत्तिका पता नहीं । युगमानके मतानुसार यह 'त्', '-त्तो' [ \*त्तो ] प्रत्ययका ही अपभ्रुत्यात्मक रूप है ।

सविकरणात्मक मूलरूपोंमें अविकरन अ विकरण प्रयुक्त होता है । सांख्यिक दृष्टिसे तो "धिमेटिक" 'अ' विकरण नहीं है, क्योंकि प्रायः सविकरण मूल रूपोंकी भी अविकरण मूलरूपोंका ही विकसित रूप माना जाता है तथा भारतयूरोपीय भाषाओंमें प्रायः अविकरण मूलरूपोंकी सविकरण बनानेकी प्रवृत्ति भी पाई जाती है । इस प्रकारके 'अ' विकरणका उदाहरण हम "√भृ" [ प्रा० भा० यू० \*भर्, [\*bher] को ले सकते हैं, जिसमें यह 'धिमेटिक' अ पाया जाता है, यथा स० भरति [ भर्-अ-ति ]; प्रा० भा० यू० \*भर्-ओ-ति [ \*bher-o-ti ] में । इसी प्रकार वृ तथा शुच् [ शुक् ] से बने चर [ वृ + अ ] तथा शोकमें भी यह 'अ' विकरण पाया जाता है । यह 'अ' विकरण प्रा० भा० यू० के द्वित्ववाले मूल रूपोंमें

प्रयुक्त होने लगा था, यथा, सं० चक्र, प्रो० कुक्लोस् [ kuklos ] । संस्कृतमें आकर तो यह "अ" द्वित्व रूपमें अत्यधिक प्रयुक्त होने लगा, यथा कुरोद, दधर्ष आदि रूपोंमें, जो इद् तथा एप् के रूप हैं । इसी 'अ' से संबद्ध एक प्रत्यय अस् [ \*आस्, \*os ] भी है, जो सं० नभस् [ ग्रीक नेफोस्, nephos ] सं० थवस् [ प्रो० केवोस्, kewos ] में पाया जाता है । इन विकरणोंकी सबसे बड़ी विशेषता स्वरसे संबंध रखती है । यदि मूल रूपपर उदात्त स्वर [rising tone] होता है, तो भिन्न प्रकारके शब्दकी उत्पत्ति होती है, और यदि उदात्त स्वर विकरणपर पाया जाता है तो शब्द सर्वथा भिन्न प्रकारका होता है । उदाहरणके लिए √ वृ [धातु, मूलरूप]से अ जोड़कर वर रूप बनता है । यदि यह रूप "वर" <sup>1</sup> होगा तो इसका अर्थ "इच्छा" है, किन्तु "वर" <sup>2</sup> का अर्थ "वरण करनेवाला" होगा । व्युत्पत्तिकी दृष्टिसे एकको हम "द्वियते अनेन" मानेंगे, तो दूसरेको "वृणुत इति" मानेंगे । संस्कृतके शब्द "स्वयं वरा" <sup>3</sup> [दि० रघुवश-स्वयं वरा

१. 'वर.' में जो वृ + अ [वर् + अ] से बना है, उदात्त 'वर्' के 'अ' पर अथवा 'वर्' वाले अक्षर [syllable] पर है, तभी तो 'व' में उदात्त है, र में स्वरित [ जो कि मूलतः अनुदात्त है ] । उदात्तका कोई चिह्न नहीं होता, अनुदात्तका चिह्न अक्षरके नीचे पड़ी लकीर [—] है, स्वरितका अक्षरके सिरपर खड़ी लकीर [ | ] । उदात्तके ठीक बादका अनुदात्त, यदि उसके बाद फिरसे कोई उदात्त स्वर नहीं है, तो स्वरित होता है । यह [rising tone] के एकदम बादवाला [falling tone] है ।

२. वर में, जो भी वृ + अ [वर् + अ] से बना है, स्वर भिन्न है, यहाँ उदात्त स्वर 'अ' विकरणमें है 'वर्' का अक्षर अनुदात्त है ।

३. स्वयं वृणुते इति सा स्वयं वरा ।

बलुप्तविवाहवेपा ] में दूसरा रूप है, जब कि स्वयंवर<sup>१</sup> में पहला । स्वरके कारण इन अ-विकरणवाले रूपोंमें अर्थभेदके अन्य उदाहरण ये हैं —

चोद 'अकुश', चोद 'प्रेरित करनेवाला', शोक 'प्रकाश', शोक 'प्रकाशमान' ।

प्रा० भा० यू० भाषामें ही मूलरूपोंके विकरणयुक्त [ thematic ] तथा विकरणविहीन [ athematic ] दोनों प्रकारके वैकल्पिक रूप पाये जाते थे । सस्कृतने कई नाम-रूपोंमें इस प्रकारके प्राचीन वैकल्पिक रूपोंके कुछ चिह्न सुरक्षित रखे हैं यथा, आप्, अपाम्; पादम्, पदः, भ्रू, भ्रुवः, गौ, गाम्, गवाम्, श्वा, श्वानम्, शुनः, इन विभिन्न रूपोंमें । कुछ रूपोंमें ये चिह्न नष्ट हो गये हैं, यथा वाक्, वाचम्, वाचा में । वस्तुतः सस्कृत भाषाके शब्द-भाग्यमें अधिक अंश नामरूप है, जिनमें मूल रूपोंमें विकरण [ अन्त प्रत्यय ] सम्भूत रहता है । ये प्रत्यय अन्य प्रकारके भावोंको व्यक्त करते हैं, किन्तु इसमें वे अधिक तथा न्यून रूपोंमें एक साधारण भाव [ सामान्य ] का भी बोध कराते हैं । उदाहरणके लिए निष्ठा प्रत्यय तथा तुलनाबोधक [ तरप्, तमप् आदि ] प्रत्ययोंको लिया जा सकता है । कभी कभी नाम रूपोंसे पुन नाम रूपोंकी उत्पत्ति होती है । इनमें कई रूपोंमें प्रथम अक्षरके स्वरमें वृद्धि पाई जाती है, यथा मीमनसम् [ मुमनस् मे ], साप्तम् [ सप्तसे ], पार्थिव [ पृथुसे ], भार्गव [ भृगुसे ] । इस प्रकारकी व्युत्पत्ति सस्कृत की एक प्रमुख विशेषता है ।

**प्रत्यय**—सस्कृतके अधिकतर प्रत्यय [ affixes ] रूप तथा प्रयोग दोनों दृष्टियोंसे प्रा० भा० यू० तथा भारत ईरानी प्रत्ययोंसे मिलते हैं । यहाँ हम सस्कृतके प्रमुख कृदन्त तथा तद्धित प्रत्ययोंपर भाषावैज्ञानिक दृष्टिसे विचार करेंगे ।

१. स्वयं विधत्ते अनेन [ अत्र वा ] इति स्वयवरः ।

संस्कृतवा दत् प्रत्यय,—“अत्” [ अन्त् ] प्रा० भा० यू० वृत् प्रत्यय \*<sup>१</sup>अन्त्, \*<sup>२</sup>अन्त् [ant,ont] से विकसित हुआ है। इस प्रत्ययका प्रयोग वर्तमानके लिए होता है। इसके उदाहरण भरन्, पश्यन्, भवन् हैं। इसी अन्त् वा दुर्बल रूप “अत्” भी पाया जाता है, जो संस्कृत तथा शीक दोनोमें मिलता है। यह दुर्बल रूप हम “अत्” [ अन्त् ], हत् [ हन्त् ], भरत् [ भरन्त् ] आदिमें देख सकते हैं। इसी कृदन्त प्रत्यय \*<sup>१</sup>अन्त् से तद्धित प्रत्यय-वन्त् का विकास माना जाता है, जो ग्रीकमें भी वन्त् [went] रूपमें पाया जाता है। यह वन्त् [वन्त्] कर्मा-कर्मो उत् के रूपमें भी पाया जाता है। यह उ, व का ही दुर्बल रूप है। संस्कृत पबन्, पर [परत्], धन्वन्, धनु [धनुत्] उदाहरण इस तथ्यके पोषक हैं। इसी प्रत्ययसे सबद्ध “-वास्” है, जो वैयाकरणोंकी परिभाषामें “ववसु” कहलाता है। इसके दुर्बल रूप “-वस्” तथा “-वस्” में अनुस्वारसिक्त तत्त्वका सर्वथा अभाव पाया जाता है। ग्रीकमें यह प्रत्यय अनुस्वारहीन ही पाया जाता है। स० विद्वान्, विद्वासी, विदुष, विद्वत्सु, ग्रीक (वे) एइद् (वे) ओस् [ (iv) ειδ (iv) ος ]। सम्भव है, संस्कृतमें आकर इस प्रत्ययमें ‘अन्त्’ [अत्] के सादृश्यपर अनुस्वारका प्रयोग होने लग गया होगा।

संस्कृत प्रत्यय ईयस् तथा इच्छ के समानान्तर प्रत्यय ओ [ -ओस् ] [ o,-yēs ] तथा इसो [ isō ] ग्रीकमें पाये जाते हैं। संस्कृतके इन प्रत्ययोंको प्रा० भा० यू० \*<sup>१</sup>ओस् (स० यस्) से विकसित माना जाता है। इस प्रत्ययके कई प्रकारके अपभ्रंशरूप पाये जाते हैं, जिन्हें हम \*इस्, \*येस्, \*योस् मान सकते हैं। संस्कृतमें भी इसका सबलरूप ईयस् तथा दुर्बलरूप इच्छ दोनों पाये जाते हैं। इच्छ वस्तुतः इम् [यस् का दुर्बलरूप] तथा + त के संयोगसे बना होगा। इसमें प्रा० भा० यू० \*इस्तो [ istō ] से विकसित भान सकते हैं। संस्कृतके स्वादीयस् तथा स्वादिच्छ में यही प्रत्यय है। संस्कृतके ववसु की भाँति इसने सबलरूपमें भी



अनुस्वारका समावेश हो गया है, जो संस्कृतकी ही विशेषता है, यथा स्वादीयात्तौ । इसी प्रत्ययके दुर्बलरूप—\*इस् में \*अन्स जोड़कर प्रा० भा० यू० में ही एक नवीन प्रत्ययका विकास हो गया था । इस \*इसोन्स से विकसित “एण” रूप संस्कृतमें पाया जाता है, यथा स० तेजीयस् [ तीक् + ईयस्, तेजम् + ईयस् ]; तीक् + एण [ तीष्ण ] । ये सभी प्रत्यय ठीक उसी तरह तुलनाबोधक हैं जैसे संस्कृतके तद्धित प्रत्यय “तरप्” तथा “तमप्”, जिनका उल्लेख हम आगे करेंगे । कभी कभी “ईयम्” के ये विभिन्न रूप एक साथ भी जोड़ दिये जाते थे, यथा ‘तेक्षिणष्ट’ [ तीतरीय आरम्भक २ १३ १ ] में, जिसमें वस्तुतः एक साथ एण तथा इष्ट इन दो प्रत्ययों को जोड़ दिया गया है ।

संस्कृतके “-अन्” तथा “-मन्” को प्रा० भा० यू० \*एन् तथा \*मेन्में विकसित माना जाता है । ये दोनों ग्रीकमें भी अण तथा म के रूपमें पाये जाते हैं । उदाहरणके रूपमें संस्कृत तक्षन्, ग्री० तैक्तोन [ tekton ], तथा संस्कृत होम, ग्री० क्खेउम [ kheu-ma ] को ले सकते हैं । संस्कृतमें इस मन् का म रूप भी पाया जाता है, जो संस्कृत धर्मन् तथा धर्म दोनों रूपोंसे स्पष्ट है । इस प्रत्ययसे बने हुए रूप प्रायः नपुंसक पाये जाते हैं तथा इनमें मूल रूपपर उदात्त स्वर पाया जाता है । किन्तु इनमेंसे कुछमें प्रत्यय पर भी उदात्त स्वर पाया जाता है और ये रूप पुल्लिंग होते हैं । उदाहरणके

लिए ब्रह्मन् पुल्लिंग है, किन्तु ब्रह्मन् नपुंसकलिंग ।

संस्कृतके निष्ठा प्रत्यय त्, तवत् [ क्त, क्तवत् ] वस्तुतः भाषावैज्ञानिक दृष्टिसे दो प्रत्यय न होकर एक ही प्रत्ययके दो रूप हैं । ये दोनों ही प्रा० भा० यू० \*त्ता से विकसित हुए हैं । ये भूतकालिक विशेषणके रूपमें प्रयुक्त होते हैं । यह तो ग्रीकमें भी पाया जाता है । संस्कृतमें क्त प्रत्ययवाला भूतकालिक

विशेषण कर्मवाच्य [भाववाच्यमें भी] प्रयुक्त होता है, किन्तु भाषावैज्ञानिक दृष्टिसे प्रा० भा० यू० में यह केवल कर्तृवाच्यमें प्रयुक्त होता होगा। इसमें उदात्त स्वर सदा प्रत्ययाक्षर पर पाया जाता है। धीरे-धीरे यह प्रत्यय पहले नपुंसक हुआ तथा बादमें कर्मवाच्य [ तथा भाववाच्य ] में प्रयुक्त होने लगा। 'त' के ये तीनो क्रमिक रूप हम सूत. [ कर्तरि प्रयोग ], छूत [ नपुंसक लिंग ] तथा हत [ कर्मवाच्य प्रयोग ] में देना सकते हैं। \*तो वा ही कार्य करनेवाला एक और प्रा० भा० यू० प्रत्यय था, \*नो। यह भी 'क्त' की भाँति संस्कृतमें आकर कर्मवाच्यमें गवद्ध हो गया। आगे जाकर यह 'न' चरतुत 'त' वा ही रूप माना जाने लगा। पाणिनिने "रदाभ्या निष्ठातो न पूर्वस्य च द" इस मूलम इम 'न' [\*नो] की 'त' [\*तो] वा ही आदेश माना है। यह प्रत्यय पूजं, सम्पन्न आदिमें स्पष्ट है, किन्तु इसका वास्तविक रूप स्वप्न [ स्वप् + न ], दान [ दा + न ] में भी हम देख सकते हैं, जहाँ यह प्रयोग कर्मवाच्यमें नहीं है। ध्यान दीजिए, कर्मणि प्रयोगमें उदात्त स्वर प्रत्ययपर पाया जाता है, जब कि नाम शब्दोंमें यह उदात्त स्वर मूल रूप [धातु] पर पाया जाता है। इसीसे सबद्ध एक द्वारा प्रत्यय ति माना जा सकता है, जो ग्रीकमें ति के रूपमें पाया जाता है। संस्कृतका यह क्तिन् प्रत्यय गति, मति, प्रीति, शक्ति आदि स्त्रीलिंग रूपोंमें पाया जाता है। वस्तुतः यह 'ति,' 'त' का ही स्त्रीलिंग रूप रहा होगा। इस बातसे यह भी पुष्टि होती है कि ये सब त [तो] प्रत्ययके ही विभिन्नरूप रहे होंगे। एक दूसरे प्रत्यय 'तु' को भी इसीसे जोड़ा जा सकता है, किन्तु इस विषयमें ऐसा देखा जाता है कि जहाँ 'क्त,' क्तवत्, 'क्तिन्'के साथ धातु [मूलरूप] का दुर्बलरूप [weak form] पाया जाता है वहाँ इसके साथ उभवा सबलरूप [strong form] पाया जाता है। संस्कृतके तत्, मत,

ततवत्, मतवत्, ततिः, मतिः मे √ तन् [तनु विस्तारे] तथा √ मन् के दुर्बलरूप—त तथा म—पाये जाते हैं, जब कि "तन्तु", "मन्तु" में इन्ही धातुओके सबलरूप देखे जा सकते हैं। इसी प्रत्ययसे संस्कृतके "तु" [तुमुन्], तवे, तवं का विकास हुआ है। वैदिक संस्कृतमें ये सभी रूप पाये जाते हैं, किन्तु लौकिक संस्कृतमें केवल 'तुमुन्' ही पाया जाता है। इसके उदाहरण गन्तु, गन्तवे [वैदिकरूप], गन्तवं [वैदिकरूप] दिये जा सकते हैं।

संस्कृतके तर् [तृल्] को प्रा० भा० यू० \*तेरो [tero] से विकसित माना जाता है। यह प्रत्यय सबधियोंके नामोमें बहुत पाया जाता है। माता, पिता, भ्राता, दुहिता, जामाता आदि शब्दोंमें यही तृल् [तर्] प्रत्यय है। ग्रीकमें भी इसका विकास 'तेर' [ter] के रूपमें हुआ है, जो हम पतेर [pater], मातेर [mater] आदि शब्दोंमें देख सकते हैं। इन शब्दोंमें उदात्त स्वर प्रत्ययपर प्रायः पाया जाता है। इसी \*तेरोका \*त्रो रूप भी पाया जाता होगा, जो बादमें जाकर एक स्वतन्त्र प्रत्ययके रूपमें विकसित हो गया। इस प्रकार जहाँ संस्कृतमें तृल् [\*तेरो] प्रत्यय क्रियाके कर्ताके अर्थमें प्रयुक्त होने लगा, यह प्र [\*त्रो] जो वर्स्तुत. \*तेरोका ही दुर्बल रूप है, क्रियाके करणके अर्थमें प्रयुक्त होने लगा। संस्कृत नेता [-तृ] तथा नेत्र; खनिता [-तृ] तथा खनित्र; मन्ता [-तृ] तथा मन्त्रमें हम इन दोनों प्रत्ययोंको देख सकते हैं। यहाँ यह भी कह देना आवश्यक है कि प्रायः ये "त्र" प्रत्ययवाले रूप नपुंसक हैं, 'मन्त्र' शब्द अवश्य इसका अपवाद है, क्योंकि यह पुल्लिङ्ग है। इस प्रत्ययवाले रूपोंमें उदात्त स्वर धात्वशर पाया जाता है।

तद्धिन प्रत्ययोंमें संस्कृतके तुलनाबोधक 'तरप्' तथा 'तमप्'के समानान्तर प्रत्यय तेरो [tero] तथा तुमुस् [tumus] क्रमशः ग्रीक तथा लैनिनमें पाये जाते हैं। संस्कृतमें इन 'तरप्' तथा 'तमप्'को अन्य प्रत्यय

'ईयम्' तथा 'इष्ट'से प्रायः अर्पकी दृष्टिसे भिन्न नहीं माना जाता, किन्तु मूलरूपमें इन दोनोंमें भेद रहा होगा। प्रथम तो ये गौण प्रत्यय हैं, वे प्रमुख प्रत्यय। दूसरे 'ईयम्' तथा 'इष्ट' किसी क्तविधानात्मिक गुणकी उत्कर्षताकी व्यक्त करते हैं, जब कि 'तरण्' दो वस्तुओंमें एक वस्तुकी, तथा 'तमप्' अनेक वस्तुओंमेंसे एक वस्तुकी उत्कर्षता बनाता है। तात्त्विक दृष्टिसे "तर" तथा "तम" अलगसे प्रत्यय न होकर 'त' प्रत्यय [जिसका उल्लेख ऊपर हो चुका है] के साथ दूसरे प्रत्यय "र" तथा "म" को जोड़कर बनाये गये हैं। ये र तथा म प्रत्यय स्वतन्त्र प्रत्ययोंके रूपमें भी अथवा, प्रथम जैसे शब्दोंमें देखे जा सकते हैं। इन प्रत्ययोंका विशेष विवेचन विशेषणके प्रसंगमें बखिए।

संस्कृतका दूसरा प्रमुख प्रत्यय मन्त है, जिसका घन्त रूप भी पाया जाता है, यहाँ यह मनुप् कहलाता है। प्रा० भा० यू० में इसका केवल \*वन्त रूप ही था, किन्तु भारत ईरानी कालमें ही इसका मन्त रूप भी पाया जाने लगा। सम्भव है, 'मानि' [स० शानच्] के सादृश्यपर यह रूप बना हो। इस तद्धित प्रत्ययका प्रयोग सबधबोधक विशेषणके रूपमें पाया जाता है, मन्त मगवन्, अवे० मगवन् [magavan], स० \*पुत्रवन्त [putravant], अवे० पुत्रवन्त [putrawant], स० \*मधुमन्त [madhumant], अवे० मधुमन्त [madhumant] में यही प्रत्यय है।

संस्कृतके भावबोधक प्रत्यय त्व तथा ता को भी प्रा० भा० यू० से ही विकसित माना जाता है। इन्हींके तात्, ताति [ता से बने], त्वन [त्व मे बना] रूप भी संस्कृतमें पाये जाते हैं। इस प्रकार हम वैदिक मन्तुनमें देव शब्दके भाववाचक रूपको देवत्व, देवना, देवतात्, देवताति, देवत्वन इन कई उदाहरणोंमें पा सकते हैं। संस्कृतके 'त्व' तथा 'त्वन्'के समानान्तर मुनो [sunō] प्रत्यय ग्रीकमें पाया जाता है। ये दोनों ही वस्तुतः \*मु [-य-न] से विकसित हुए हैं। संस्कृतके 'ता' 'तान्' 'तानि' सम्भव है, कुदन्त प्रत्यय 'त' से विकसित हुए हों।

## समास-प्रक्रिया —

संस्कृत पदरचनाकी एक प्रमुख विशेषता समास-प्रक्रिया है। यह प्रक्रिया प्रा० भा० यू० का ही विकास है, तथा ग्रीक, लैटिन, अवेस्ता आदि सभी भारतयूरोपीय भाषाओंमें पाई जाती है। जब हम संस्कृतकी समास-प्रक्रियाका उल्लेख करते हैं, तो हमारा तात्पर्य संस्कृतके उन समस्त रूपांशु हैं, जो संस्कृतकी बोलचालकी भाषामें पाये जाते होंगे, तथा जिनका रूप वैदिक संस्कृत एवं बादकी लोकोक्त संस्कृतकी ही कई साहित्यिक कृतियोंमें पाया जाता है। इस सम्बन्धमें पहले यह समझ ले कि विश्वकी भाषाओंको हम सर्वप्रथम दो प्रकारकी मान सकते हैं—[ १ ] सावयव तथा [ २ ] निरवयव। निरवयव या व्यास प्रधान भाषाओंमें प्रत्येक शब्द अलग होता है तथा ये शब्द निश्चित भावका बोध कराते हैं। चीनी आदि एकाक्षर परिवारकी भाषाएँ इसी कोटिकी हैं। सावयव भाषाओंको पुन तीन वर्गोंमें विभक्त किया जाता है—[१] समास प्रधान, [२] प्रत्ययप्रधान, [३] विभक्तिप्रधान। समास-प्रधान भाषाओंमें सारे शब्द समस्त होकर प्रयुक्त होते हैं तथा कभी-कभी तो पूरा-का-पूरा वाक्य ही समस्त पद सा होता है। अमेरिकाके जगली लोगोकी भाषाएँ इस कोटिमें आती हैं। प्रत्ययप्रधान भाषाओंमें किसी भी शब्दका दूसरे शब्दसे संबन्ध बनानेके लिए प्रत्ययका प्रयोग किया जाता है। तुर्की तथा तमिल, तैलगू, आदि द्रविड परिवारकी भाषाएँ इस कोटिकी हैं। विभक्तिप्रधान भाषाओंमें किन्ही दो शब्दोंके संबन्धको विभक्तियोंके द्वारा व्यक्त किया जाता है, जैसे हम संस्कृतमें सुप् तथा तिङ् विभक्तियोंका प्रयोग करते हैं। समस्त भारतयूरोपीय परिवारकी भाषाएँ इस विभक्तिप्रधान कोटिमें आयेंगी। वैसे इन भाषाओंमें प्रत्यय तथा समास-प्रक्रिया भी पाई जाती है, किन्तु ये इन भाषाओंकी प्रमुख विशेषताएँ नहीं हैं। उदाहरणके लिए, संस्कृतमें यह आवश्यक नहीं कि "राजपुत्र" ही कहा जाय, यहाँ 'राज पुत्र' से भी काम चल सकता है। वैदिक संस्कृतमें यह समास-प्रक्रिया प्रा० भा० यू० तथा ग्रीककी भाँति संकुचित तथा

सीमित, अतएव स्वाभाविक रहो है। लौकिक संस्कृतके परवर्ती साहित्यमें आकर, दण्डी, व्याण, भाष्य, श्लोहर्ष आदिमें प्रचुर ममस्त पदावलीका प्रयोग पाया जाता है, किन्तु वह संस्कृत का वास्तविक रूप न होकर, कृत्रिम रूप है। वहाँ भी संस्कृत जैसे विभक्तिप्रधान ही है, क्योंकि समस्त पदोंके अन्तमें तो विभक्तिवा प्रयोग होता ही है। शुद्ध समासप्रधान भाषाओं [ यथा अमेरिकाकी जगली भाषाएँ ] में ऐसी कोई विभक्तियाँ प्रयुक्त नहीं होती।

तो, संस्कृतमें दो या अधिक शब्दोंको समस्त पदके रूपमें प्रयुक्त करनेकी यह प्रणाली प्रा० भा० यू० से ही विकसित हुई है। यह समस्त पद, विभक्ति, स्वर तथा पदरचनाकी दृष्टिसे एक पदके रूपमें व्यवहृत होता है। जहाँ तक इन ममस्त पदोंके कलेवरका प्रश्न है, संस्कृतमें ये पद श्लोककी भाँति नातिदीर्घरूपमें ही पाये जाते हैं। ऋग्वेद तथा अथर्ववेदमें तीन शब्दों में अधिक समस्त रूपवाले समासान्त पद नहीं पाये जाते। साथ ही ऐसे शब्द भी बहुत कम हैं, उदाहरणके लिए हम "पूर्व-काम-कृत्वन्" को ले सकते हैं। समस्त पदोंकी दो प्रमुख विशेषताएँ ये हैं कि इनमें [ प्राय ] उदात्त स्वर एक ही स्थानपर पाया जाता है, तथा प्रथम शब्दका प्रयोग निर्विभक्तिक रूपमें होता है। किन्तु इसके अपवाद भी पाये जाते हैं। यह अपवाद प्राय ब्रह्म समासोंमें—देवताब्रह्मोंमें—पाया जाता है, जैसे कुछ अन्य प्रकारके समस्त पदोंमें भी यह अपवाद देखा जा सकता है [ देखिये परिच्छेद ४ ]। लिंगकी दृष्टिसे इन समस्त पदोंका लिंग प्राय वही होता है, जो कि उभरपदका होता है, किन्तु नपुंसक रूप भी पाये जाते हैं। इन समासोंको सर्वप्रथम हम तीन कोटियोंमें विभक्त करते हैं —

[१] उभयपदार्थ प्रधान—इस कोटिके समासोंमें प्रत्येक पद स्वतन्त्र होता है, उदाहरणके लिए ब्रह्म समास।

१ ध्यान रखिए लौकिक संस्कृतके परवर्ती काव्योंकी भाषा इस नियमके प्रतिकूल है, किन्तु भाषाशास्त्रीय दृष्टिसे उसका कोई महत्त्व नहीं है।

[२] उत्तरपदार्थ प्रधान—इस कोटिके समासोमे उत्तरपद, प्रथम [पूर्व] पदकी अपेक्षा विशेष महत्त्व रखता है, उदाहरणके लिए तत्पुरुष तथा कर्मधारय ।

[३] अन्यपदार्थ प्रधान—इस प्रकारके समासान्त पद किसी अन्य-पदको विशेष करते है । ये विशेषण होते है, यथा बहुव्रीहि ।

यहाँपर हम इन्ही नीनी प्रकारके समासोका विवेचन करेंगे । भाषा-शास्त्रीय दृष्टिसे 'द्विगु' तथा 'अव्ययीभाव' इन दो प्रकारके समासोका विकास बादका है । द्विगु वस्तुतः कर्मधारयका ही एक रूप है,<sup>१</sup> जहाँ प्रथम पद सख्यावाचक होता है [ यथा नवप्रह, सप्तपि ], तथा अव्ययीभावको कर्म-धारय या बहुव्रीहिसे विकसित माना जा सकता है । अव्ययीभावमें पूर्वपद अव्यय पाया जाता है, यथा यथाशक्ति, उपकूलम्, उपकुम्भम् । इस प्रकारके समासान्त पद ग्रीकमें भी पाये जाते है, यथा एप अरोउरोस् [ep-aro-uros] [ जिसका खेत मिल गया हो ], "अखि-अलोस्" [ankhialos] [ समुद्रतटके समीप, स० उपकूलम् ] ।<sup>२</sup>

संस्कृतमें दो प्रकारके द्वन्द्व समास पाये जाते है । इनमें प्रथम कोटिके अन्तर्गत दोनो ही पद विशेषण होते है, यथा नीललोहित, ताम्रधूस्र, अरण-पिशङ्ग मे । इस प्रकारके समास वैदिक संस्कृतमें पाये जाते है, किन्तु इनका प्रयोग कम ही पाया जाता है ।<sup>३</sup> दूसरे प्रकारके द्वन्द्वोमे दोनो ही पद सज्ञा होते है । इन्हे भी पुन दो कोटियोमे विभक्त कर सकते है, [१] देवताद्वन्द्व, [२] साधारणद्वन्द्व । देवताद्वन्द्वोमे प्राय दोनो पद द्विवचनमें प्रयुक्त होते है, तथा दोनो पदोमें स्वतन्त्र रूपसे उदात्त स्वर पाया जाता है ।

उदाहरणके लिए हम "मि॒त्रा-व॒व॒णा", 'सूर्या॒-च॒न्द्र॒म॒सा' को ले सकते

१ Wackernagel Altindische Grammatik vol II P 305.

२. ibid. vol II P. 310

३. Wackernagel Altindische Grammatik P 171§74[B].

है। ऐसा जान पड़ता है, इस प्रकारके समासोमें युग्म होनेके कारण दोनोको द्विवचन मान लिया गया है। कभी-कभी ऐसे भी प्रयोग पाये जाते हैं, जहाँ ये पद समस्त न होनेपर भी द्विवचनमें प्रयुक्त होते हैं; यथा—

इन्द्रा नु पूषणा [ऋ. ६७, ५, ७१], इन्द्रान्वग्नी [६, ५९, ३],

विष्णु अगन् बरुणा [तै. धा. २.९.४ ५]

चक्षु मंहि मित्रयो रा मेति प्रियं बरुणयोः [६.५१.१]

इस प्रकार हम देखते हैं कि समासमें देवताद्वन्द्वपद प्रायः सविभक्ति

रूपमें पाये जाते हैं। ऋग्वेदमें 'मित्रयो-बरुणयोः' [ऋ. ७, ६९, १] जैसे समस्त पदोकी उपलब्धि होती है, जहाँ पूर्व तथा उत्तर दोनो पद पष्ठी द्विवचनमें हैं। इस प्रकारकी प्रवृत्ति हम अवेस्तामें भी पाते हैं, जैसे 'अहुराएव्य-मित्राएव्य' [ahuraebya miṣraebya], जो मसूतके असुरेभ्यो-मित्रेभ्यः के द्वारा अनूदित किया जा सकता है। बादमें जाकर धीरे-धीरे ऋग्वेदमें ही ये द्वन्द्व उस विक्रमकी ओर बढ़ने प्रतीत होते हैं, जो लौकिक मसूतमें पाया जाता है। ऋग्वेदमें ही कई स्थानोंपर बादमें

'सूर्या-चन्द्रमसा' के प्रथम पद 'सूर्या' के 'र्या' वाले अक्षर [syllable] का उत्तम स्वर लुप्त हो गया है, तथा उसकी बादकी ऋचाओमें 'इन्द्र-वायू'

[प्राचीनरूप 'इन्द्रा-वायू'] जैसे रूप पाये जाने लगे हैं। इन्हींसे मिलने-जुलते द्वन्द्व वे हैं, जिनमें द्वन्द्व-पद बहुवचनमें पाया जाता है, यथा अहो-रात्राणि [अधमपेणपूक्त], अजावयः [पुरुषसूक्त]। कुछ द्वन्द्व समाहृत होकर नपुंसकके रूपमें भी प्रयुक्त होते हैं, यथा-इष्टा-पूतम्, कृता-कृतम्, केशरमधु।



लौकिक संस्कृतमें जहाँ वही हम प्रथम पदमें द्विवचन देखते हैं, वे सब वैदिक कालीन द्वन्द्वाके ही अवशेष हैं। संस्कृतमें वादमें आकर नवीन शब्दोंमें इनका सर्वथा लोप हो गया है, यथा राम-लक्ष्मणों में। ये वैदिक कालीन द्वन्द्व कभी-कभी एक ही पदके द्विवचन रूपमें प्रयुक्त होते हैं, तथा इनके कुछ अवशिष्ट संस्कृतमें भी पाये जाते हैं। वेदमें छात्रा, मित्रा का प्रयोग छात्रा-पृथिवी, मित्रा वरुणा के अर्थमें पाया जाता है। लौकिक संस्कृतमें भी हम पितरौ [जगत पितरौ वन्दे] का प्रयोग माता पितरौ के अर्थमें देखते हैं।

तत्पुरुष समासमें प्रथम पद किसी न किसी कारक [विभक्ति ?] का बोध कराता है। इसमें यदि प्रथम पद कर्म, करण, अपादान अथवा अधिकरणका बोध कराता है, तो प्रायः द्वितीय पद धातुज सज्ञा [verbal noun] होता है। किंतु यदि यह प्रथम पद सम्प्रदान अथवा मत्वका बोध कराता है, तो वह केवल सज्ञा होता है। उदाहरणके लिए क्रमसः भोक्त, देवदत्त, पद्भुज [गो-ज], अर्हजति, विश्व-शम्भू [विश्वाष], विश्वति, देव किञ्चिप को ले सकते हैं। कभी-कभी इनमेंसे प्रथम पदकी विभक्ति का लोप नहीं होता। इस प्रकारके समास वैयाकरणोंकी परिभाषामें 'अलुक्' कहलाते हैं। धनजय, वाचास्तेन, दक्षवेष्टुक, दिवोज यज्ञस्यति, सुन शेष, रथेष्टा, सरसिज में यही अलुक् प्रवृत्ति पाई जाती है। इस प्रकारकी प्रवृत्ति अवेस्तामें भी पाई जाती है, यथा धोरुअम्-जन् [wirām zan] [स० \*वीरहन्]। इस मंत्रधम यह कह देना आवश्यक होगा कि तत्पुरुष समास ऋग्वेदमें कम ही पाये जाते हैं। प्राचीन ग्रीकमें भी इस प्रकारके समास कम ही हैं। अधिकतर ये समास पद तथा पति के समीपम पाये जाते थे, यथा दैपेदान [dapedon], देस्-पातस् [despotes] (प्रा० रू० \*दम्पातिस् [dem potes]—मिलाइए स० दम्पति [दम्पति]।

१. ibid. pp 246 and following, § 99.

२. ibid p 241. § 97 (a)

वैदिक संस्कृतमें कर्मधारय समास, जिनमें पूर्वपद विशेषण होता है, इनसे भी कम पाये जाते हैं। प्राचीनतम उदाहरण एक-घोरः, षड्-भाः, महा-घनः हैं। कई कर्मधारयोंमें उपसर्ग भी प्रथम पदके रूपमें प्रयुक्त पाया जाता है, यथा प्रगपात्। कुछ उदाहरणोंमें प्रथम पद धातुज अंश होता है यथा प्रसवस्यु, शिक्षा-नर, रवा-वसु, जिनमें वस्तुतः प्रथम पद लोटके मध्यम पुरुष एकवचनका रूप है [शिक्षा तथा रवा में पूर्व पदका अन्तिम स्वर अ दीर्घ हो गया है]।<sup>१</sup> लौकिक संस्कृतमें आकर ये कर्मधारय प्रचुरता में पाये जाने लगे हैं।

बहुव्रीहि समास अन्य-पदार्थ-प्रधान होते हैं। प्राचीन भाषामें ये कर्म-धारयकी अपेक्षा विशेष पाये जाते हैं। इस तथ्यसे यह निष्कर्ष निकलता है कि ये समास वस्तुतः विशेषणीभूत कर्मधारय ही हैं, जिनमें शुद्ध कर्मधारयसे केवल यही भेद है कि इनमें उदात्त स्वर प्रथम अक्षरपर पाया जाता है। इस प्रकारके स्वरभेदको हम चतुर्थ परिच्छेदमें दिखा चुके हैं। तुलनात्मक भाषाशास्त्रमें इन बहुव्रीहि समासोंका उद्भव एक प्रकारका सामस्यिक प्रश्न है। वाकेरनागेलके मतानुसार बहुव्रीहि समास वस्तुतः व्यस्त रूपोंसे विकसित हुआ है। वह बताता है कि इन्द्रज्येष्ठा देवाः को इन्द्रो ज्येष्ठ " देवाः से विकसित माना जा सकता है।<sup>२</sup> इस प्रकारके व्यस्त रूप जिनसे इन बहुव्रीहियोंका विकास माना जा सकता है, लैटिन तथा प्राचीन फारसीमें भी पाये जाते हैं। वाकेरनागेलने इसी सम्बन्धमें इन दोनों भाषाओंसे ये उदाहरण दिये हैं.—

उर्बर्ज अतीका फुइत, तीरो तेन्गुएरे कोलोनी कार्यागो।

[urbs antica fuit, tiri tenere coloni Carathago]

[कार्योग [ एक ] प्राचीन नगर था, [ जहाँ ] तीरीन लोग निवासी थे ]। संस्कृतमें इसे यों अनुदित कर सकते हैं आसीत् कार्यागो [इति] पुरा-

१. *ibid.* p. 316 § 120 (c)

२. Wackernagel, *Altindische Grammatik* p. 290 § 112(c)

तना पुरी; तीरिण [तीरिन] निवासिनो बभूवु । यहाँ हम 'तीरीन लोग रहते थे' के स्थान पर, इसे "जहाँ तीरीन लोग रहते थे" इस रूपमें समस्त बहुव्रीहि बनाकर "तीरिनिवासिनी" [ तीरिण निवासिन यस्या सा ] का प्रयोग भी कर सकते हैं । इसी प्रकार बहुव्रीहिका विकास माना जा सकता है । बाकेरनागेलका फारसीवाला उदाहरण यह है — "मर्तिया फ्राद नाम" [ martiya frada nama ], [ एक मनुष्य, फ्राद [उसका] नाम [था] ] । इसे भी संस्कृतमें "फ्रादनामा" के रूपमें बहुव्रीहि बनाया जा सकता है । इस सब विवेचनका तात्पर्य यह है कि यह समास व्यस्त वाक्यसे ही विहगिन हुआ है । बहुव्रीहिके उदाहरणके रूपमें हम अश्वपृष्ठ, यमश्रेष्ठ, प्रपत-दक्षिण, उग्रबाहु, हतमातृ, राजपुत्र, हिरण्यनेमि, दुष्पद, सुपर्ण, अपत् [ अपात् ] ले सकते हैं ।

सज्ञा, विशेषण तथा सर्वनामके रूपोंका विवेचन करनेके पूर्व हमें थोडा उन परिवर्तनाकी ओर ध्यान देना होगा, जो एक ही शब्दके विभिन्न रूपामे पाये जाते हैं । जैसा कि हम देख चुके हैं सप्रत्यय या अ विकरणयुक्त [येमे-टिक] नाम रूपोंमें प्राय एक अपरिवर्तनशील अन्त प्रत्यय 'अ' [येमा thema] पाया जाता है । किन्तु प्राचीनकालसे ही प्रत्ययहीन रूपोंकी संख्या बहुत पाई जाती है, जिनके अन्तर्गत अन्त प्रत्यय [विकरण] स्वरकी मात्रा तथा उदात्तादिस्वरकी दृष्टिसे बडा भेद पाया जाता है ।

पुल्यवाचक सर्वनामा [ personal pronouns ] तथा कतिपय निर्देशात्मक सर्वनामो [ demonstrative pronouns ] में प्राय एक ही प्रकारका अन्त प्रत्यय पाया जाता है । अहम्, माम्, मम, स, सा, तत्, तस्य, ते आदिमें । जिनमे मूलरूपमें रेफ, 'इ', 'उठमध्वनि' या उ पाया जाता है, इनके कई रूपोंमें प्राय 'न' [अन्त प्रत्यय] का प्रयोग होता है । अधिकतर यह प्रयोग नपुंसक लिंगके रूपाकी ही विशेषता है । पुल्लिङ्ग व स्त्रीलिङ्गमें यह बहुत कम पाया जाता है ।

अहर, अह्नः अह्न्याम् [ अवेस्ता अउनम् [ ašnam ]

अमृक्, अमन, हिताइत, एशहर [ ešhar ], एशनश् [ ešnas ]

अक्षि, अक्षयः

अधि, अधन

अशिर्य, शोष्यः

अप [ पूः ], अप्ययः [ ऋष्वेष ]

दोष् [ दोः ], दोष्णः

दाह, दुण. [ वैदिकरूप ], दाहणः [ लौकिक संस्कृत ]

स्वरका परिवर्तन भी हम कई लोपों में देख सकते हैं, उदाहरणके लिए 'उ' कारान्तके दो प्रकारके परिवर्तन हम गुरो [गुरु] तथा दिवः [द्यु] में देख सकते हैं। प्रा० भा० मू० में जहाँ ओ, ए तथा औन्य का परिवर्तन पाया जाता है, भारत-ईरानी वर्गमें आ, अ, तथा औन्य [zero] पाया जाता है। उदाहरणके लिए हम वृत्रहा, वृत्रहणम्, वृत्रघ्नः को ले सकते हैं जिनमें क्रमश आ, अ तथा औन्य रूप पाये जाते हैं। टीका यही रूप क्रमश पितृ, पितरं, पित्रे में पाये जाते हैं।

**संस्कृत शब्दरूपः**—संस्कृत शब्दरूपोंमें तीन लिंग, तीन वचन तथा आठ विभक्तियाँ पाई जाती हैं। संस्कृतके लिंग-विधानके विषयमें यह प्रसिद्ध है कि यह अशत व्याकरणात्मक है, यही कारण है कि हमें 'दार' जैसे स्त्रीवाचक शब्दोंमें पुल्लिंग मिलता है, तो 'कलय' 'मित्र' जैसे अनपुंसक वाची शब्दोंमें भी नपुंसक लिंग। संस्कृत व्याकरणोंने व्याकरणात्मक लिंग विधानके नियमोंकी अवतारणा की है। प्रा० भा० मू० लिंगविधानके विषय में विद्वांसोंका यह मत है कि वहाँ मूलतः दो ही लिंग रहे होंगे, एक 'सामान्य-लिंग' जिसमें पुल्लिंग तथा स्त्रीलिंग दोनों समाहित होते हैं, तथा दूसरा 'नपुंसकलिंग'। हिताइत भाषामें इस प्रकारका लिंगविधान पाया जाता है जहाँ स्त्रीलिंगका अभाव देखा जाता है। इसके बाद वही वाकर प्रा० भा० मू० के परवर्ती विभागमें स्त्रीलिंगका विकास हुआ है। किन्तु जहाँ तक

द्विवचनके अस्तित्वका प्रश्न है उसके चिह्न हिताइन तकमें पाये जाते हैं । संस्कृत, ग्रीक तथा लियुआनियन आदिके आधारपर मेरे एव अन्य भाषा-शास्त्रियोंने प्रा० भा० यू० में द्विवचनका अनुमान किया है तथा हिताइन भाषाके विश्लेषणने उसकी पुष्टि कर दी है ।

संस्कृत शब्दोंकी आठ विभक्तियोंमें जोड़े जानेवाले विभक्ति चिह्न निम्न हैं :—

	एकवचन		द्विवचन		बहुवचन	
	पु० स्त्री०	नपु०	पु० स्त्री०	नपु०	पु० स्त्री०	नपु०
प्रथमा	म्	—	ओ [आ]	ई	अम्	इ
द्वितीया	अम्	—				
तृतीया	आ [एन]	आ [एन]	भ्याम्	भ्याम्	भिसु	भिसु
चतुर्थी	ए	ए			भ्यम्	भ्यम्
पञ्चमी	अम्	अम्	ओम्	ओम्	आम्	आम्
षष्ठी						
सप्तमी	इ	इ			सु	सु
सम्बोधन	—	—	ओ	ई	अम्	इ

संस्कृतके मत्तारूपोंको अजन्त तथा हल्जन्तकी दृष्टिसे पुन विभाजित किया जा सकता है । अजन्त शब्दोंको निम्न ढोटियोंमें विभक्त किया जा सकता है —

१ नपुंसक लिंगके बहुवचनमें अदन्त शब्दोंमें 'इ' के पूर्व 'न्' जोड़ दिया जाता है, यथा जानानि । यह 'न्' अघोष तथा ऊरुम अघञ्जन्तके अन्तमें होनेपर भी जोड़ा जाता है, यथा घन्नुदि, जगन्ति, प्रत्यन्धि ।

- [ १ ] अकारान्त तथा आकारान्त शब्द.  
 [ २ ] इकारान्त तथा उकारान्त शब्द.  
 [ ३ ] ईकारान्त तथा ऊकारान्त शब्द.  
 [ ४ ] ऋकारान्त शब्द.  
 [ ५ ] घनियुग्मान्त [ diphthong-ending ] शब्द.

हलन्त शब्दोको भी दो कोटियोंमें विभक्त कर सकते हैं—

[ १ ] अपरिवर्तनशील अन्त वाले शब्द, इस कोटिके शब्दोके रूपोंमें परिवर्तन नहीं पाया जाता, यथा अगत्, पात्, वाक् आदि ।

[ २ ] परिवर्तनशील अन्त वाले हलन्त शब्द; इस कोटिके शब्दोंमें वे आते हैं, जो स्, न्, स् अथवा च् अन्त वाले प्रत्ययोंसे बनते हैं । महत्, कनोपस्, हस्तिन्, वृनहन्, प्रत्यञ्च् आदि इस कोटिके शब्दोंके उदाहरण हैं ।

यहाँ हम केवल संस्कृत विभक्तिचिह्नोका ही भाषावैज्ञानिक विकास देंगे । शब्दरूपोंका संकेत हमने परिशिष्ट 'ख' में किया है, जहाँ तुलनात्मक दृष्टिसे ग्रीक तथा लैटिनके समानान्तर अजन्त तथा हलन्त शब्दरूपोंका भी विवरण मिलेगा ।

### एकवचन रूप

संस्कृतके पुल्लिङ्ग तथा स्त्रीलिङ्गके प्रथमा एकवचनमें दो प्रकारके रूप पाये जाते हैं । कुछ रूपोंमें [ प्राय अजन्तोमें ] 'स्' [ सुप् ] विभक्तिचिह्न जोड़ा जाता है । यह विभक्तिचिह्न अकारान्त, इकारान्त, उकारान्त, तथा ऊकारान्त शब्दोंमें तथा घनियुग्मान्त शब्दोंमें नियत रूपसे जोड़ा जाता है । अकारान्त तथा ईकारान्त शब्दोंमें इस स् का प्रयोग कम पाया जाता है, जिसके उदाहरण विश्वपाः, [ पु० ], सुधीः, [ पु० ] श्री, ही [ स्त्री० ] दिये जा सकते हैं । हलन्त शब्दोंमें यह स् नहीं जोड़ा जाता । किन्तु ऐसा अनुमान होता है कि प्रा० मा० यू० \*स्\* [ \*—S ]

[ सं० स् ] कुछ हलन्तोमें भी जोड़ा जाता था । उदाहरणके लिए सन्वृतके धाक्, बिट्, विद्वास् के समानान्तर रूपोंके लिए अवेस्ता वाल्श [waxs], विश्, [ wis̄ ], ग्रीक एइदोस् [ eidōs ] [ अर्थ, पण्डित या ज्ञानी ] को लीजिए ।<sup>१</sup> इससे स्पष्ट है कि संस्कृतके क्, ट्, न्, जो इन रूपोंमें पाये जाते हैं, संभवत भारत-ईरानी प्रथमा विभक्ति चिह्न स् के ही अन्य विकसित रूप हैं । वैसे पिता, सखा, हस्ती, इवा आदि रूपोंमें इम स् का सर्वथा अभाव है । अवेस्तामें हम इसे देख सकते हैं—पिता, हखा, स्या [ pita;-haxa; spa ] । 'स्' के प्रयोगके लिए प्रा० भा० यू० रूपोंसे विकसित रूपोंके ये उदाहरण ले सकते हैं —

वृकः	ग्रीक	लुकास्	[ lubos ]
गिरिः	प्रवे०	गइरिस्	[ garis̄ ]
क्रतुः	"	ख्रतुश्	[ xratu ]
द्यौ	ग्रीक	ज़ेडस् = *दज़ेडस्	[ zeus = *dzeus ]

इन शब्दोंके द्वितीया एकवचन रूपोंमें 'म्' विभक्तिचिह्न जोड़ा जाता है । यह म् हलन्त शब्दोंके रूपोंमें अम् हो जाता है, यथा\* दघत्—दघतम् । इस विभक्तिचिह्नका विकास प्रा० भा० यू० स्वरोमूत \*म् से माना जाता है, जो ग्रीकमें न तथा द्य के रूपमें विकसित हुआ है ।

संस्कृत अश्वम् अवे० अस्पमम् [ aspam ] ग्री० हेप्पान् [ heppo-n ]  
 ,, पादम् ,, पादमम् [ padam ], ,, पाद [ poda ]

यह निष्कर्ष निकालना अनुचित न होगा कि जहाँ संस्कृतमें अजन्तोंमें स् जोड़ा जाता है, वहाँ ग्रीकमें न् पाया जाता है, और हलन्तोमें संस्कृतमें अम् जोड़ा जाता है, ग्रीकमें केवल द्य ही पाया जाता है ।

१. Bloch : L' Indo-Aryen p. 117.

संस्कृतमें नपुंसक लिंगके प्रथमा तथा द्वितीयाके एकवचन दोनों एकसे ही होते हैं। इनमें भी हम दो प्रकारकी कोटियाँ विभक्त कर सकते हैं। अकारान्त शब्दोंमें 'म्' विभक्तिबिह्वला प्रयोग होता है, किन्तु अन्य स्वरान्त तथा हलन्त शब्दोंमें "शून्य [ zero ]" विभक्तिबिह्वला प्रयोग होता है। इस सबधमें, पदरचनाशास्त्रमें इस "शून्य" के महत्त्वपर दो शब्द कह दिये जायें। वस्तुतः यह 'शून्य [ ० ]' भी ठीक वही कार्य करता है, जैसा कोई विभक्ति बिह्वल या प्रत्यय। उदाहरणके लिए संस्कृतके 'शतृ' प्रत्ययको ले लीजिए। यह शतृ प्रत्यय वर्तमान काल [ लट् ] के प्रथम पुरुष एकवचनके रूपको स्वरहीन बना देता है, पठत्, भवत्, कुवंत्, किन्तु इसके साथ अन्य कोई ध्वनि नहीं जोड़ी जाती। अर्थात् ध्वन्यात्मकताकी दृष्टिमें शतृका कोई महत्त्व भले ही न हो, किन्तु पदरचनाकी दृष्टिमें इसका महत्त्व मानना ही होगा। विशेष स्पष्टीकरणके लिए शतृ-प्रक्रियाकी भाषा-वैज्ञानिक यो व्यवन करेगा —

करोति [ \*कुवंति ] + शतृ [ ० ] = कुवंत् + ० = कुवंत्  
 पठति + शतृ [ ० ] = पठत् + ० = पठत्  
 भवति + शतृ [ ० ] = भवत् + ० = भवत्

यहाँपर हमें कोई न कोई प्रत्यय मानना पड़ता है, भाषावैज्ञानिक उन 'शून्य' [ zero ] कहेगा, पाणिनिने उसके लिए ' इत्' राजा दी है। आजम हजारों वर्ष पूर्व महर्षि पाणिनिने इस "शून्यके" पदरचनात्मक महत्त्वको भली भाँति समझा था। तभी तो ध्वनि, प्रत्यय आदिके लोपकी परिभाषा "अदर्शन लोप" से उनका तात्पर्य मेरी समझमें यह था कि यद्यपि वह ध्वनि, प्रत्यय या विभक्तिबिह्वल दिखाई नहीं देता, तथापि प्रवृत्तिमें विचार उत्पन्न करनेमें वह पूर्णतः शक्त होता है। हाँ, यह दूसरी बात है कि वह विकार कभी नभी स्पष्ट दिखाई नहीं पड़ता। नपुंसक लिंगके हलन्त शब्दों प्रथमा तथा द्वितीया एकवचन रूपोंमें प्रायः यही "शून्य" विभक्तिबिह्वल [ zero inflexion ] पाया जाता है। जगत् शब्दके प्रथमा द्वितीया एक-



वचनके रूप जगत् में भाषाशास्त्री स्पष्ट ही “शून्य” [O] विभक्तिचिह्न मानेगा ।

शब्द विभक्तिचिह्न [ प्रथमा द्वितीया-ए-व० ] पद

जगत्	+	○	=	जगत्
भवत्	+	○	=	भवत्
गच्छत्	+	○	=	गच्छत्

यदि ऐसे ‘शून्य’ विभक्तिचिह्नकी भत्ता न मानी जायगी, तो ये पद प्रथमा या द्वितीया एकवचनके रूपका बोध नहीं करा सकेंगे। नपुंसक लिंगके दोना तरहके रूपोंके उदाहरण ये हैं —

स०	क्षयम्	अवेस्ता	एताप्रभम्	[xs'asram]
„	मधु	„	मदु	[madu]
„	स्वर्	„	ह्वर्भ	[hwarā]
„	मन	„	मनो	[mano]
„	महत्	„	मचत्	[mazat]

भाषाशास्त्रीय दृष्टिसे नपुंसक लिंगके प्रथमा-द्वितीया एकवचनमें इ सुप् विभक्तिचिह्न भी पाया जाता है। इस इ सुप् विभक्तिचिह्नकी हम अक्षि, सत्रिय, अक्षिय, दधि में देण सकते हैं। संस्कृतके इन तयावधिन इ-ना-रात नपुंसक लिंग शब्दोंमें वस्तुतः वर ‘शून्य’ विभक्तिचिह्न नहीं माना जा सकता, जिसे हम मधु, मनस् [ ] या महत् में देण सकते हैं। तात्त्विक दृष्टिसे इन प्रथमा द्वितीया एकवचन रूपोंके अक्ष[-न्], सत्रिय[-न्], अक्ष्य [-न्], दधि [-न्] रूपोंमें ‘इ’ विभक्तिचिह्न जोड़कर बनाया माना जा सकता है। इस प्रकारका इ सुप् प्रत्यय हम बारि में भी देण सकते हैं, जहाँ वार् + इ है। वार् शब्द संस्कृतमें स्वकन्ध रूपमें भी पाया जाता है, जिसका पठ्यन्त रूप ‘वारी तिथि’ में देण जा सकता है। यही कारण है कि इन

1. Wackernagel Altindische Grammatik Vol 2. p 34 § 11 (d)

शब्दोंके अन्य विभक्तिके रूपोंमें हम 'इ' का सर्वथा अभाव पाते हैं, यथा दध्नः, दध्नाम्, दध्ना, दध्णो; आदि रूपोंमें। यदि 'इ' शब्दका ही ध्वनिभूत अंश [ ध्वन्यंश ] होता, तो \*दधिनः, \*दधिनाम्, \*दधिशिला, \*दधिशिलो रूप पाये जाने चाहिए थे, जैसा कि उकारान्त शब्दोंके रूपोंमें पाया जाना है, यथा मधु के इन रूपोंमें मधुनः, मधुनाम्।

तृतीया एकवचनमें कई प्रकारके सुप् चिह्न पाये जाते हैं। महर्षि पाणिनिने इन सभी तृतीयैकवचन विभक्तिचिह्नोंको 'ट' के अन्तर्गत समा-दिष्ट कर लिया है। वस्तुतः ठीक भी है, क्योंकि इनमेंसे अधिकतर घ्रा से विकसित हुए हैं, जो वेदमें पाया जाता है। सं० वाचा [ लौकिक संस्कृत वचसा भी ], पदा, मनसा, उमा, क्षमा, घृष्टना, पित्रा जैसे तृतीयैकवचनान्त वैदिक तथा कुछ लौकिक संस्कृत रूपोंमें यही आ विभक्तिचिह्न है। संस्कृतके अकारान्त शब्दोंके रूपोंमें तृतीया एकवचनका विभक्तिचिह्न "एन" [ सं० देवेन ] देखा जाता है। ऋग्वेदमें ही यह प्रवृत्ति देखी जा सकती है, किन्तु वहाँ साथ ही साथ 'आ' वाला रूप भी पाया जाता है। इस तरह वहाँ 'देवा' 'देवेन' दोनों रूप तृतीया एकवचनमें मिलते हैं। यह '-पुन' वस्तुन, तेन, येन जैसे सर्वनाम शब्दोंके तृतीया एकवचन रूपोंके सादृश्य पर चला होगा। वाकेरनागेलने अन्य प्रकारके तृतीयैकवचनान्त सुप् विभक्ति चिह्नोंको इस तरह विभाजित किया है —

आकारान्त रूपोंमें घ्रा तथा आ विभक्तिचिह्नोंके रूप पाये जाते हैं। इकारान्त तथा उकारान्त रूपोंमें [इ] या, [उ] वा, इना, उना, तथा ई, ऊ इस प्रकार तीन तीन तरहके विभक्तिचिह्न पाये जाते हैं। उदाहरणके लिए हम वैदिक संस्कृतसे आकारान्त शब्दोंके तृतीयैकवचनके विकल्प रूप स्वधा, स्वधया, जिह्वा, जिह्वया ले सकते हैं। इकारान्त तथा उकारान्त शब्दोंके तृतीयैकवचन रूपोंमें प्राचीनतम रूप नि सन्देह ई तथा ऊ वाले हैं, यथा वैदिक सं० चित्ती [ली० सं० धित्या] वी० सं० ऋतु [ली० सं० ऋतुना]। वस्तुतः

प्राचीन भारतयूरोपीय तृतीया एकवचनकी सुप् विभक्तिकी कल्पना \*भ [ \*० ] के रूपमें की जा सकती है, जिसके कारण ह्रस्व इ, उ दीर्घ होकर तृतीयैकवचनान्त रूप बनेंगे। या तथा धा वाले रूप ईकारान्त देवी जैसे शब्दोंके रूप देव्या के सादृश्यपर पाये जाने लगे होंगे। इसी प्रकार तृतीया एकवचनका ना वाला विभक्तिचिह्न इनन्त शब्दोंके तृतीयैकवचनान्त रूपोंके सादृश्यपर बना होगा, यथा—

करि [ त्र ]-करिणा : : हरि-हरिणा : : भानु-भानुना

चतुर्थी एकवचनमें 'ए' विभक्तिचिह्नका प्रयोग होता है, जिसे प्रा० भा० यू० \*अइ तथा \*एइ का विकसित रूप माना जाता है। ग्रीकमें चतुर्थीके एकवचनमें ओइ का प्रयोग होता है, यथा लोपोइ [ λοποι ] [ अर्थ, शब्दके लिए ]। अकारान्त शब्दोंके रूपोंमें यह 'ए', 'आय' का रूप धारण कर लेता है, यथा देवाय। ईकारान्त रूपों [ स्त्रीलिंग रूपों ] में यह ऐ के रूपमें विकसित देखा जाता है, यथा देव्यै [ देवीसे चतु० ए० व० ]। आकारान्त [ स्त्रीलिंग ] शब्दोंके चतुर्थी एकवचन रूपोंमें मूल शब्द तथा सुप् प्रत्ययके बीचमें आय अक्ष जोड़ दिया जाता है, यथा सूर्याय [ सूर्या से चतु० एकवचन ]।

पञ्चमी एकवचन तथा षष्ठी एकवचन दोनोंके रूपोंको साथ-साथ ही लिया जा सकता है। जैसा कि स्पष्ट है, इन दोनोंका विभक्तिचिह्न अस् है। इसका अपवाद हम केवल अकारान्त शब्दोंके रूपोंमें पाते हैं, जहाँ पञ्चमीमें भ्रात् तथा षष्ठीमें स्म विभक्तिचिह्न पाये जाते हैं। पञ्चमीके इस भ्रात् को हम प्रा० भा० यू० \*ओइ [ तथा \*एइ ] से जोड़ सकते हैं। यह \*ओइ, भ्राइ के रूपमें लैतिनमें भी पाया जाता है। ग्रीकमें अवस्तुत पञ्चमी [ Ablative ] का ही अभाव है। लैतिनमें तो सम्भवत यह स्त्रीलिंग शब्दोंमें भी पाया जाता होगा। लैतिनके 'मेन्साइ' [ mensad ] [ टेबुलसे ], अन्नोइ [ annod ] [ बपसि ], इन उदाहरणोंसे स्पष्ट है कि संस्कृतके 'देवात्-इ' के

नदृश विभक्तिचिह्न वहाँ पाया जाता है। पठोके एकवचनमें प्रा० भा० यू० में  $\text{एम्}$  तथा  $\text{आस्}$  विभक्तिचिह्नकी वल्पना की गई है, जो पञ्चमीका भी विभक्तिचिह्न था। संस्कृतका 'अस्' विभक्तिचिह्न इसीसे विकसित हुआ है, जो हरे. [हरि + अस्], पिणोः [विष्णु + अस्] में स्पष्ट है। यहाँ यह रूप पञ्चमी तथा पठो दोनोंके एकवचनमें पाया जाता है। संस्कृत अकारान्त शब्दोंके पठो एकवचनका रूप विभक्तिचिह्न वस्तुतः सर्वनाम शब्दोंके पठो एकवचनका विभक्तिचिह्न था। धीरे-धीरे तस्य, यस्य के सादृश्य देवस्य आदि रूपोंका विकास हुआ है। पठोका विभक्तिचिह्न स् के रूपमें ग्रीक तथा लैटिनमें भी विकसित हुआ है—ग्रीक, खोरास् [khōras] [दिशाका], पोलिआस् [polios] [पुरीका, सं० पुर, पूर्वा], लैटिन, मेन्सात् [mensas] [देवुलका], सितुइस् [ciuis] [नागरिकता]। यह संस्कृत पञ्चमी-पठो विभक्तिचिह्न अस् इकारान्त तथा उकारान्त शब्दोंमें यह ए तथा ओः रूप धारण कर लेता है। ऋकारान्त शब्दोंमें यह उ. [स० पितु] पाया जाता है।

सप्तमी एकवचनका चिह्न 'इ' है। यह 'इ' विभक्तिचिह्न मनसि, नरि, विशि, तन्वि में तथा द्वरे, हस्ते, देवे [अ + इ = ए] में स्पष्ट है। हलन्त शब्दोंके सप्तम्यैकवचन रूपोंमें भी यह 'इ' विभक्तिचिह्न पाया जाता है। इस 'इ' का विकास कहीं-कहीं ग्रीक भाषामें भी मिलना है, यथा ग्रीक पोलि [poli] [स० पुरि] वैदिक संस्कृतमें कई ऐसे सप्तम्यन्त [एकवचन] रूप भी मिलते हैं, जिनमें कोई विभक्तिचिह्न नहीं पाया जाता। वस्तुतः इन रूपोंमें "शून्य-विभक्तिचिह्न" [zero-inflexion] होता है। वैदिक भाषामें इकारान्त, उकारान्त, ईकारान्त तथा 'अन्' अन्तवाले शब्दोंके सप्तमी एकवचनके रूपोंमें कोई ध्वन्यात्मक विभक्तिचिह्न [phonetic inflexion] नहीं पाया जाता, उदाहरणके लिए, "परमे ध्योमन्" यहाँ

व्योमन् वस्तुन सन्तर्भ्यैकवचनान्त रूप है, जो लौकिक संस्कृतमें व्योम्नि वन जाता है। कुछ ऐसे भी हलन्त शब्दोंके सप्तमी ए० व० रूप हैं, जो शून्य रूपोंसे लगते हैं, यथा अहर्। इन अर् अन्तवाले रूपाको सप्तम्यन्त माना जाय, या स्वर की भाँति केवल क्रियाविशेषण ? वस्तु ये सभी शून्य रूपवाले अथवा शून्य विभक्तिचिह्न रूप आरम्भमें क्रियाविशेषण ही थे। बादमें आकर इनके साथ भी मुप् प्रत्यय इ का प्रयोग होने लग गया होगा। किन्तु अन् अन्तवाले शब्दोंमें भारत ईरानी वर्ग तक यह इ वा प्रयोग नहीं पाया जाता। वेदोंमें यह प्रवृत्ति देखी जा सकती है, यथा अहन्, अजमन् जो मप्यम्यन्त रूप हैं। वैदिक भाषामें ईकारान्त तथा ऊकारान्त [स्त्रीलिंग] शब्दोंके सप्तमी एकवचन रूपोंमें “शून्य” [O] विभक्तिचिह्न पाया जाता है, यथा नदी, तनू, चमू। इन रूपाको आकारान्त शब्दोंके रूपोंके सादृश्यपर जनित माना जा सकता है। उदाहरणके लिए संस्कृत दम शब्दका सप्तमी एकवचनका दमे तथा बहुवचनका दमेषु रूप होना है; इसी आधारपर ये रूप यों धने होंगे—

दमे : दमेषु : नदी : नदीषु : चमू : चमूषु : तनू : तनूषु

संस्कृत इकारान्त तथा उकारान्त शब्दोंके रूपोंमें पाया जानेवाला श्री [हरी, भानी] प्रा० भा० यू० न होकर भारत-ईरानी वर्गकी विशेषता है। यह \*श्री अवैस्त्नामें श्री तथा अश्व के रूपमें पाया जाता है। यह \*श्री विभक्तिचिह्न आरम्भमें केवल उकारान्त शब्दोंकी ही विशेषता थी, तथा इकारान्त शब्दाभा विभक्तिचिह्न \*श्राइ रहा होगा। धीरे-धीरे मादृःपके आधारपर अग्नी, गिरौ, इष्टौ में भी यह चिह्न पाया जाने लगा। इस \*श्राइ का मकेत हम वैदिक सम्प्रत्यये कुछ सप्तमी ए० व० रूपोंमें, जैसे श्रुता, अग्ना में पा सकते हैं, जहाँ यह चिह्न ध्वनिपरिवर्तनके कारण केवल 'आ' रह गया है। इनका प्राचीन रूप हम \*श्रुताइ, \*अग्नाइ मान सकते हैं।

सप्तमी विभक्तिके एकवचनमें स्त्रीलिंग शब्दोंमें एक और विभक्ति चिह्न पाया जाता है,—“घाम्” । यह आम् आकारान्त, साथ ही ह्रस्व एवं दीर्घ ईकारान्त तथा उकारान्त स्त्रीलिंग शब्दोंके रूपोंमें पाया जाता है । इसकी उत्पत्ति प्रा० भा० यू० \*आइ [आ + इ] से मानी जा सकती है, जिसका प्रयोग आकारान्त शब्दोंमें पाया जाता था । यह \*आइ विभक्तिचिह्न भारत-ईरानी वर्गमें आकर \*आया के रूपमें विकसित हुआ, तथा अवेस्तामें “अय” के रूपमें पाया जाता है<sup>१</sup> । संस्कृतमें आकर इसमें घम् जोड़ दिया गया है, और इस तरह यह विभक्तिचिह्न ठीक उसी तरह घायां [घाया + घम्] बन गया है, जैसे अवेस्ताका तृतीया-चतुर्थी-पञ्चमी द्विवचनका विभक्तिचिह्न ब्य [bya] संस्कृतमें भ्याम् हो गया है । सप्तमी एकवचनके ये रूप दोनों भाषाओंके इन समानान्तर उदाहरणोंमें देखे जा सकते हैं —

सं० ग्रीवायाम्, अवेस्ता ग्रीवय [griwaya]

संवीचन एकवचनके रूपोंमें प्रायः शून्य विभक्ति रूप ही पाया जाता है । संस्कृत अकारान्त शब्दोंके इन रूपोंमें शून्य विभक्तिचिह्न पाया जाता है । किन्तु ग्रीकमें इनके समानान्तर अकारान्त शब्दोंके संवीचनके एकवचन रूपोंमें ए [e] विभक्तिचिह्नका प्रयोग होता है, यथा लॉगे [logē] [ हे शब्द ] । किन्तु अन्य अन्तवाले ग्रीक शब्दोंके इस विभक्तिके ए० व० रूपोंमें कोई चिह्न नहीं पाया जाता, जब कि संस्कृतके अकारान्त शब्दोंके रूपोंमें ‘ए’ अन्तवाले रूप [स०रमे = रमा + इ], इकारान्त तथा उकारान्तोंमें ए तथा ओ अन्तवाले रूप [हरे / \*हरि + आ = \*हरा + ई], [भानो / \*भानु + घा = \*भाना + उ], तथा ईकारान्त रूपोंमें दीर्घ ईकारका ह्रस्व इ पाया जाता है, [देवि, नदि] । हलग्नोंमें ये रूप प्रायः मूल रूप या

1. Wackernagel . Altindische Grammatik Vol. III. P. 43 §16 [1]

२. वर्णविपर्यय हो गया है ।

शून्य विभक्तिचिह्न युक्त ही पाये जाते हैं। लैटिन भाषाके संबोधन एक-वचन रूपोंमें केवल कुछ ही शब्दोंके साथ ए विभक्तिचिह्न पाया जाता है। इस सम्बन्धमें '—वत्' शब्दोंमें संबोधन एकवचन रूपोंमें प्राय 'सु' पाया जाता है, यथा इन रूपोंमें—चिकित्स्व, ऋत्स्व, ओजीय' ।

### द्विवचन रूप

संस्कृतके द्विवचन रूप, भाषाशास्त्रीय दृष्टिसे देखा जाय, तो आठ विभक्तियोंमें केवल तीन ही तरहके पाये जाते हैं। प्रथमा, द्वितीया तथा संबोधनमें श्री विभक्ति चिह्न [यथा, देवी], तृतीया, चतुर्थी, तथा पञ्चमीमें भ्याम् विभक्तिचिह्न [यथा, देवाभ्याम्], षष्ठी तथा सप्तमीमें योः विभक्ति-चिह्न [यथा, देवयोः ] पाये जाते हैं। इससे स्पष्ट है कि यद्यपि द्विवचन संस्कृतमें एक भिन्न वचनके रूपमें पाया जाता है, फिर भी रूपाकी बहुलता तथा समस्त विभक्तियोंमें अलग अलग रूपोंका न होना, भविष्यमें द्विवचनके लोपका पूर्वचिह्न कहा जा सकता है। लैटिनमें तो यह द्विवचन सर्वथा लुप्त हो गया है। लिथुआनियन, गार्थिक तथा प्राचीन ग्रीकमें इसके चिह्न मिलते हैं। ग्रीकमें भी संस्कृतकी भाँति द्विवचनके रूप संकुचित ही है। सारी छ विभक्तियोंमें केवल दो ही द्विवचन रूप पाये जाते हैं। उदाहरणके लिए 'लोगोस्' [logos] शब्दके प्रथमा [nominative], द्वितीया [accusative], तथा संबोधन [vocative] के द्विवचनके रूपोंमें लॉगो [logo], तथा शेष विभक्तियोंके रूपोंमें लॉगोइन् [logoin] रूप पाये जाते हैं। द्विवचनका रूप वस्तुतः प्रा०भा०यू० में बहुत कम रहा होगा। इसका प्रयोग उन दो वस्तुओंके लिए पाया जाता होगा जो युग्मोंमें पाई थीं। दो हाथ, दो पैर, दो कान, दो आँखोंके युग्मोंके आधारपर द्विवचनका जन्म हुआ। धीरे धीरे वैदिक संस्कृतमें उन दो देवताओंके लिए भी

यह द्विवचन प्रयुक्त होने लगा, जो युग्म रूपमें धातूत किये जाते थे, मित्रावरुणा, नास्तया, अश्विना, इन्द्राग्नी, धावापृथिवी । आगे जाकर माता पिता, पति-पत्नी, आदिके युग्मके लिए भी पितरौ, दम्पती जैसे द्विवचनान्त रूपाका प्रयोग होने लगा । इसके बाद जो द्विवचनका प्रयोग किन्हीं दो चीजोंके भाव-बोधनके लिए होने लगा ।

संस्कृतके अकारान्त तथा हलन्त शब्दोंमें आ [ओ] विभक्तिचिह्नका प्रयोग प्रथमा, द्वितीया तथा सर्वोधनमें पाया जाता है । यह आ प्रा० भा० यू० \*ओ [व] से विकसित हुआ है, जो ग्रीकमें ओ [O] तथा भारत-ईरानी वर्गमें आ पाया जाता है । उदाहरणके रूपमें हम इन द्विवचन रूपाको ले सकते हैं, वैदिक संस्कृतके रूप—नासा, नरा, श्वाना, पदा [पादौ], पितरा [पितरौ], बृहता, हस्ता [हस्तौ]<sup>१</sup> इस रावणमें यह यह दिया जाय कि अवेस्ताम जहाँ आकारान्त शब्दोंके इन विभक्तियोंके द्विवचन रूपमें ओ पाया जाता है, वहाँ हलन्त शब्दोंके इन रूपोंमें आ पाया जाता है, यथा—

अवेस्ता	जस्तो [zasto]	वै० संस्कृत	हस्ता [हस्तौ]
„	स्पान [spana] <sup>२</sup> [*स्पाना]	„	श्वाना
„	नर [nara] <sup>३</sup> [*नरा]	„	नरा

इकारान्त तथा उकारान्त शब्दोंकी इन विभक्तियोंके द्विवचन रूपोंमें ई तथा ऊ अन्तवाले रूप पाये जाते हैं । इन्हें हम प्रा० भा० यू० 'इवा'

१ ये सब वैदिक संस्कृतके रूप हैं । लौकिक संस्कृतमें विभक्ति चिह्न सदा 'ओ' होता है ।

२ अवेस्तामें यह द्विवचन चिह्न 'आ' ह्रस्व होकर अ के रूपमें पाया जाता है जैसे नर [\*नरा], स्पान [\*स्पाना] । कुछ विद्वानोंके मतानुसार यह अवेस्ता ग्रन्थकी लिपिकी विशेषताके कारण हो गया है, वस्तुतः यह वीर्य [ध्र] ही है ।



\*'अ' \*'[०] से विकसित मान सकते हैं। पत्नी, अग्नी, बाहू, भानू में यह दीर्घत्व पाया जाता है। आकारान्त शब्दों में ए अन्त वाले रूप पाये जाते हैं, जो प्रा० भा० यू० \*अह का विकसित रूप है। यह रूप संस्कृतके यमे, उर्ध्वरे, उभे में पाया जाता है। नपुंसकलिङ्ग शब्दोंमें [अकारान्तको छोड़कर] ई का प्रयोग पाया जाता है, यथा वच से धचसी। इकारान्त, उकारान्त तथा ऋकारान्त नपुंसक शब्दोंके इन रूपोंमें 'न्' अन्त प्रत्ययका प्रयोग होता है, तथा अशि णी, मधुनी, ज्ञानुनी, कर्तृणी।

तृतीया, चतुर्थी तथा पञ्चमीका विभक्तिचिह्न भ्यां है। अवेस्तामें इसका व्यम् तथा ब्या [\*भ्या] रूप पाया जाता है। प्राचीन फारसीमें आकर यह रूप बिषा हो गया है। जैसा कि हम द्वितीय परिच्छेदमें बता आये हैं, प्रा० भा० यू० में \*'भ्' के साथ ही ऐसे सुप् प्रत्ययोंमें \*'म्' वाले रूप भी पाये जाते थे, तथा ये \*म् वाले रूप बाल्ती-स्लाविक-बर्गोंकी भाषाओंमें विकसित हुए हैं। इस सम्बन्धमें अवेस्ता तथा संस्कृतके रूप विशेष समीप है यथा संस्कृत पितृभ्याम्, अवेस्ता नरभ्य [narabya] [स० नराभ्या, नृभ्यां] ब्रवत्भ्याम् [bravatbyam] [स० भ्रुवद्भ्याम्]। अवेस्तामें किन्ही शब्दों [प्रायः अकारान्त शब्दों] के इन रूपोंमें स्वरको दीर्घ करनेके स्थानपर ध्वनियुग्म [diphthong] का प्रयोग पाया जाता है जब कि संस्कृतमें मूल शब्दका अन्तिम स्वर दीर्घ हो जाता है संस्कृत हस्ताभ्याम्, अवेस्ता जस्ताभ्या [zastabya], प्राचीन फारसी दस्ताभ्या [dastabya]।

संस्कृतमें षष्ठी तथा सप्तमी द्विवचनका विभक्तिचिह्न ओस् [षयो] दो प्रा० भा० यू० विभक्तिचिह्नोंका सम्मिलित रूप माना जाता है। भारत-ईरानी \*अउ, अवेस्ता ओ तथा भारत-ईरानी \*आस् अवेस्ता अस्, जो क्रमशः सप्तमी तथा षष्ठीके विभक्तिचिह्न हैं, प्राचीन संस्कृतमें ओस् के रूपमें विकसित हो गये थे। अतः इसकी उत्पत्ति प्रा० भा० यू०-[\*ओस्],

\*घ्राट्स् से मानी जाती है<sup>1</sup>। यह विभक्तिचिह्न ग्रीककी विभाषाओंमें ग्राइमाइस् [oiols] के रूपमें विकसित हुआ है।

जैसा कि हम अष्टम परिच्छेदमें देखेंगे भारतीय आर्य भाषाओंमें प्राकृत-कालमें आकर द्विवचन सर्वथा लुप्त हो गया है। वहाँ द्विवचनका स्थान बहुवचनने ले लिया है। लौकिक संस्कृतमें द्विवचन अवश्य पाया जाता है।

### बहुवचन रूप

लौकिक संस्कृतमें प्रथमा बहुवचनमें 'घः' [ घस् ] विभक्तिचिह्नका प्रयोग होता है। वैदिक संस्कृतमें अकारान्त शब्दोंमें प्रथमा बहुवचनमें 'घसः' विभक्तिचिह्न भी पाया जाता है, यथा देवासः [देव + घसः] में। संस्कृतके इस घस् को प्रा० भा० यू० \*घ्राट्स् से विकसित माना जा सकता है। ग्रीकके प्रथमा बहुवचनमें इ तथा एस् दो तरहके विभक्तिचिह्न वाले रूप पाये जाते हैं। जहाँ तक संस्कृतके घसस् वाले रूपका प्रश्न है, उसका संबंध इस एस् से जोड़ा जा सकता है। सोस्यूर तथा धुगमानके मतानुसार संस्कृतके ये दोनों चिह्न प्रा० भा० यू० \*घ्राट्स्-एस् के विकसित रूप हैं।<sup>2</sup> वैदिक संस्कृतमें घस् तथा घसस् वाले दोनों रूप एक साथ पाये जाते हैं, यथा—

ते अज्येष्ठा अकनिष्ठासः [ ऋ. वे. ५.५६.६ ]

अज्येष्ठासो अकनिष्ठास एते [ ऋ. ५.६०.५ ]

हर्षमाणासो हृषिता मरुत्वः [ ऋ. १०.६४.१ ]

हर्षमाण हृषितारो मरुत्वन् [ अथ. वे. ४.३१.१ ]

हलन्त शब्दरूपोंमें केवल घस् विभक्तिचिह्न ही पाया जाता है, जो उसी प्रा० भा० यू० चिह्नका रूप है, यथा आपः, धीमन्तः। यह घस् अकारान्त

1. Wackernagel: Altindische Grammatik, Vol. III p. 57 § 22 [C]

2. Wackernagel: Altindische Grammatik p. 101 § 41 [d]

तथा आकरान्त शब्दोंके अतिरिक्त अन्य अजन्तोंमें भी पाया जाता है, यथा गिरयः, भानवः, गावः, नावः। प्रथमा बहुवचनकी दृष्टिमें नपुंसकरुलिंगके रूपोंका विशेष भाषावैज्ञानिक महत्त्व है। लौकिक संस्कृतमें इनमें इ विभक्ति-चिह्न पाया जाता है, जिसके पूर्व एक अनुनासिक [ न ] अन्त-प्रत्ययका समावेश पाया जाता है। इस प्रकार अजन्तोंमें,—“....श्रानि”, “ईनि” “....ऊनि” “....भृणि”<sup>१</sup> अन्त वाले रूप पाये जाते हैं। इन रूपोंको हम प्रथम कोटिके नपुंसक प्रथमा बहुवचन रूप मानते हैं। द्वितीय कोटिमें वे शब्द आते हैं, जो हलन्त हैं। इनके प्रथमा द्वितीया बहुवचनका विभक्तिचिह्न भी इ ही है तथा उसमें भी अनुनासिक तत्त्व पाया जाता है,—श्रानि, श्रञ्चि, श्रन्ति<sup>२</sup>। जिन नपुंसक हलन्त शब्दोंमें पदान्त व्यञ्जनके पूर्व कोई अनुनासिक तत्त्व होता है, वहाँ प्रथमा-द्वितीया बहुवचनके रूपोंमें पदान्त व्यञ्जनके पूर्व अनुनासिक तत्त्वका समावेश कर दिया जाता है,—“श्रांसि [यथा पयस्, पयांसि], ईषि [हविष्, हवीषि], ऊषि [घनूषि], यह तीसरी कोटि है। चौथी कोटिमें शक्, युक् जैसे हलन्त शब्द आते हैं, जिनके शङ्कि, युञ्जि जैसे रूप बनते हैं। ये पहले तृतीय कोटिमें ही रहे होंगे।

वैदिक संस्कृतके नपुंसक लिंगके प्रथमा तथा द्वितीया बहुवचन सर्वथा भिन्न रूपोंमें मिलते हैं। प्रथम कोटिके रूपोंमें नि के प्रयोगके साथ साथ केवल आ, ई, ऊ अन्तवाले रूप भी मिलते हैं, जिनमें नि विभक्तिचिह्न नहीं पाया जाता, तथा ‘नामानि गुह्या [६.४१.५] अप्रतो वृतानि [१.१६५ ७]; उरु वरांसि [१०.८६.२]। द्वितीय कोटिके शब्दोंमें वेदमें आ तथा श्रानि दोनों अन्तवाले रूप पाये जाते हैं, यथा नामा, नामानि। वैदिक संस्कृतमें तृतीय कोटिके रूप तो पाये जाते हैं, पर चतुर्थ कोटिके नहीं। अतः वैदिक संस्कृतके रूपोंको दो कोटियोंमें विभक्त किया जा सकता है— [१] हलन्त शब्दोंके रूपोंमें इ विभक्तिचिह्नका प्रयोग होता है, जैसे,

१. यथा, श्रानानि, धारोणि, मधूनि, कतूणि।

२. यथा नामानि, प्रत्यञ्चि, जगन्ति।

‘चत्वारि; [२] अजन्त शब्दोंमें प्रायः अंतिम स्वर ध्वनिवो दीर्घ कर दिया जाता है, किन्तु कभी इ, उ ह्रस्व रूप भी पाये जाते हैं, यथा भूरि वृतानि [‘भूरीणि वृतानि’, के स्यानपर] । इनके अतिरिक्त नि [न् + इ] वाले रूप भी पाये जाते हैं, जो संभव है, हलन्त शब्दोंके सादृश्यपर बने होंगे, क्योंकि अन्य भाषाओंमें इनका कोई चिह्न नहीं मिलता । यह ‘इ’ अव्येस्तामें पाया जाता है, सं० नामानि, अव्ये० नाम्भनि [namani] । यूरोपीय आर्य भाषाओंमें यह इ नहीं मिलता, इसके स्थानपर अ मिलता है, यथा ग्रीक अनामत [onomata], लै० नोमिन [nomina] पॉयिक, नम्न [nanna] । यह तथ्य इस बातका संकेत करता है कि प्रा० भा० यू० में नपुंसक लिंग शब्दोंके प्रथमा-द्वितीया बहुवचनका चिह्न “श्वा”—[\*अ] [\*७] रहा होगा । संस्कृतमें इस विभक्तिचिह्नमें जो ‘न् [+ इ]’ पाया जाता है, वह संभवतः उन शब्दोंके रूपोंके आधारपर जोड़ा जाने लगा होगा, जिनमें मूल रूपमें अनुनासिक ध्वनि अन्तमें थी, यथा नाम [न्]—नामानि : : फल—फलानि । इस प्रकार नामानि के सादृश्यपर फलानि रूप बने होंगे । धीरे धीरे यह न्, इ में जुड़कर नि के रूपमें एक विभक्तिचिह्न ही बन गया । आरभमें आ, ई, ऊ रूप इसी ‘श्वा’ [७] के कारण पाये जाते हैं, धीरे-धीरे इनमें भी ‘नि’ जोड़ा जाने लगा ।

संस्कृत अजन्त पुल्लिंग शब्दोंके द्वितीया बहुवचनके रूपोंमें “मान्” विभक्तिचिह्न पाया जाता है । हलन्तोंमें यह विभक्तिचिह्न नहीं पाया जाता, वहाँ द्वितीया बहुवचनका विभक्तिचिह्न “अस्” है, जो प्रथमा बहुवचनमें भी पाया जाता है । स्त्रीलिंग शब्दोंके रूपोंमें भी यह विभक्तिचिह्न “अस्” [स्] के रूपों ही पाया जाता है । इस प्रकार, संस्कृतमें “मान्” विभक्तिचिह्न केवल अजन्त पुल्लिंग शब्दोंकी ही विशेषता है । किन्तु भाषाशास्त्रीय दृष्टिसे यह चिह्न प्रा० भा० यू० से स्त्रीलिंग शब्दोंके रूपोंमें भी प्रयुक्त होता रहा होगा । इस विभक्तिचिह्नका विकास प्रा० भा० यू० \*म्स् या \*म्स् [\*ms, \*ns] से माना जा सकता है । ग्रीकमें जाकर द्वितीया बहुवचनका

यह विभक्तिचिह्न अस् के रूपमें विकसित हो गया, यथा ग्रीक पतेरस्-  
[ pater-as ] [ स० पितम् ] ।

संस्कृतमें अजन्त स्त्रीलिंग शब्दोंके द्वितीया बहुवचनमें एक विशेषता पाई जाती है, जो संस्कृतमें बादमें उत्पन्न हुई है, किन्तु इसके बीज हम प्रा० भा० यू० में ही पा सकते हैं । संस्कृतके इन स्त्रीलिंग शब्दोंमें हम देखते हैं कि द्वितीया बहुवचनमें न् अन्तवाले रूप नहीं पाये जाते । वहाँ आः, ईः, ऊः, ऋः, [ यथा रमा, रचिः, उरुः, मातः ] अन्तवाले रूप पाये जाते हैं । अन्य भारतीय भाषाओंके आधारपर यह कहा जा सकता है कि प्रा० भा० यू० ईन्, ऊन्, ऋन्, का प्रयोग स्त्रीलिंग शब्दरूपोंमें रहा होगा । प्रा० भा० यू० \*आः, \*ओः—कारान्त शब्दोंमें जिनसे संस्कृतमें क्रमशः पुल्लिंग अकारान्त तथा स्त्रीलिंग आकारान्त शब्दोंका विकास हुआ है, द्वितीया बहुवचनके रूपोंमें परस्पर भेद था । पुल्लिंग शब्दोंके रूपोंमें \*न्स् विभक्तिचिह्नका प्रयोग रहा होगा, जब कि स्त्रीलिंग आकारान्त शब्दोंके द्वितीया बहुवचनके रूपोंमें अनुनासिक तत्त्वका अभाव रहा होगा, तथा कोरा \*स्' विभक्तिचिह्न ही प्रयुक्त होता होगा । यही विभक्तिचिह्न ग्रीकमें आम् तथा गार्थिकमें ओस् के रूपमें विकसित हुआ है । किन्तु इकारान्त, उकारान्त ऋकारान्त शब्दोंके रूपोंमें ऐसा विभक्तिचिह्न प्रयुक्त नहीं होता था, तथा उनमें न् वाले रूप ही प्रचलित थे । बादमें संस्कृतमें आकर आकारान्त रूपों के सादृश्य पर इन स्त्रीलिंग शब्दोंसे भी न् वाले रूप हटा दिये गये ।

तृतीया बहुवचनका विभक्तिचिह्न भिस् है । अकारान्त शब्दोंमें यह विभक्तिचिह्न ऐः भी पाया जाता है । यह विशेषता अवेस्तामें भी पाई जाती है, जहाँ तृतीया बहुवचनमें 'विश्' [ bis ] तथा 'अइश्' [ ais ] दोनों विभक्तिचिह्न पाये जाते हैं, यथा स० मर्यैः, मर्यैभिः ; अवेस्ता मर्यइश् [ mas'yais ] प्राचीन फारसी मर्तिमइविश् [ marthyaybis ] । होमरकी ग्रीकमें इस भिस् के समानांतर फि रूप मिलता है, बादकी ग्रीकमें

आकर यह तृतीया विभक्ति लुप्त हो गई है। होमरमें 'नउफि' [nauphi] रूप पाया जाता है, जो संस्कृतमें नौभिः है। भिस् के संबंधमें एक बात यह बता दी जाय कि अकारान्त शब्दोंमें इसका रूप एभिस् [देवेभिः] पाया जाता है। यह ए वस्तुन सर्वनामोंमें प्रथमा बहुवचनमें पाया जाता है [सर्व, सर्वे]। यह ए बहुवचन-मात्रका बोधक समझा जाकर एभि, एभ्य के रूपमें तृतीया, चतुर्थी-पञ्चमीके बहुवचनके रूपोंमें जोड़ा जाने लगा। इसी प्रकार द्विवचन रूपोंके भ्याम् में भी आ जोड़कर धाम्याम् विभक्तिचिह्न बना दिया गया, जहाँ आ [देव, देवा] ठीक उसी तरह द्विवचनका बोधक माना गया, जैसे ए बहुवचन का। किन्तु ये वैकल्पिक प्रयोग केवल अकारान्त शब्द रूपोंमें ही वैदिक संस्कृतमें पाये जाते हैं। अन्य शब्दोंमें केवल भ्याम्, भिस्, भ्यस्, [विष्णुभ्या, विष्णुभि, विष्णुभ्य] का ही प्रयोग होता है। जैसा कि हम बता आये हैं, वेदमें अकारान्त शब्दोंमें देवैः तथा देवेभिः जैसे दोनों रूप पाये जाते हैं। ऋग्वेदमें दोनों रूपोंका समान प्रयोग पाया जाता है, किन्तु अथर्ववेदमें आकर एभि. वाले रूप कम हो गये हैं। तैत्तरीय संहिता [यजुर्वेद] के गद्यभागमें 'एभि' के रूपोंका सर्वथा अभाव है। लौकिक संस्कृतमें आकर ये रूप सर्वथा लुप्त हो गये हैं। वेदसे इन वैकल्पिक रूपोंके ये उदाहरण दिये जा सकते हैं—

यातं अश्वेभिरश्विना [ ऋ० ६.५७ ]

प्रादित्यैर्मतिमश्विना [ ऋ० ६.३५.१३ ]

पद्भिरोगिरा गहि यज्ञियेभिः [ ऋ० १०.१४.५ ]

अद्भिरोगिरा गहोह [ प्र० वे० २६.१.५६ ]

चतुर्थी-पञ्चमीका बहुवचन विभक्तिचिह्न भ्यस् है, जो अकारान्त शब्दोंके पूर्व एभ्य. पाया जाता है, इसे हम ऊपर स्पष्ट कर चुके हैं। ग्रीकमें यह रूप नहीं मिलता, क्योंकि वहाँ पञ्चमी विभक्ति नहीं पाई जाती, चतुर्थी बहुवचनके चिह्न वहाँ 'अइ', 'एइ' दो तरह के हैं। लैटिनमें इसका रूप बुस मिलता है, यथा पत्रि-बुस [patri bus] [स० पितृन्दः]। बाल्ती-सर्ला-

विक्रमों 'भ्' के स्थानपर स्—[ मुस् ] रूप पाया जाता है। इसका प्रा० भा० यू० रूप \*भोस् माना जा सकता है। इस संबंधमें वह दिया जाय कि तृतीया, चतुर्थी तथा षष्ठ्योके द्विवचन तथा बहुवचनके सुप् चिह्नोमे वास्तविक विभक्त्यंत भि है। यही भि, म्याम् [ भि + म्याम् ], भ्यः [ भि + अस् ] के रूपमे पाया जाता है।

षष्ठी बहुवचनका विभक्तिचिह्न धाम् है, जो प्रा० भा० यू० \*धोम् से विकसित हुआ है। अवेस्तामें यह धम्, ग्रीकमें धोन् [On] तथा लैटिनमें डम् [um] के रूपमें पाया जाता है। संस्कृतके अदन्त शब्दोमे यह धाम् अनुनासिक अन्त प्रत्ययसे युक्त होकर नाम् के रूपमें मिलता है। इन शब्दोके षष्ठी बहुवचन रूपोंमें मूल शब्दकी अंतिम स्वर ध्वनि दीर्घ हो जाती है—देवानाम्, हरीणाम्, भानूनाम्, पितृणाम्। अवेस्तामे भी अदन्त शब्दोके रूपोमे यह 'नम्' पाया जाता है, जब कि हलन्त शब्दोके रूपोमे केवल धम् ही पाया जाता है।

सं० गिरीणाम् अवे० गइरिनम् [gaurinam]

अपाम् अपम् [apam]

बृहताम् बर्ध्वजतम् [berazatam]

सप्तमीका बहुवचन विभक्तिचिह्न सु है। यह विभक्तिचिह्न अवेस्ता तथा प्राचीन फारसीमे सु, शु तथा हु के रूपोमे पाया जाता है। ग्रीकमे यह विभक्तिचिह्न सि [si] पाया जाता है; जो प्रायः चतुर्थी बहुवचन [Dative plural] के अर्थमें प्रयुक्त होता है। वस्तुतः यह सप्तमीका ही रूप है, जो चतुर्थीमें घुल-मिल गया है। प्राचीन षर्च स्त्राविक [सत वर्गकी एक भाषा] में यह विभक्तिचिह्न शु के रूपमे मिलता है। इस तुलनात्मक अध्ययनसे स्पष्ट है कि सप्तमी बहुवचन का प्रा० भा० यू० चिह्न \*स् या। इस \*स् में बादमें ग्रीकमे इ [स् + इ = सि], तथा सत वर्गकी भाषाओमे उ [स् + उ = सु] जोड़ दिया गया। थुनेसन नामक पार्श्वात्य विद्वान्के मतानुसार ये इ, उ वस्तुतः सामीप्य तथा दूरताको बतलानेवाले अव्यय थे,

जिनका प्रयोग सप्तम्यन्त रूपोंके साथ हुआ करता था। धीरे-धीरे ये सप्तम्यन्तके अंग बनकर एक ओर सि तथा दूसरी ओर सु के रूपमें विकसित हो गये। संस्कृतमें यह 'सु' इ, उ, ए, कण्ठघ ध्वनि तथा रेफसे परे होनेपर पु के रूपमें पाया जाता है। अ तथा आके परे होनेपर यह सु ही रहता है, यथा देवेषु, हरिषु, भानुषु, पितृषु; पयसु, रमासु।

सम्बोधन व० व० के रूप संस्कृत में ठीक वही है, जो प्रथमा व० व० में पाये जाते हैं।

### विशेषण

संस्कृतमें विशेषणके रूप सजा शब्दोंकी तरह ही चलते हैं। विशेषण शब्द सदा अपने विरोध्यके लिए एवं वचनका वहन करता देखा जाता है, यथा, कृष्णः सर्पः, कृष्णा सर्पिणी, रक्तो घटः, रक्तः घटः, नीलं नभः, नीलं वस्त्रं आदि में। तुलनावोधक रूपोंमें संस्कृतमें इनके साथ तरप्, तमप्, ईयस्, इष्ट प्रत्यय जोड़े जाते हैं। संस्कृत शब्द-रचनाका संकेत करते समय हम इन दोनों तरहके प्रत्ययोंका संकेत कर आये हैं। यहाँ सोदाहरण विवेचन किया जा रहा है।

१ [अ] तर-तम [तरप्-तमप्], ये दोनों तुलनावोधक तद्धित प्रत्यय हैं। इनमेंसे प्रथम 'तरप्' प्रत्यय दो वस्तुओंकी तुलना कर किसी एककी उत्कर्षता स्रोतित करता है। ग्रीकमें इसका-तैरो-रूप मिलता है, जो पिस्तोतैरोस् [pistoteros], अलेथैस्तेरोस् [alethesteros] में पाया जाता है। लैटिनमें इसका-तैर-रूप मिलता है, जो नोस्तेर [noster], दैक्स्तेर [dexter] में पाया जाता है। यही-तरप् प्रत्यय सार्वनामिक रूप 'कतरः' में मिलता है। शुम्बने स० अन्तर ले० इन्तेर [इन्तेरिओर], अ० इटर, इन्डोरियर [inter, interior], ग्रीक एन्तेर [entera], सं० इतर,



लै० इतरेहम् [iterum], तथा संस्कृत क्रियाविशेषण 'नितराम्' तबका सम्बन्ध इसी 'तर[ प् ]' से जोड़ा है । इसके उदाहरण निम्न हैं —

दूरतर, प्रियतर, बिलोलतर, शुचितर, घनितर, [घनिन्-] घर्मभुत्तर [धर्मबुद्ध-], प्रत्यक्तर [प्रत्यञ्च्-], सुमनस्तर [सुमनम्-], उदचिष्टर [उदचिप्-], सत्तर [सन्त्-] भगवत्तर [भगवन्त्-], विद्वत्तर [विद्वान्-] ।

१ [आ] तमप् [तम] की उत्पत्ति प्रा० भा० यू० \*तर्मा से मानी जा सकती है । जैसा कि हम पहले सकेत कर आये हैं तरप्, तमप् [तर, तम] में वस्तुतः दो प्रत्ययोंका मेल है — त + र = तर, त + म = तम । त प्रत्ययका सम्बन्ध संस्कृत 'त' [क्व] प्रा० भा० यू० \*ता [स्] से जोड़ा जाता है । र तथा म भो दो स्वतन्त्र प्रत्ययके रूपमें पाये जाते हैं, जिनका विकास संस्कृत तथा यूरोपीय क्लासिकल भाषाया दोनोमें देखा जाता है । सं० अघर [नीचा], लै० इन्फेरि [inferi], गॉ० उन्दर [undar] अग०, अन्डर [under], सं० अधम, लै० इन्फिमुस् [infimus], स० अघर, गॉयिक अफर [afar] स० अघम-, सं० अघर, अघम-, ग्रीक हूपेरोस् [huperos] लै० सुपरि [superi], अग० सुपर [super], लै० सुम्मुस् [summus] [मि० अं० [surum]] गॉ० उफरो [ufaro], सं० परम, मध्यम, अघरम, मे ये दोनो प्रत्यय पाये जाते हैं । तम-[तमप्] प्रत्यय लै० में 'तिमुस्' तथा गॉयिकमें 'तुम' पाया जाता है । स० अन्तम, लै० इन्तिमुम् [intimus], उल्तिमुस् [ultimus] [मि० अंगरेजी, अल्तिमेटम [ultimatum]], गॉयिक, अफतुम् [altum] [अन्तिम], इफतुम् [iftum] [अन्तिम] ।

1. Thumb Handbuch des Sanskrit. [Formenlehre] § 388 p 267.

2. Thumb : Handbuch des Sanskrit §388 [footnote] p 260.

तम—वे उदाहरण निम्न है,—

दूरतम, प्रियतम, विलोमतम, द्युचिततम, धनितम, [पनिन्-], धर्म-  
भुक्तम [धर्मबुध्-], प्रत्यक्तम [प्रत्यक्च्-], सुमनस्तम, [सुमनस्-] उदविष्टम  
[उदधिष्-], सत्तम [सन्त्-], भगवत्तम [भगवन्त्-], विद्वत्तम [विद्वत्-] ।

तर-, तन-से बने पतिपय संज्ञा दात्र तथा क्रियाविशेषण भी देखे  
जाते हैं:—गजतम, उत्तर, उत्तम [संज्ञा दात्र], अतितरराम्, प्रतरराम्,  
प्रतमाम्, उर्ध्वस्तरराम्, सुतरराम्, सुतमाम्, पचतिनरराम्, पचतितमाम्  
[क्रियाविशेषण] । ये क्रियाविशेषण प्रायः उपसर्गों, अव्ययों तथा क्रिया  
रूपोंसे बने हैं ।

२. [अ] ईयम् तथा इष्ट प्रत्ययोंका सकेत भी संस्कृत दात्ररचनाके  
सम्बन्धमें किया जा चुका है । ईयस् का विवास प्रा० भा० यू०—\*ईयस्,  
\*ईयोस्से माना जाता है । इसके समानान्तर रूप शीक तथा लंनिनमें  
भी हैं । लंनिनमें इसके ईर्षोर, इउस् रूप मिलते हैं, सेनिर्षोर [सैर्न्योर]  
[senior] [अगरेजी सेनियर [senior], मेलिर्षोर [मैर्ष्योर]  
[melior], मैलिउस् [मैल्युस्] [melius] [नपुंसक रूप] । ग्रीकमें  
इसके ईर्षोस्, ईयोस् रूप मिलते हैं, हेब्रीषो [hēdio] हेब्रीषोउस् [hēdi-  
ous] ∟ \*हेबो [य] शो [य्]-अ-एस् [hēdi [y] o [s] aēs]  
[स० स्वर्वायम्], ब्रादीषो [bradio] [स० प्रदीयस्] इसके उदा-  
हरण निम्न है —

अल्पीयस्, धरीयस् [उरु-], क्षोपीयस् [क्षिप्र-] गरीयस् [गुरु-]  
ब्रदीयस् [दृढ-], ब्राघीयस् [दीर्घ-], पटोयस् [पटु-], पापीयस् [पाप-],  
प्रयीयस् [पृथु-], प्रेयस् [प्रिय-], वलीयस् [वलिन्-], महीयस् [महान्-]  
अदीयस् [मृदु-], धवीयस् [युवन्-], श्वेयस् [श्वर-] ।

२. [आ]—इष्ट का ग्रीक रूप-इस्ता [-isto] मिलता है; क्रतिस्तास् [kratistos], ओलिगिस्तास् [oligistos] ।

इसके उदाहरण निम्न हैं :—

अखिष्ट, [अल्प] खरिष्ट [उरु-], ऐपिष्ट [क्षिप्र-] गरिष्ट [गुरु-], ब्रद्धिष्ट [दृढ-], द्राघिष्ट [दीर्घ-], पट्टिष्ट [पटु-], पापिष्ट [पाप-], प्रथिष्ट [पृथु-], प्रेष्ट [प्रिय-], बलिष्ट [बलिन्-], महिष्ट [महान्-], अदिष्ट [मृदु-], षसिष्ट [षसुमन्-], षविष्ट [षुवन्-], श्लेष्ट [स्थिर-] ।

इनके अतिरिक्त कुछ अपवाद रूप भी पाये जाते हैं, जिन्हें धुम्बने 'इरैंग्यूलर' मा 'देफेक्विब' माना है ।

[अंतिक], नेदीयस्, नेदिष्ट ।

[अल्प], कनीयस्, कनिष्ट ।

प्रशस्य, श्रेयस्, श्रेष्ठ, ज्ञायस्, ज्येष्ठ ।

बहु, भूयस्, भूयिष्ट,

युद्ध, यथीयस्, यथिष्ट,

संस्कृतमें कतिपय रूप ऐसे भी देणे जाते हैं, जिसमें एक साथ दो-दो तुलनावोधक प्रत्यय पाये जाते हैं, यथा,

पापीयस्-तर [पापीयस्तर], पाविष्टतर, पापिष्टनम, श्रेष्ठ, श्रेष्ठतर, श्रेष्ठतम ।

### सर्वनाम शब्दोंके रूप

सर्वनाम शब्दोंको हम दो प्रकारकी शीटियोंमें विभक्त कर सकते हैं:—

[१] वैयक्तिक सर्वनाम [अस्मन्, युष्मत्] [२] विशेषणीभूत सर्वनाम, [यत्, तत्, इदं, एतन् आदि] । इनमें वैयक्तिक सर्वनामोंमें लिंग भेद नहीं पाया जाता, जबकि विशेषणीभूत शब्दोंमें तीनों लिंग पाये जाते हैं । सभी सर्वनामोंमें संबोधन विभक्ति नहीं होती ।

संस्कृतमें ग्रहम् तथा त्वम् जो वैयक्तिक सर्वनाम शब्दके प्रथमा विभक्तिके एकवचन रूप हैं, अवैस्तामें अज्ञम् [azam] तथा तुवम् [tuwam] के रूपमें पाये जाते हैं। ग्रीकमें इनके रूप ऐगो [ego] तथा 'सु' [प्रा० रूप तु] [su 7 \*tu] पाये जाते हैं। इस तुलनामें स्पष्ट है कि इनमें प्रयुक्त "अम्" वस्तुतः सर्वनामोका विभक्तिचिह्न है, जो भारत ईरानी चर्गमें पाया जाता है। संस्कृतमें 'त्वम्' के स्थानपर वेबल तु भी पाया जाता है। वैदिक संस्कृतमें यह प्रयोग मिलता है — भ्रातृ गृहि प्र तु द्रव [६ १३.१४]। द्वितीया एकवचनके रूपमें मा, त्वा तथा मा, त्वा जैसे वैकल्पिक रूप पाये जाते हैं। अवैस्तामें भी ये वैकल्पिक रूप पाये जाते हैं —

मम्, मा [mam, mā], एवम्, एवा [Evam, Ewā]। तृतीया विभक्तिके एकवचनमें इनके रूप मया एव स्वयम् [तुवया] होते हैं। चतुर्थीमें इनमें म्य [अवे० व्य] विभक्तिचिह्नका प्रयोग होता है जो संस्कृत तुम्य में पाया जाता है, 'अस्मत्' शब्दमें यह 'इ' हो जाता है। ऋग्वेदमें कहीं-कहीं तुम्य, मद्य के स्थानपर तुह्य, मद्य रूप भी पाये जाते हैं। अवैस्तामें दोनोंमें 'व्य' पाया जाता है, यथा तद्व्य [taibya], मद्व्य [maibya]। किन्तु लैटिनमें मत् के साथ 'ह' तथा एवत् के साथ व विभक्तिचिह्न मिलना है, मिहि [mihī] [स० मद्य], तिबि [tibi] [स० तुम्य]। इससे अनुमान होता है कि प्रा० भा० यू० में ही उदात्त पुण्य एकवचन शब्दकी चतुर्थी विभक्ति 'ह' रही होगी, तथा मध्यम पुरुषकी 'भ'। पञ्चमीमें इनमें

अत् पाया जाता है। प्रा० ना० यू० में इसका रूप \*ऐत् [ei] था, जो संस्कृतमें \*आत् होना चाहिए था। अतः संस्कृतके मत्, एवत् रूपाको \*मात्, \*खात् जैसे कल्पित रूपोंसे विकसित समझना चाहिए। तब मम जैसे षष्ठी एकवचनके रूप भारत ईरानी चर्गकी ही विशेषता है। ग्रीकमें इनके रूपोंमें अम् विभक्तिचिह्नका प्रयोग होता है, यही चिह्न लैटिनमें अस् के रूपमें प्रयुक्त होता है, यथा रोस रोमास् [ros] ऐमास् [emos],

लैटिन तूस [tus] संस्कृतके चतुर्थी पण्ठीके मे, ते जैमे वैकल्पिक रूप अन्य भा० यू० भाषाओमें भी पाये जाते हैं। ये वैकल्पिक रूप ग्रीक तथा लिथुआनियनमें भी उपलब्ध होते हैं—ग्रीक मोइ [moi], तोइ [toi] तथा लिथुआनियन मि [mi], ति [ti]। संस्कृतमें सप्तमी ए० व० में 'मयि' रूप पाया जाता है, किन्तु युष्मत् [त्वत्] शब्दका 'त्वयि' वालारूप प्राचीन न होकर बादमें मयि के सादृश्यपर विकसित हुआ है। इसका प्रयोग सर्वप्रथम अथर्ववेद में मिलता है। ऋग्वेदमें इसका प्राचीन रूप स्वेमिलता है।

संज्ञाओंके रूपोंकी भाँति यहाँ भी द्विवचनके रूप सीमित ही पाये जाते हैं। संस्कृतमें प्रथमा-द्वितीया द्विवचनरूप भ्रावाम् तथा युवाम् पाये जाते हैं। वस्तुतः ये रूप केवल द्वितीया विभक्तिके ही थे। प्रथमा विभक्तिमें इनके रूप भ्रावं तथा युवं पाये जाते थे, जो प्राचीन वैदिक मन्त्रोंमें उपलब्ध होते हैं, किन्तु बादके वैदिक साहित्यमें भ्रावां तथा युवां दोनों ही विभक्तियोंमें प्रयुक्त होने लगे हैं। ठीक इसी प्रकार तृतीया, चतुर्थी, पञ्चमीके प्राचीन रूप भ्रावयां तथा युवभ्यां हैं, किन्तु ये भी सादृश्यके आधारपर बादमें भ्रावाम्भ्यां तथा युवाम्भ्यां हो गये हैं। इन शब्दोंके द्विवचन रूपोंमें मूल रूप भ्राव-तथा युव-ही थे, इसकी पुष्टि पण्ठी सप्तमीके द्विवचन रूप भ्रावयोः, युवयोः से भी हो जाती है। इन विभक्तियोंके वैकल्पिकरूप नो तथा याम् पाये जाते हैं। ये रूप अवेस्तामें भी ना [nā] तथा वा [wā] के रूपमें मिलते हैं। संस्कृतके धां वा अनुनासिक सत्त्व संस्कृत की निजी विशेषता है। संस्कृत नो के समानान्तर रूपमें ग्रीकमें नो [no] पाया जाता है, जो वहाँ प्रथमा [nominative] तथा द्वितीया [accusative] के द्विवचनमें प्रयुक्त होता है।

इन शब्दोंके बहुवचन रूपोंमें प्रथमा विभक्तिमें याम् विभक्तिबिल्ल पाया जाता है, यथा ययाम्, यूयम्। अवेस्तामें मध्यम पुरुष सर्वनाम शब्दका बहुवचनरूप "यूज़ाम्" [yuzam] पाया जाता है। अन्य सभी विभक्ति

रूपोंमें इनमें स्म विभक्तिचिह्नका प्रयोग पाया जाता है,—अस्मान्, युष्मान्; अस्मत्, युष्मत् आदि । यह स्म अवैस्ता तथा प्रीचमें भी क्रमशः ह्य तथा स्म के रूपमें पाया जाता है, अवे० अह्य [ahya], ग्रीक अन्मे [anme] । यह विभक्तिचिह्न अथ सर्वनामोंके एकवचन रूपोंमें भी पाया जाता है, तस्मै, तस्मिन् । विन्तु पत्नी बहुवचनके रूपोंमें इन उत्तम पुरुष तथा मध्यमपुरुषके रूपोंमें स्म के साथ प्राप्त् भी जोड़ दिया जाता है, अस्माकम्, युष्माकम् । अवैस्ताके अह्याकम् [ ahmākam ], युष्माकम् [ yu s'mākam ] शब्दोंके आधारपर यह कहा जा सकता है कि यह स्म + प्राक् विभक्तिचिह्न भारत-ईरानी वर्गकी ही विशेषता रही होगी ।

यहाँ इतना कह दिया जाय कि भा० पू० भाषाओंमें अन्य पुरुष [प्रथम पुरुष]के शब्दोंको व्यक्तिवाचक या पुरुषवाचक सर्वनामों [personal-pronouns]की तरह न मानकर पदरचनाकी दृष्टिसे निर्देशात्मक सर्वनामों [ demonstrative pronouns ] की तरह माना जाता है । संस्कृतमें भी इसीलिए तत् शब्दके रूपमें तीनों लिंग पाये जाते हैं । तत् शब्दके इन रूपापर हम आगे सचेत करेंगे ।

संस्कृतमें स्व का आत्मने प्रयोग मिलता है । इसका प्रयोग सर्वनामके रूपमें मिलता है । ऐसा प्रयोग ग्रीक, लैतिन तथा अवैस्तामें भी देखा जाता है, ग्रीक होस् [hos], हेकोस् [heos], लैतिन सुस [suus] अवैस्ता ह्व [hwa] । इसका प्रयोग प्रायः 'आत्मने' [reflexive] के अर्थमें पाया जाता है । संस्कृतमें इसीके स्वय, स्वत आदि रूप मिलते हैं । आधुनिक यूरोपीय भाषाओंमें इसके समानान्तर लैतिन सुस के विकृति रूप से [se] का फ्रेंच भाषामें बहुत प्रयोग मिलता है । फ्रेंचकी कई क्रियाएँ ऐसी हैं, जिनमें साथ इस से का प्रयोग अवश्य होता है । ये क्रियाएँ 'रिफ्लेक्सिव' [reflexive verbs] कहलाती हैं । यह प्रयोग प्रायः संस्कृतके आत्मनेपदी-सा है । यथा, "मैं से भी ता तात् [on se

mit a table ] [ प्रत्येक [ व्यक्ति ] स्वयं टेबुलपर बैठ गया, अर्थात् सब टेबुलपर बैठ गये । ] में यह से संस्कृतके स्व का समानान्तर ही है ।

संस्कृतके मध्यम पुरुष 'स्व' के लिए आदरणीय अर्थमें भवान् का प्रयोग पाया जाता है, जो प्रथम पुरुष क्रियाके साथ प्रयुक्त होता है, भवान् गच्छति । यह भवान् चाकरनागेलव मतानुसार संस्कृत शब्द भगवान् का ही वैकल्पिक सक्षिप्त रूप है । इस वैकल्पिक रूपके लिए उसने फ्रेंच भाषासे एक ऐसा ही उदाहरण दिया है । ठीक इसी आदरणीय अर्थमें फ्रेंच भाषामें *मॉन्सेन्यो* [ *monseigneur* ] तथा 'मॉंश्यो' [ *monsieur* ] दोनों प्रकारके रूप पाये जाते हैं, जहाँ द्वितीय रूप प्रथमका ही सक्षिप्त वैकल्पिक रूप है । इसी प्रकार संस्कृतका भवान्, भगवान् का ही सक्षिप्त वैकल्पिक रूप है ।

निर्देशात्मक तथा विशेषणभूत सर्वनामो [ *demonstrative pronouns and articles* ] में स, सा, सत् वा सम्बन्ध शीकवे हो [ *ho* ] हे [ *he* ] [ प्रा० रु० हा- ] *hā* ] तथा तो [ *to* ] जोडा जा सकता है, जो क्रमज पुल्लिङ्ग, स्त्रीलिङ्ग तथा नपुंसक लिङ्ग शब्दोंके मूल रूपोंके साथ शीकवे ठीक वैसे ही प्रयुक्त होते हैं, जैसे अंगरेजीमें ए, एन, दि [ *a, an, the* ] । ग्रीकमें ये 'आर्टिकल' कहलाते हैं । इसका विकास प्राचीन भारत-यूरोपीय सो-सा [ *so, sa* ] तो-ता [ *to, ta* ] से माना गया है । इनके उत्तिरिक्त कुछ प्रदन्तवाचक सर्वनाम भी संस्कृतमें प्रयुक्त होते हैं । संस्कृतके क, का, कि, चित् वा सबध शीक वे [ *po* ] तिस्, नि [ *titid* ] [ *ti, ti* ] [ *tid* ], लीन कयोद् [ *quo-dē* ], कियद् [ *quid-dē* ], किव [ *qui* ], कयोस्त [ *quos* ] भाइरिद किष्ठा [ *cia* ], वेत्स प्वि [ *pwy* ], तथा अप्रेजी हू [ *who* ] से जोडा जा सकता है । इन सबका विकास प्रा० भा० यू० \*कयो

[\*k<sup>h</sup>os] से हुआ है। संबंधवाचक सर्वनाम यः या यत् का सर्वत्र प्रा० भा० यू० यो [yo], [ya] से जोड़ा जाता है। इन शब्दोंके विभक्ति चिह्न प्रायः सज्ञाओंके ही विभक्ति चिह्नोंसे विकसित हुए हैं।

## संख्यावाचक शब्द

प्रा० भा० यू० में गणनाका ढंग 'दस' से होता था। उसमें एकसे लेकर चार तककी संख्याके शब्दोंके रूप सभी लिंगोंमें सविभक्तिक चलते थे, जब कि पाँच से दस तकके शब्द अपरिवर्तित रूप वाले अव्यय थे। १० से १९ तकके शब्द इसके साथ एक, दो, तीन, चार... इत्यादिके वाचक शब्द जोड़कर बनाये जाते थे। प्रा० भा० यू० में विकसित भाषाओंमें १० से ऊपरके संख्यावाचक शब्द कई ढंगसे बनाये जाते हैं। कहीं तो ये समस्त शब्द—में होते हैं, यथा, एकादश, द्वादश, त्रयोदश या अं० थर्टीन [thirteen], या वेल्श 'विमथेग' [pymtheg]। कहीं-कहीं बीचमें समुच्चय बोधक अव्ययका प्रयोग कर इस तरहकी संख्याका बोध कराया जाता था, यथा, संख्या द्वाविंशत् [ द्वे विंशति च पुरुषाः ] ग्रीक ऐइकोसि-दुओ [ eikosiduo ], अथवा दुओ कइ ऐइकोसि [ duo kai eikosi ]। यद्यपि प्रा० भा० यू० गणना 'दस' से ही होती थी, किन्तु ऐसे भी चिह्न दिखाई पड़ते हैं, जहाँ 'नी' वाली गणना देखी जाती है। केल्टिक तथा अन्य दूसरी यूरोपीय भाषाओंमें ये सकेत मिलते हैं। वेल्शमें 'अठारह' के लिए 'दुनव' [ deunaw ] शब्दका प्रयोग होता है, जिसका अर्थ होगा, 'दो नी'। ग्रीकमें १९, २९, ३९ आदि के लिए 'एक कम बीस' अर्थवाले प्रयोग मिलते हैं, यथा हेनोस् देओन्तेस् ऐइकोसिन् [ hcnos deontes eikosin ] [ स० एक-ऊन-विंशत्, एकोनविंशत् ]। कुछ लोग यहाँ 'नी' वाली गणनाका सकेत देहनेका प्रयत्न करें, पर यह ठीक न होगा, यहाँ पर वस्तुतः 'दस' वाली गणना ही है। वैसे संस्कृतमें 'नी' वाली गणना के सकेत कई स्थानों पर मिलते अवश्य हैं, यथा—'नचद्वयद्वीपपृथग्ज-



यथियाम्' [ नपथ, प्रथमसर्ग ], जहाँ 'अठारह' के लिए 'नवद्वय' का प्रयोग हुआ है, जो केलस 'चोनव' के समानान्तर है ।

संस्कृतके एकसे दस तकके सख्यावाचक शब्द तथा सोडा सख्यावाचक शब्द प्रा० भा० मू० शब्दोसे विकसित हुए हैं । बाकी सख्यावाचक शब्द मिलाकर बनाये हुए शब्द हैं । हम इन प्रमुख शब्दाकी तालिका देते हैं —

१ एक \*एकानास् उ० उनी [ uno ] ग्रीक ओइनास् [ oios ]

२ द्वि \*द्वयोऽ " दुय [ due ] " दुओ [ duo ]

३ त्रि \*त्रयेस् " त्रे [ tre ] " त्रेइस् [ treis ]

४ चतुर् \*चतुर्वारिस् " चत्वार [ quatre ] " तैतारिस् [ tetores ]

५ पञ्च \*पञ्चष्वे " शिषष्वे [ quinque ], पन्ते [ pente ]

६ षट् \*षट्षस् " सै [ sei ] " जेस् [ zes— ]

७ सप्त \*सप्तस् " सेप्त [ sept ] " हेप्त [ hepta ]

८ अष्ट \*अष्टोत्ताऽ " अष्टोत्ता [ octo ] " ओक्तो [ octo ]

९ नव \*नवन् " नोवेण [ novem ] " ऐन् नेज [ en-nea ]

१० दश \*दशन् " देकेम [ decem ], देक [ dek ]

{०० शतम् \*शतम् " से-तुम [ centum ] " हेक्तान् [ hekaton ]

१०० का मर्यादावाचक शब्द 'शतम्' प्रा० भा० मू० 'स्युमृतोम्' [Imtom] से विकसित है, जिसके समानान्तर अन्य भाषागत रूपोंके सबसेतरे लिए दे० पृष्ठ ५१ । १००० का मर्यादावाचक शब्द 'सहस्र' है, जिसका अर्थेस्तामें 'हजम' [nazangra] तथा पारसीमें 'हजार' [hazar] रूप मिलता है । ग्रीकमें इसका 'खीलिओइ' [khilioi] रूप है । इनसे स्पष्ट है कि इसकी आरम्भिक ध्वनि 'स' प्रा० भा० मू० 'स्म' [sm] से विकसित है, जो 'ए' का वाचक है । इसी सम्बन्धमें यह भी कह दिया जाय कि प्रा० भा० मू० में 'एक' के प्राचीन रूपके अतिरिक्त इसके बोधनके लिए अन्य शब्द भी थे जिसका मूल रूप \*'सेम्' [sem] था । इसका विकास ग्रीकके हेइस् [heis] तथा मिआ [mia] में देखा जा सकता है । संस्कृतमें भी इसके बिल्ल 'सकृत्' 'एक बार' [अवे० हकअरुअत hakarat] में देखे जा सकते हैं । 'सहस्र' का सवध भी इसी \*'सेम्-स्म' से है ।

क्रमात्मक मर्यादावाचक विशेषण [ordinals] के रूप संस्कृतमें ये हैं —

१. स० प्रथम, अवे० फ्रतम [fratama].
- २ ,, द्वितीय, अवे० दइवित्य, विन्ध, पु० फार० दुवित्य
- ३ ,, तृतीय, अवे० थ्रित्य [thritya], ले० तर्तुस [tertius]
- ४ [क] चतुर्थ, ग्रीक तैतर्तोस् [tetartos], लिथु० केत्विर्तस् [ketvirtas]

[ख] तुरीय, तुयं—, अवे० तूइय [tuiryā]

५. [ठ] पञ्च [ऋग्वेद १०, ६१, १], अवे० पुट्ट [puṽḍa] ग्रीक, पेंम्तोस् [pemptos]

[ख] पञ्चम [काठकमहिता] पुरानी वेल्श पिम्फेत [p mphet]

[ग] पञ्चम, पहलवी [मध्य फारसी] पञ्जुम [panjum]

६ पष्ठ, ग्रीक हेक्तास् [hektos], लै० सेक्सतुस् [sextus]

७. [क] सप्तथ, [श्वेद] अवे० हप्तथ [haptatha]

[ख] सप्तम, फारसी हप्तुम, ग्रीक हेब्दोमोस् [habdomos]  
लै० सेप्तिमुस्

८ अष्टम, अवेस्ता अश्ताम [astama]

९. नवम, अवे० ननाम [naama], पु० फारसी नवम,

१० दशम, अवे० दशम [dasama], लै० देकमुस् [decimus]

इससे स्पष्ट है कि क्रमात्मक मख्यावाचक शब्द बनानेमें मूलत प्रा० भा० यू० में 'अ' प्रत्ययका प्रयोग होता है, जैसे सप्तम् अ [सप्तम], दशम् अ [दशम] में । इसके बाद 'म' ही प्रत्यय बन गया तथा उनमें भी जोड़ जाने लगा, जिनमें मूलत 'म्' अक्षर नहीं था, यथा अष्ट म, नव मम । इसके अतिरिक्त संस्कृतमें 'थ' प्रत्यय भी है, इसका विकास प्रो० बरोने 'ता' + अ [थिमेटिक स्वर] से माना है, जिनमें भारतेरानी वर्गमें प्राणताका प्रयोग होने लगा है, वे 'चतुर्थे' की उत्पत्ति चतुर्ता + थ से मानते हैं ।<sup>१</sup>



## संस्कृत पद-रचना [क्रिया तथा क्रियाविशेषण]

संस्कृतकी क्रियाएँ अन्य भारोपीय भाषाओंकी भाँति वाच्य, लकार, काल, पुरुष तथा वचनमें युक्त हैं। इनमें तीन प्रकारकी वाच्यता पाई जाती है, कर्तृवाच्य, फर्मवाच्य तथा स्ववाच्य [आत्मनेपदी], जिन्हें भाषा-वैज्ञानिक दृष्टिसे अलग-अलग कोटिमें मानना होगा। संस्कृतमें दस लकार, तीन काल, तीन पुरुष तथा तीन वचन पाये जाते हैं। प्राचीन भा० यू० के विषयमें हम देख चुके हैं कि वहाँ क्रियाके विभिन्न लकार वस्तुतः क्रियाके प्रकार विशेषका बोध कराते थे। साथ ही ये क्रिया रूपन केवल क्रियाका ही बोध कराते थे, अपितु उसी पदके द्वारा कर्ताका भी बोध कराते थे, जिससे कर्ताके पुनः प्रयोगकी आवश्यकता ही न थी, यदि उसकी आवश्यकता होती थी तो प्रथम पुरुषमें। उदाहरणके लिए भवसि तथा भवामि में कर्ता स्वयं अनुस्यू है, अतः त्व तथा अहम् के बिना भी उसकी भावप्रतीति हो जाती है। यह तथ्य एक मनोवैज्ञानिक सत्यकी ओर संकेत करता है कि आरम्भकी सामाजिक अवस्थामें प्रा० भा० यू० का व्यवहार करनेवाले कर्ता तथा क्रियाके [व्याकरणात्मक] भेदसे स्पष्टरूपण परिचित न थे। समयके विकासके साथ मानसिक विकास होनेपर इनका भेद ज्ञात हुआ।

इसके पूर्व कि क्रियारूपाना अध्ययन करें, आगम, धातु तथा विकरणको समझ लिया जाय। धातु किसी क्रियारूपका मेरुदण्ड है। इसी मूल रूपमें तिङ् प्रत्यय जोड़कर विभिन्न क्रिया रूपोंकी सृष्टि होती है। भूतकाल [ लृट् तथा लुट् ] दोना ही ] में क्रियाका मूल रूप [ धातु ] के पूर्व 'अ' का आगमन होता है जो संस्कृतमें भूतकालका द्योतक माना जाता है। यह अ प्रा० भा० यू० <sup>२</sup> से विकसित हुआ है, तथा यह लृट् [imperfect] और लुट् [aorist] दोनोंमें प्रयुक्त होता है, यथा

संस्कृत अमरम्, अमरः, अभाष्यम्, ग्रीक ऐफेरॉन् [ epheron ], ऐफेरस् [ e-phere-s ], ऐफ्रॉन [ e-phro-n ] । विकरण संस्कृतमें उन अन्त-प्रत्ययोके लिए प्रयुक्त पारिभाषिक शब्द है, जो कई गणोंमें, कई लकारोंमें, तथा कई अन्य प्रकारके रूपोंमें धातु तथा तिङ् प्रत्ययके बीचमें जोड़ा जाता है । उदाहरणके लिए भू धातुको लीजिए । इसके साथ वर्तमाने लट्का प्रथम पुरुष एक वचनका तिङ् प्रत्यय 'ति' जोड़नेपर 'भू + ति' रूप बनेगा । इस गणके [ भ्वादिगणके ] धातुओंमें बीचमें 'अ' विकरणका प्रयोग पाया जाता है; इससे यह 'भू + अ + ति = भवति' रूप हो गया है, जहाँ धातुकी अन्तिम स्वर ध्वनि 'ऊ' में गुण होकर अच् रूप हो गया है । ये विकरण आरम्भसे ही प्रा० भा० यू० की विशेषता रहे हैं, यथा ये ग्रीक आदि अन्य भारोपीय भाषाओंमें भी पाये जाते हैं । इन्हींके आधारपर ग्रीकके क्रिया रूपोंको सविकरण [ thematic ], अविकरण [ athematic ] इन दो श्रेणियोंमें विभक्त किया जाता है । इन शब्दोंकी रचना 'थैमोस' [ themos ] से हुई है, जिसका अर्थ वही है, जो संस्कृत वैयाकरणोंके विकरणका । संस्कृतमें ये विकरण सख्यामें २० के लगभग पाये जाते हैं । इन्हीं विकरणोंके आधारपर संस्कृत व्याकरणमें धातुओंको भ्वादि दस गणोंमें विभक्त किया गया है । संस्कृतके दस लकारोंका सार्वधातुक तथा अर्ध-धातुक श्रेणी विभाजन पाया जाता है । संस्कृत धातुओंमें कुछ ऐसे भी धातु हैं, जिनके साथ किसी भी विकरणका प्रयोग नहीं पाया जाता । संस्कृतके अदादिगणी धातु इस अविकरणात्मक कोटिमें आयेंगे । उदाहरणके लिए इन गणके अस् धातुको लीजिए, जिनके वर्तमानके प्र० पु० एकवचनमें अस् + ति = अस्ति रूप पाया जाता है, इसी विकरण प्रक्रियाके आधारपर संस्कृतमें एक और विभाजन पाया जाता है, जो अनिट् तथा सेट्के नामसे प्रसिद्ध है । जिन धातुओंके कुछ रूपोंमें 'इ' [ इट् ] विकरणका प्रयोग पाया जाता है, वे धातु 'भेट्' तथा अन्य 'अनिट्' कहलाते हैं । उदाहरणके लिए 'भू' तथा 'वा' इन दो धातुओंको ले लीजिए । 'भू' से भविता,

भविष्यत्, भविष्यति आदि सेट् रूप बनते हैं, किंतु 'दा' से दाता, दातुं, दाक्ष्यति रूप बनते हैं। अतः प्रथम सेट् है, दूसरा अन्ट्। इस इ विकरणका प्रा० भा० यू० रूप क्या रहा होगा, इस विषयपर आगे प्रकाश डाला जायगा।

पहले इन क्रिया रूपोंके मेरुदण्ड, धातुपर ध्यान दे लिया जाय। संस्कृतमें सभी धातु एकाक्षर [ monosyllabic ] पाये जाते हैं, अर्थात् इन धातुओंमें एका ही स्वर पाया जाता है। यह स्वर व्यञ्जनहीन हो सकता है, अथवा इसके पूर्व तथा परमें एक या दो व्यञ्जन ध्वनियाँ भी पाई जा सकती हैं। इस प्रकार स्वरध्वनिके लिए V तथा व्यञ्जनध्वनिके लिए C चिह्नका प्रयोग करते हुए, इन संस्कृतके मूल धातु रूपोंको हम इन कोटियोंमें विभक्त कर सकते हैं।

[१] V [ यथा 'द' [ इस्, गतौ] ] [२] VC [ आस्, आप् ],  
[३] VCC [ उक्ष् ] [४] CV [ कृ ], [५] CCV [ की ] [६] CCVC  
[ क्षर् ], [७] CCVCC [ स्पन्द ], [८] CVCC [ मन्द ]।

भाषाशास्त्रीय दृष्टिसे संस्कृत धातुओंको निम्न वर्गोंमें बाँटा जा सकता है।

—अर्-र् अन्तवाले धातु —√ घ् [-घर् ], √ स्वर

—अन् अन्तवाले धातु —√ क्षन्, √ स्वन्, √ खन्,

—अस्-म् अन्तवाले धातु —√ प्रस्, √ प्रस्, √ ध्वस्, √ ध्रुष्,

[√ श्रु वैकल्पिक रूप ] √ प्रक्ष्, √ नक्ष्, √ उक्ष्, √ निक्ष्, √ वक्ष्,  
√ हास्,

—अम् अन्तवाले धातु —√ द्रम्, √ गम्, √ क्षम्, √ भ्रम्,

—इ अन्तवाले धातु —√ क्षि, √ श्रि, √ सि [√ सी भी है],

√ सि,

—उ अन्तवाले धातु —√ श्रु, √ क्षु, [वहना], √ द्रु [दोउना]

—आ अन्तवाले धातु, जो प्रा० भा० यू० में 'अ' + कण्ठनालिक स्पर्श [ laryngal ] [a H/H ] से सम्बद्ध है। √ गा, √ या, √ प्सा,

[निगल जाना], √ द्रा [दौडना], √ ज्या [√ जि] [जीतना], √ प्रा [रक्षा करना]

—त् अन्तवाले धातु √ कृत् [काटना], √ चित् [सोचना], √ म्रित् [टुकड़े होना], √ शिवत् [चमकना], √ द्युत् [चमकना]

—य् अन्तवाले धातु √ प्रथ् [बढना], √ ध्यथ् [कांपना], √ स्यथ् [धुनना], √ श्रथ् [ढीला पडना], √ ग्रथ् [गूंथना] ।

—द् अन्तवाले धातु √ क्षद् [बांटना], √ छिद् [काटना], √ हद् [रोना], √ मृद् [ममलना], √ पीड् [दवाना: ∠ \*पिद्], √ स्पन्द् [बहना], √ षन्द- कृन्द [रोना, चिल्लाना] ।

—घ् अन्तवाले धातु √ मृघ् [ध्यान न देना], √ एघ् [बढना], √ स्पृघ् [स्पर्धा करना], √ क्षुघ् [भूखा होना] ।

—प् अन्तवाले धातु √ क्षीप् [चमकना], √ म्लुप् [मूर्यास्त होना], √ रिप्-√ लिप् [लीपना], √ रुप्-√ लुप् [तोडना, समाप्त करना], √ विप् [कांपना], √ स्वप् [सोना] ।

भ्—अन्तवाले धातु √ शुभ् [चमकना], √ स्तुभ् [स्तुति करना]

—च् अन्तवाले धातु √ म्लुच् [अस्त होना, दे० म्लुप्], √ प्राच् [माँगना], √ सिच् [सीचना] ।

—ज् अन्तवाले धातु √ तज् [तर्जना देना, डराना], √ युज् [जोडना], √ रुज् [तोडना], √ विज् [कांपना] ।

—ह् अन्तवाले धातु √ स्पृह् [इच्छा करना], √ द्रुह् [निरसाण करना, द्रोह करना] ।

डा० एलनने, प्राचीन भारत यूरोपीय धातुओंके मूल रूपोंके विषयमें, जहाँ तक व्यञ्जन ध्वनियोंका प्रश्न है, एव लेखमें प्रकाश डाला है । उनके मतानुसार इन धातुओंमें प्रायः दो व्यञ्जन [C<sub>1</sub> C<sub>2</sub>] पाये जाते थे, जिनमें तीसरे व्यञ्जन [C<sub>3</sub>] वा भौ वभी-वभौ समावेश हो जाता है । इसी धातु-

सघटनाके अन्तर्गत सदा एक ही 'स्वर' [V] होता है, जिसमें 'सव्यात्मक' [prosodic] तथा गुणात्मक [qualitative] परिवर्तन, विभिन्न रूपोंमें पाये जाते हैं। अतः व्यञ्जनयुक्त प्रा० भा० यू० धातुओंको डा० एलनेने मौलिक दृष्टिसे दो तरहका माना है.— $C_1 VC_2C_3$  तथा  $C_1 C_2 VC_3$  जहाँतक इन प्रा० भा० यू० धातुओंमें प्राप्त 'स्' [s] तथा 'न्' [n] ध्वनियोंका प्रश्न है वे इन्हें "ध्वनित्व" [phonetic element] न मानकर "सन्ध्यात्मक तत्त्व" [prosodic element] मानते हैं। इन धातुओंमें जहाँ भी वही कण्ठनालिक "लेरिजियल" ध्वनि [ʃ]का प्रयोग पाया जाता है, वहाँ उसे ध्वनितत्व ही मानना होगा। इस प्रकार वे प्रा० भा० यू० धातुओंके वास्तविक व्यञ्जन तत्त्व  $C_1 C_2$  ही मानते हैं, जहाँ  $C_3$  के होनेकी भी संभावना है जो कभी स्पष्ट रूपमें और कभी शून्य रूपमें पाया जाता है। इस प्रकार प्रा० भा० यू० धातुओंके मूल रूपोंकी वे सेमेटिक धातुओंके मूल रूपोंकी भाँति मानते जान पड़ते हैं, जहाँ केवल तीन व्यञ्जन ही प्रमुख तत्त्व हैं, तथा उन्हींमें 'स्वर' तत्त्व जोड़कर विभिन्न पदोंकी सृष्टि होती है, उदाहरणके लिए प्रमुख सेमेटिक भाषा अरबीसे 'कत्ब' [लिखा], क्तल् [मारना] इन दो धातुओंको लीजिए, इन्हींसे किताब, क्तुद, मक्तब, कातिब, यक्तुबु [मैंने लिखा], तथा कत्ल, क्तलिल, यक्तुबु [मैंने मारा] आदि रूप बनते हैं।

प्रा० भा० यू० धातुओंके मूल रूपोंका विचार कर लेनेके बाद अब हम उन प्रमुख विशेषताओंकी ओर आयेगे, जो संस्कृतके क्रियारूपोंमें पाई जाती हैं। संस्कृतके क्रियारूपोंमें इन प्रमुख विशेषताओंमेंसे एक द्वित्वकी विशेषता है, जहाँ धातुका द्वित्व रूप पाया जाता है। यह द्वित्व वैसे तो परोक्षभूत, सन्नन्त तथा यद्गुणन्तमें प्रायः सभी धातुओंमें पाया जाता है, किन्तु कुछ धातुओंके लट् तथा लुट् आदिमें भी यह धातुका द्वित्व पाया

१. Dr. Allen : Indo-European primary affix B[h] p. 3 Transactions of philological society of G. B. 1950.



जाना है। उदाहरणके लिए मसृजने प्रभात् [√भा] तथा मस्यात् [√स्या] को ले लीजिए, जो दोनों लुङ्के रूप हैं। यहाँ दोनों द्वित्वविहीन रूप हैं। किन्तु वर्तमाने लृप्ते स्या को तिष्ठ आदेश होकर तिष्ठति रूप बनना है, जिसका वात्पनिव पूर्व रूप \*स्तिष्ठति माना जा सकता है, जहाँ स्पष्ट ही धातुका द्वित्व पाया जाता है। गा, दा, धा, पा [पिचति], स्या आदि षे धातु हैं, जिनके षई लकाराने रूपमें द्वित्व पाया जाता है। टीका यही बात धीरे-धीरे पाई जानी है<sup>१</sup>। उदाहरणके लिए मसृज दा तथा स्या धातुओंके समानान्तर ग्रीक धातुओंके इन रूपोंको लीजिए—दिदोमि [didomi] [म० ददामि], हिस्तेमि [hustem] [म० निष्ठामि], जहाँ धातुका द्वित्व रूप स्पष्ट है। यह द्वित्व दोनों ही भाषाओंके परोक्षभूते लिट् [perfect] में नियत रूपमें पाया जाता है, यथा,

स०	जजान	ग्रीक	गेगेान	[gegōn]
	दिदेंस	"	देदेइल	[dedeila]
	रिरेच	"	लेलोइप	[leloipa]
	बुभोज	"	पेफेउग	[pepheuga]

मसृजने सप्रन् तथा यद्गुङ्गत् रूपोंमें भी धातुका द्वित्व पाया जाता है, जो पिपिठियति, बुभुक्षते, जिगमिषति, धिचिष्यति, धेषिष्यते [√धिष् से यद्गुङ्गत्], नेषीषते, ममृष्यते, क्षीष्यते आदि रूपोंमें स्पष्ट है। इन सम्बन्धमें मसृज धातुके द्वित्वके कुछ साधारण नियमोंका उल्लेख कर देना आवश्यक होगा।

१. ध्यान देनेकी बात है कि रसायन 'वा' धातुमें द्वित्व नहीं होता, वही लृट् के रूप 'पाति' आदि बनते हैं, पानायन 'वा' धातुमें द्वित्व होता है।

२. King and Cockson. Comparative Grammar of Greek and Latin. p. 136

[१] धातुके केवल प्रथम अक्षरका ही द्वित्व होता है, √ बुष्-बुबोध, √ पठ्-पपाठ ।

[२] धातुके प्रथम ध्वनिके महाप्राण होनेपर द्वित्व रूपमें प्रथम ध्वनिकी प्राणता [aspiration] लुप्त हो जाती है, अर्थात् वह अल्पप्राण हो जाती है, यथा, √ भी-बिभीते √ घा -दघाति ।

[३] धातुके प्रथम ध्वनिके कण्ठ्य [velar] होनेपर द्वित्व रूपमें प्रथम ध्वनि तालव्य पाई जाती है, यथा, √ गष्-जगाम, √ हन् [ह्रन्]-जघान, √ खन्-खखान, √ कृ-चकार । इस ध्वनि परिवर्तनका कारण यह है कि प्रा० भा० यू० में इन द्वित्व रूपोंमें प्रथम अक्षरमें ऋ [अप्र-म्बर] पाया था, जो ग्रीकमें अभी भी पाया जाता है । इस स्वरके परवर्ती होनेपर कण्ठ्य तथा कण्ठघोष्य ध्वनियाँ संस्कृतमें आकर तालव्य रूपमें विकसित हुई हैं, इसे हम चतुर्थ परिच्छेदमें देख चुके हैं । उदाहृत हन् धातुकी ह ध्वनि भी अस्तुत भाषावैज्ञानिक दृष्टिमें घ है ।

[४] यदि धातुके आरम्भमें दो व्यञ्जन ध्वनियाँ पाई जाती हैं, तो प्रथम ध्वनिका ही द्वित्व होता है, यथा √ क्रम-चक्राम ।

[५] यदि धातुके आरम्भकी दो व्यञ्जनध्वनियोंमें प्रथम ध्वनि स है, तथा द्वितीय ध्वनि स्पर्श [अनुनासिक भिन्न स्पर्श ध्वनि] है, तो द्वित्व उस स्पर्शध्वनिका ही होगा, यथा √ स्या-तस्यौ, √ स्वन्द-चस्कन्द । किंतु यदि द्वितीय ध्वनि अनुनासिक [न, म] या अन्त स्य है, तो स का ही द्वित्व होगा, यथा √ स्वञ्-सस्वजे, √ स्मि-स्मिस्मिये ।

[६] धातुका मूल स्वर द्वित्व होनेपर द्वित्वरूपमें [प्रथमाक्षरमें] ह्रस्व हो जाता है, जैसे √ दा-ददाति, ददौ, √ राष्-रराष ।

इस संबंधमें यह भी कह दिया जाय कि संस्कृतमें कुछ ऐसे भी धातु हैं, जिनमें नियत रूपसे द्वित्व पाया जाना है, संस्कृतके वैयकरणोंने इन्हें तीसरे गण [अतोत्यादिगण] में स्थान दिया है । जैसे हम आगे देखेंगे कि कुछ

नियत द्वित्ववाले धातु अन्य गणोंमें भी पाये जाते हैं, जैसे  $\sqrt{\text{स्था}}$  [तिष्ठति], म्वादिगणी है, जुहोत्यादिगणी नहीं ।

डा० अलबेत्त धुम्बने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'हेन्दुबुख देस सस्कृत' में प्रा० भा० यू० धातुआको १४ वर्गोंको बाँटा है, जिन्हें हम सस्कृतके दस गणामें समाहृत रूपमें देखते हैं । ये चौदह वर्ग निम्न हैं —

[१] प्रथम वर्गः—इस वर्ग में शुद्ध धातुके साथ तिङ्प्रत्यय जोड़ा जाता है । यह सस्कृतका अदादि गण है । अस्ति, स्म, ग्रीक, ऐस्ति, संतिन ऐस्त, सु सुत, प्रा० भा० यू० \*ऐस्ति, \*स्मस्, स० स्तोमि, स्तुम

[२] द्वितीय वर्गः—इस वर्गमें शुद्ध धातुके साथ 'अ' [विकरण] [प्रा० भा० यू० \*ऐ] का प्रयोग पाया जाता है, तथा धातुका अपश्रुति-जनित रूप पाया जाता है । ग्रीकमें यह कभी ऐ तथा कभी आ मिलता है । भरामि, भरति, भरति, ग्रीक फेरो, फेरोउति, लं० फेर, फेरत, प्रा० भा० यू० \*भेरो, \*भेरति, भेरति, स० बोधति [ $\sqrt{\text{बुध्}}$ ], अजति [ $\sqrt{\text{अज्}}$ ].

[३] तृतीय वर्गः—इस वर्गमें धातुका द्वित्व पाया जाता है । यह सस्कृतका जुहात्यादि गण है — पिपामि, पिपृम, ग्रीक पिप्लमन् [हम मरते है], प्रा० भा० यू० \*पिपामि, \*पिप्लमास्, स० जुहोमि, जुहुम, ददामि, दद्य, ग्रीक दिदामि, दिदामन्, प्रा० भा० यू० \*दिदामि [दिदामि], \*दिदमास् [दिदमास्]

[४] चतुर्थ वर्गः—इस वर्गमें धातुका द्वित्व तथा विभेदिक 'अ' [विकरण] [प्रा० भा० यू० \*ऐ] भी पाया जाता है — तिष्ठामि, अवे० हिस्तइति, लं० तिस्तित्, स० शश्चति, [प्रा० भा० यू० \*सश्चति]

[५] पंचम वर्गः—इस वर्गमें प्रा० भा० यू० क्रियाओंमें [१]

\*ना-न्-न् विकरण अथवा [२] \*ना-न् विकरण पाया जाता है। प्रथम कोटिमें अश्नामि, अश्नीम., अश्नन्ति, क्रीणामि, क्रीणीम., क्रीणन्ति रूपोंका समावेश होता है, द्वितीय कोटिमें संस्कृतके धातु नहीं पाये जाते, क्योंकि यहाँ आकार वे सभी प्रथम कोटिमें मिल गये हैं। ग्रीकमें ऐसे रूपोंका अस्तित्व है। युम्बने इसके अवशेष दो-तीन संस्कृत क्रियाओंमें मवेत किये हैं—मिनति [ वैदिक रूप ], घृणते, कृपणते, चिन्तु इनमें भी अन्तिम रूप तो नामधातुका है, जो 'कृपणवत् आचरति' से बना है।

[६] षष्ठ वर्ग.—इस वर्गमें भी दो कोटियाँ मानी गई हैं:—[१] प्रथम कोटिमें \*नेव् [नु] विकरण माना गया है, इसके अपश्रुतिजनित \*न्व तथा \*नुव रूप भी होते हैं—स्तृणोमि, स्तृणुम., ग्रीक स्तोत्रुर्मेन्, प्रा० भा० यू० \*स्तृर्नव्मि, \*स्तृर्नुर्मेस् । [२] द्वितीय कोटिमें 'नु' विकरणके साथ यिमेटिक 'अ' का भी प्रयोग पाया जाता है, चिन्वति, ग्रीक [ होमर ] तीनो [(\*तिन्वो), प्रा० भा० यू० \*विश्वर्नवति ।

[७] सप्तम वर्ग:—इसमें भी दो कोटियाँ हैं.—[१] प्रथम कोटिमें \*ने/न् [स० न] विकरणका प्रयोग पाया जाता है—छिनधि, छिच, भुनज्मि, भुज्ज्म, [२] द्वितीय कोटिमें 'न्' विकरण धातुके मध्यमें पाया जाता है तथा अ विकरण भी जोड़ा जाता है, चिन्दामि, रुम्पति ।

[८] अष्टम वर्ग.—इस वर्गमें धातुके साथ \*म् अथवा अम् [as] या इम् विकरण तथा यिमेटिक 'अ' पाया जाता है। यह विकरण बरतुत सन्न [इच्छार्थः] रूपमें पाया जाता है, विपासति, जिजीविषामि ।

[९] नवम वर्ग :—इस वर्गमें प्रा० भा० यू० धातुके साथ \*स्का विकरण पाया जाता था, जो स० च्छ [छ], ग्रीक स्का, तथा लै० स्क्-के रूपमें विकसित हुआ है, गच्छामि [ \*त्वम्स्को [-स्त्रो] ] पृच्छामि [ \*पृषप्स्को ] ।

[ १० ] दशम वर्गः—इस वर्गका प्रा० भा० यू० विकरण  $\text{स्तो}$  था। स० स्फुटति =  $\text{स्तु}$  स्फृतति, प्रा० भा० यू०  $\text{स्तु}$  स्फृत् [स्फृत्] + ता + ति [स्फृत्ताति]। यह विकरण लैटिनकी साक्षीपर माना गया है— लै० प्लेवता; जो ग्रीकमें 'को' के रूपमें विकसित हुआ है, ग्रीक प्लेको।

[ ११ ] एकादश वर्गः—इस वर्गका विकरण  $\text{स्तो}$ — $\text{स्तो}$  है, जिसका संस्कृतमें घ-द रूप मिलता है। स० घोषति, कूदति, फोडति [  $\text{स्तु}$  क्रिज्-द-ति ]।

[ १२ ] द्वादश वर्गः—इस वर्गका विकरण  $\text{स्तो}$ — $\text{स्तो}$  [ स०—य-] है, स० पश्यति, अवे० स्पश्येइति, लै० स्पर्किर्ना, अरु पर्सो-प्रा० भा० यू०  $\text{स्तु}$  स्पर्षवो, स० कुप्यामि, मन्दते, दाम्यति।

[ १३ ] त्रयोदश वर्गः—इस वर्गमें धातुका द्वित्व तथा साथमें  $\text{स्तो}$ — $\text{स्तो}$  विकरण पाया जाता है। संस्कृतमें इन वर्गका कोई क्रिया रूप नहीं मिलता। प्राकृत ग्रीक [ बल्गार ग्रीक ] में इसका एक रूप मिलता है— ग्रीक तितइनो [ *tatino* ], प्रा० भा० यू०  $\text{स्तु}$  तित-त्न-यो। धुम्बने पाद-टिप्पणीमें पृच्छते, वन्दते जैसे कर्मवाच्यरूपोंके 'य' विकरणका सवध इससे जोड़ा है।

[ १४ ] चतुर्दश वर्गः—इस वर्गमें  $\text{स्तो}$ — $\text{स्तो}$  [ स०—अय- ] विकरण पाया जाता है। इसका सम्बन्ध संस्कृतके णिजत रूपके 'य' विकरण तथा [ चुरादि गणके भी विकरण ] से जोड़ा जा सकता है। संस्कृत तर्पयामि, लै० तौरैयो [ *torreo* ] प्रा० भा० तौरैयो।

स० लोकायामि, लै० लूकेयो [ *luceo* ] प्रा० भा० यू० लोक्वय्यो  
स० स्पृहयामि, प्राकृत [ बल्गार ] ग्रीक, स्पर्कहोम [ *sperkhomai* ]

संस्कृतमें ये सभी वैयाकरणोंके दस गणोंमें समाहित हो जाते हैं ।  
 यहाँ इन विभिन्न गणोंपर थोड़ा विचार कर लिया जाय । हम बता चुके हैं कि विकरणके आधारपर संस्कृत वैयाकरणोंने धातुआकोंके दस गणोंमें विभक्त कर दिया है — १. भ्वादि गण, २. अदादि गण, ३. जुहोत्यादि गण, ४. दिवादिगण, ५. स्वादिगण, ६. तुदादिगण, ७. रुधादिगण, ८. तनादिगण, ९. क्रधादिगण, १०. चुरादिगण । वैसे कई ऐसे भी धातु हैं, जिनमें इनके अतिरिक्त स्वतन्त्र विकरणका प्रयोग पाया जाता है, किन्तु उनका समावेश इन्हींमेंसे किसी एकमें कर दिया गया है ।

**भ्वादिगण.**—प्रथम गणके धातुओंका विकरण 'अ' है, इन धातुओंमें धात्वशमे उदात्त स्वर पाया जाता है, तथा उसकी स्वर ध्वनिमें गुण हो

जाता है । इसे हम  $\sqrt{\text{जि}}$ ,  $\sqrt{\text{भू}}$ ,  $\sqrt{\text{बुष्}}$  के जयति, भवति, बोधति रूपमें देख सकते हैं, जहाँ वस्तुतः जि + अ + ति, भू + अ + ति, बुष् + अ + ति का विकास है । यह 'अ' विकरण ग्रीकमें भी पाया जाता है, किन्तु वहाँ यह कभी ऐ होता है कभी ओ, यथा, ग्रीक फेरते [ pherete ] [स० भरत], फेरामेन [ phero-men ] [स० भराम] । इस तथ्यसे यह स्पष्ट है कि प्रा० भा० यू० में यह विकरण कभी \*ए तथा कभी \*ओ रहा होगा । संस्कृतमें आकर ये दोनों अ के रूपमें विकसित हुए हैं । इसी सम्बन्धमें भ्वादिगणके दो धातु  $\sqrt{\text{घम्}}$  तथा  $\sqrt{\text{गम्}}$  का उल्लेख कर दिया जाय, जिनके वर्तमाने लट्में घच्छति तथा गच्छति रूप पाये जाते हैं । इन्हींके आधारपर प्रा० भा० यू० में एक विकरण \*स्ख [ \*skh ] की कल्पना की जाती है । इन धातुओंके लुङ् [ aorist ] तथा लुङ् निङ् चिह्नोंके आधारपर बने लकारोंमें यह विकरण नहीं पाया जाता, यथा अगमत्, गम्यात् जगाम में । संस्कृतमें यह \*स्त्र विकसित होकर छ [ च्छ ] हो गया है, जो  $\sqrt{\text{घम्}}$ ,  $\sqrt{\text{गम्}}$ ,  $\sqrt{\text{प्रश्}}$  के घच्छति, गच्छति, पृच्छति जैसे रूपोंमें पाया जाता है । चूँकि यह विकरण संस्कृतके बहुत कम धातुओंमें

पाया जाता है, अतः इसके आधारपर कोई अल्पसे गण नहीं माना जाता, तथा इन्हे प्रथम या पष्ठ गणके अन्तर्गत ही समाविष्ट कर दिया गया है। गम् तथा यम् भ्वादिगणो धातु है, तो प्रश् तुदादिगणो धातु। ग्रीक आदि भाषाओंमें भी इस \*स्ख विकरणके चिह्न मिलते हैं। ग्रीकमें यह स्क के रूपमें विकसित हुआ है। संस्कृत गच्छामि के समानान्तर रूप बस्को [baskō] में यह विकरण स्पष्टतः परिलक्षित होता है।

संस्कृतमें भ्वादिगणो धातु सबसे अधिक पाये जाते हैं। प्रायः संस्कृत धातुओंमें आधे भ्वादिगणो है। प्राकृत तथा अपभ्रंश कालमें भी यही गण धातुओंमें प्रधान रहा है तथा शेष गण वहाँ लुप्त हो गये हैं। प्रा० भा० यू० भाषाओंमें भ्वादिगणोमें धिमेटिक 'अ' [विकरण] का प्रयोग पाया जाता है, जो प्रातिपदिक [nominal stems] में भी पाया जाता है। इसके समानान्तर कतिपय उदाहरण निम्न हैं —

स० प्लवते, प्रवते [तिरता है],	ग्रीक प्लेवो [plewō]	[में तिरता है]
„ खवति [बहता है],	„ र्हेइ [rheei]	
„ स्नवति [गन्ध करता है],	लैटिन सोनित् [sonit]	
„ स्तनति [गमता है], ग्रीक	स्तेनेइ [stenei]	
„ घोषति [समझता है] ग्रीक	पेउफोमइ [peuphōmai]	
„ सर्पति [रेंगता है] „	हेर्पइ [herpei], लै० सर्पित	[serpit]
„ त्रसति [कौपता है, डरता है], ग्रीक त्रेओ [treō] [में डरता है]		
„ पतति [गिरता है],	„ पेटोमइ [petōmai]	
„ हवते [हवन करता है], अवेस्ता	जवइति [zavuti],	
	प्रा० स्ला० जोवेतु [zovetu]	

हम देख चुके हैं कि इस गणमे धात्वशपर उदात्त स्वर तथा धात्वशके स्वरवा गुण पाया जाता है, वितु कभी-कभी कुछ धातुओंमे वृद्धि भी होती है, जैसे याघते, भ्राजते, पायति, भ्रामति [इसके आत्मनेपदीरूप भ्रमते है], आचामति मे । इस गणके धातुआने पुनः चार वर्गोंमे बाँटा गया है — [१] अनुनासिक तत्त्व वाले धातु जैसे, 'निन्दति' [√निद्], [२]—व प्रत्यय वाले धातु, जैसे 'जीवति' तूर्वति, [३] च्छ विकरण वाले धातु गच्छति, यच्छति, [४] धातुने द्वित्वरूप वाले जैसे, तिष्ठति [√ स्थि], पिबति [√ पा], जिघ्रति [√ घ्रा] ।

भ्वादिगणो धातुके रूपोंके निदर्शनके लिए हम√भू [होना] धातुके परस्मैपदी तथा आत्मनेपदीके मुख्य तथा गौण तिङ् चिह्नवाले रूप दे रहे हैं --

परस्मैपदी, कर्तृवाच्य, वर्तमाने लट् --

	प्रथम पु०	भवति	भवतः	भवन्ति
	मध्यम पु०	भवसि	भवयः	भवथ
	उत्तम पु०	भवामि	भवावः	भवामः
आत्मनेपदी	प्र० पु०	भवते	भवेते	भवन्ते
	म० पु०	भवसे	भवेथे	भवध्वे
	उ० पु०	भवे	भवावहे	भवामहे

परस्मैपदी, कर्तृवाच्य अनद्यतनभूते लट् [Imperfect]

	प्र० पु०	अभवत्	अभवताम्	अभवन्
	म० पु०	अभवः	अभवतम्	अभवत
	उ० पु०	अभवम्	अभवाव	अभवाम
आत्मनेपदी	प्र० पु०	अभवत्	अभवेताम्	अभवन्त
	म० पु०	अभवथा.	अभवेथाम्	अभवध्वम्
	उ० पु०	अभवे	अभवावहि	अभवामहि



**अदादि गणः**—इस गणके धातुओंमें कोई विकरण नहीं पाया जाता, धातुके साथ ही तिङ् चिह्नोका प्रयोग पाया जाता है। संस्कृतमें लगभग १३० धातु इस गणमें पाये जाते हैं। अन्य भा० यू० भाषाओंमें ये अविकरण धातु प्रायः लुप्त हो गये हैं, तथा इनके स्थानपर सविकरण [विमेटिक] रूप पाये जाते हैं। वैसे अविकरण धातुओंके कुछ अवशेष अन्य भा० यू० भाषाओंमें छुटपुट मिलते अवश्य हैं। जैसे, सं० अस्ति, ग्रीक ऐस्ति, लै० इस्त्; सं० एमि, इमः, ग्रीक ऐइमि, [मै जाता है] इमन् [हम जाते हैं], लियु० ऐइमि, सं० अस्ति, लै० इस्त्, रूसी जैस्त्य [jest'] [वह खाता है], सं० आसते, ग्रीक हेस्तइ [hestai] [वह बैठता है], सं० शेते, ग्रीक केइतइ [वह सोता है]। इस प्रकारके अविकरण धातुओंकी स्थिति हित्तिइत भाषामें स्पष्टतः देखी जाती है, जैसे सं० हन्ति, घ्नन्ति, हिताइत कुएञ्जि [kuenzi] [वह मारता है], कुनञ्जि [kunanzi] [वे मारते हैं], सं० वष्टि [√वश्], हिताइत वेक्जि [wekzi] [वह चाहता है]; सं० शस्ति [√शस्], हिताइत शेडिजि [वह सोता है]।

इस गणके धातुओंमें परस्मैपदी रूपोंमें धातुपर उदात्त स्वर पाया जाता है, तथा स्वरका गुण भी होता है, आरम्भनेपदी रूपोंमें यह नहीं होता, वहाँ धातुका दुर्बल या मूल रूप [weak form] ही पाया जाता है तथा उदात्त स्वर तिङ् चिह्नपर पाया जाता है। हन्ति, घ्नन्ति, वश्मि, अश्मि, स्मः; कितु अस्ते, द्विष्टे, शेते, आसते, द्विपते, शेरते।

इस गणके उन धातुओंमें जिनमें आरंभमें व्यञ्जन ध्वनि तथा बादमें 'उ' स्वर पाया जाया है, गुणके स्थानपर वृद्धि होती है—स्तोति [√स्तु], योति [√यु]। वैसे कुछ अन्य धातुओंमें भी वृद्धि होती है, जैसे मार्ष्टि [√मृज], प्र० पु० व० व० रूप मृजन्ति।

इस गणमें विकरणका प्रयोग न होनेके कारण तिङ् चिह्नोके साथ धातुशक्ति की संधि होनेसे नये ढंगके रूप देखनेमें आते हैं, जो ध्वनिसंबन्धी

दृष्टिसे महत्त्वपूर्ण है। इनके कतिपय उदाहरण ये हैं :— $\sqrt{\text{दुह}}$  : दोह् + सि = घोक्षि, दोह् + ति = दोग्धि,  $\sqrt{\text{लिह}}$  : लेह् + ति = लेदि,  $\sqrt{\text{शास्}}$  : शास् + धि = शाधि।

इस गणमें कतिपय धातु ऐसे भी हैं, जो मूलतः अविकरण धातु नहीं थे, यथा  $\sqrt{\text{त्रा}}$  [रक्षा करना],  $\sqrt{\text{शास्}}$  [शासन करना],  $\sqrt{\text{वस्}}$  [वस्त्र धारण करना]। ये धातु स्वर प्रक्रियाकी दृष्टिसे अपवाद रूप [इर्रेग्यूलर] हैं। कई द्वित्व रूपवाले धातु भी इस गणमें संगृहीत हो गये हैं, जैसे  $\sqrt{\text{घस्}}$  [खाना] [घस्ति, घसति, घस्त] [जो वस्तुतः एक विकृत [defective] धातु है]।  $\sqrt{\text{जक्ष्}}$  [निगलना, खाना] [जक्षिति, जक्षित, जक्ष] [यह भी विकृत धातु है] इस गणमें कतिपय धातु ऐसे हैं, जिनमें धातुके साथ 'इ' अन्त प्रत्यय या विकरणका प्रयोग पाया जाता है, जैसे  $\sqrt{\text{इद}}$  [रोदिति],  $\sqrt{\text{इवप्}}$  [स्वपिति],  $\sqrt{\text{अन्}}$  [सांस लेना] [अनिति],  $\sqrt{\text{इवस्}}$  [इवसिति],  $\sqrt{\text{जक्ष्}}$  [जक्षिति]। कुछ ऐसे भी धातु हैं, जिनमें वैदिक रूप 'इ' अन्त प्रत्ययवाले मिलते हैं, किंतु लौकिक रूपोंमें 'इ' का प्रयोग नहीं मिलता। वमिति [लौ० स० वमति], जनिष्व [लौ० स० जनस्व], वशिष्व, स्तनिहि, स्तधिहि, महाभारतमें शोचिनि रूप मिलता है। 'इ' के अतिरिक्त इस गणमें 'ई' विकरण भी पाया जाता है, जो केवल  $\sqrt{\text{भ्रू}}$  धातुमें पाया जाता है, पर यहाँ भी यह केवल सबल रूपोंमें ही होता है, दुर्बल रूपोंमें इसका 'अव्-' रूप ही मिलता है, यथा अवीति, अव्वीत् [सबल रूप] अव्वम, व्वगिति [दुर्बल रूप]। इस धातुके समानान्तर अवेस्ता धातु  $\sqrt{\text{अव्}}$  के रूपोंमें यह 'ई' अन्त प्रत्यय नहीं पाया जाता, अवेस्ता अमोइते [mraoite] [वह बोलता है], अमोत् [mraot] [वह बोले] [आज्ञा रूप]। वैसे इस अन्त प्रत्ययके चिह्न अन्य यूरोपीय भाषाओंमें मिलते हैं :—लौ० अउदीरे [audire] प्रा० स्लावोनिक सुपितु [supitu] [वह सोता है], म्लुवित्त, [mluvitu] [बडबडाता है]। ह्रस्व 'इ' अन्त प्रत्ययकी भाँति यह प्रत्यय भी लौकिक

संस्कृतमें प्रायः लुप्त हो गया है—केवल  $\sqrt{\text{ञ्}}$  धातुमें ही इसका प्रयोग पाया जाता है । वैदिक संस्कृतमें कुछ छुटपुट निदर्शन देखे जा सकते हैं—

अमोति [ $\sqrt{\text{ञ्}}$  अम् 'हानि पहुँचाना'], तत्रोति [ $\sqrt{\text{ञ्}}$  त्र 'बलवान् होना']  
शमोष्व [ $\sqrt{\text{ञ्}}$  शम् 'परिश्रम करना'] ।

अशादि गणके रूपोंके लिए निम्न निदर्शन देना पर्याप्त होगा—धातु  
 $\sqrt{\text{द्विष्}}$  [ द्वेष करना ] ।

वर्तन्वाच्य, परस्मैपदी' वर्तमाने लट्

प्र० पु० द्वेष्टि, द्विष्ट, द्विषन्ति, म० पु० द्वेक्षि, द्विष्ट, द्विष्ट, उ० पु०  
द्वेक्षिम, दिक्ष्व, द्विक्ष्म ।

आत्मनेपदी, वर्तमाने लट्—प्र० पु० द्विष्टे, द्विषाते, द्विषते, म० पु०  
द्विष्ते, द्विषाथे, द्विष्ट्वे, उ० पु० द्विषे, द्विष्वहे, द्विष्महे ।

परस्मैपदी, अनद्यतनभूते लट्—प्र० पु० अद्वेष्ट, अद्विष्टाम्, अद्विषन्,  
म० पु० अद्वेष्ट, अद्विष्टम्, अद्विष्ट, उ० पु० अद्वेष्टम्, अद्विष्ट्व, अद्विष्ट्म ।

आत्मनेपदी, अनद्यतनभूते लट्—प्र० पु० अद्विष्ट, अद्विषाताम्,  
अद्विषत, म० पु० अद्विष्टा, अद्विषायाम्, अद्विष्ट्वम्, उ० पु० अद्विषि,  
अद्विष्ट्वहि, अद्विष्महि ।

जुहोत्यादिगण—इस गणमें लगभग ५० धातु पाये जाते हैं, जिनमेंसे लौकिक संस्कृतमें केवल १६ ही धातु इस गणके रूपोंका निर्वाह करते देखे जाते हैं । इस गणकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि यहाँ धातुका द्वित्व हो जाता है । ग्रीक भाषामें भी एसे द्वित्व रूपवाले धातु पाये जाते हैं—ग्रीक, पि [म्] प्लेमि, [मि पूर्ण करता हूँ, मैं भरता हूँ], [स० विपामि], ग्रीक, पि [म्] डूमन् [हम भरते हैं] [स० विपृम], ग्रीक ष्ट्रिस्विफनइ [धारण करना, परिचय देना] [स० विभामि, विभृम], ग्रीक दिवोमि, [मि देता हूँ], [स० दवामि], ग्रीक तिथेमि [धारण करता हूँ] [स० दवामि] ग्रीक हिस्तेमि [ठहरता हूँ] [स० तिष्ठामि] [संस्कृतमें  $\sqrt{\text{स्था}}$  धातु भ्वादिगणी है] । अन्य भा० यूरोपीय भाषाओंमें ये रूप प्रायः लुप्त हो गये हैं ।

धातुके द्वित्वरूपमें, जिन धातुओंमें मूलतः इ या उ स्वर ध्वनि पाई जाती है, ठीक वही ध्वनि रहती है, चिकेति [√चि], जिह्वेति [√ह्वी], विवेष्टि [√विश्], द्विभेति [√भी], युयोक्ति [√युज्] । अन्य धातुओंमें द्वित्वरूपकी प्रथम स्वर ध्वनि या तो इ या ध्र पाई जाती है — [१] जिघ्रति [√घ्रा], पिपति [√पृ], विभति [√भृ], जिघाति [√गा जाना], मिमाति [√मा बँलकी तरह शब्द करना], शिशाति [√शा शस्त्रको तेज करना] सिपक्ति [√सप्] [२] दधाति [√दा], दधाति [√घा], जहाति [√हा], दधस्ति [√भस् खाना], धर्वाति [√धृ], ससस्ति [√सस् सोना] ।

इस गणके धातु रूपोंमें उदात्त स्वरका कोई निश्चित स्थान नहीं है ।

यह कभी तो धातुके सबल रूपोंमें धात्वंशपर पाया जाता है; जुहोति, जो धातुओंमें द्वित्वरूपपर भी पाया जाता है, जहाँ यह सदा प्रथमाक्षरपर होता है, दधाति । वैदिक संस्कृतमें प्रायः उदात्त स्वर इनके प्रथमाक्षरपर ही पाया जाता है, जब कि परवर्ती संस्कृतमें यह वास्तविक धात्वंशपर पाया जाता है, —

विभति [वैदिक रूप], विभति [लौकिक रूप] । ग्रीकमें उदात्त स्वर द्वित्वरूप

या प्रथमाक्षरपर ही होता है, दिदोमि [didomi] । विद्वानोंने यह अनुमान किया है कि मूलतः इस गणके धातुओंमें वृत्वाच्य [परस्मैपदी] रूपोंमें तीनों पुरुषोंके ए० व० में उदात्त स्वर धात्वंशपर ही पाया जाता था, तथा इसके व० व० रूपोंमें धातुके दुर्बल रूप होनेके कारण यह उदात्त स्वर द्वित्व अशबाले प्रथमाक्षरपर रहता था . ददति, सश्चति ।

धातुके द्वित्व रूपोंमें, उन धातुओंमें जहाँ य या व् ध्वनि पाई जाती है, इनका सम्प्रसारण हो जाता है — √व्यच् [ विवित्तः ], √ह.वद्

[जुह्वर्या], तथा √सच् [सञ्चति] और √भस् [बसति] धातुमें एक अक्षरका लोप हो जाता है। 'आ' स्वरध्वनिवाले धातुओंके रूप अनेक तरहसे चलते हैं। इनमें साधारण कोटिके धातु √दा तथा √धा है, जिनके दुर्बलरूपमें स्वरध्वनि लुप्त हो जाती है—दद्वा, दद्यः, दध्व, दध्मः। अन्य प्रकारके आ स्वरध्वनिवाले धातुओंमें धातु तथा तिङ् चिह्नके बीच इ या ई जोड़ दिया जाता है। जहिमः, जहिहि [√हा]; शिशोहि [√शा], मिमीते [√मा], ररीयाः [√रा 'देना']।

इस गणके रूपोंका संकेत √घा [धारण करना] धातुके निम्न रूपोंसे किया जा सकता है।

परस्मैपदी कर्तृवाच्य वर्तमाने लट् :—प्र० पु० दधाति, घत्तः, दधति, म० पु० दधासि, घत्थः, धत्थ, उ० पु० दधामि, दध्वः, दध्मः।

आत्मनेपदी वर्तमाने लट् :—प्र० पु० घत्ते, दधाते, दधते, म० पु० घत्से, दधाथे, घदध्वे; उ० पु० दधे, दध्वहे, दध्महे।

परस्मैपदी कर्तृवाच्य, अनद्यभूते लङ् :—प्र० पु० अदधात्, अघत्ताम्, अदधुः, म० पु० अदधाः, अघत्तम्, अघत्त; उ० पु० अदधाम्, अदध्व, अदध्म।

आत्मनेपदी अनद्यतनभूते लङ् :—प्र० पु० अघत्त, अदधा-  
ताम्, अदधत्; म० पु० अघत्थाः, अदधाथाम्, अदध्वम्, उ० पु०  
अदधि, अदध्वहि, अदध्महि।

दिवादिगण :—संस्कृतमें चतुर्थ या दिवादि गणके धातुओंकी संख्या लगभग १३० है। इस गणके धातुओंमें य विकरणका प्रयोग पाया जाता है। यह य विकरण नामधातुओंमें भी प्रयुक्त होता है। कर्मवाच्य रूपोंमें भी य विकरणका प्रयोग पाया जाता है, किंतु दिवादिगणके आत्मनेपदी रूपों तथा कर्मवाच्य क्रिया रूपोंमें यह वैयम्य है कि यहाँ उदात्त स्वर धात्वंश पर पाया जाता है, जब कि कर्मवाच्य रूपोंमें उदात्त स्वर विकरणपर पाया

जाता है, यथा तप्यते [ आत्मनेपदी, दिवादिगण ], पठ्यते [ भ्वादिगणी  
 √ पठ् धातुका कर्मवाच्य रूप ] । दिवादिगणी धातुओके रूपावा निदर्शन  
 यह है — कुप्यति, नृप्यति, दोष्यति, तुष्यति, मृष्यति, युष्यति, विष्यति  
 [ √ ध्यष् ], हृष्यति, पश्यति, नश्यति, तप्यते ।

‘य’ विकरणवाले धातुरूपोके समानान्तर रूप हित्ताइत तथा ग्रीकमे भी  
 पाये जाते हैं — हित्ताइत वेमिएस्त्रि [ wemiezzi ] [ ढँढना है ] [ सम्भवत  
 स० विन्दति ], सहिएस्त्रि [ zahliczz ] [ युद्ध करता है ] [ स० युष्यति ],  
 ग्रीक मद्नेतइ [ पागल होता है ] [ स० मन्यते मानता है ] । लैतिनमें ‘य’  
 विकरणवाले यिमेटिक रूपोंके स्थानपर ‘इ’ वाले अयिमेटिक रूप पाये  
 जाते हैं — कुपिओ कुपित् [ मैं कुपित होता हूँ, वह कुपित होता है ],  
 [ स० कुप्यति ]

इम गणके कतिपय धातुओमे धातुके मूलस्वरकी वृद्धि पाई जाती है —  
 माद्यति, [ √ मद् ] धाम्यति [ √ धम् ] । कुछ ऐसे भी आ ध्वनिवाले  
 धातु हैं, जिन्हें वैयाकरणोंने गलतीसे भ्वादिगणी मान लिया है, जैसे गायति  
 [ √ गा ], ग्लायति [ √ ग्ला ], प्रायति [ √ प्रा ], ध्यायति [ √ ध्या ] ।  
 भाषाशास्त्रीय दृष्टिसे ये धातु वस्तुतः दिवादिगणके ही माने जाने चाहिए,  
 जहाँ य विकरण पाया जाता है<sup>१</sup>, किन्तु सस्कृत वैयाकरणोंने इनमें आ स्वर-  
 ध्वनि न मानकर ऐ स्वरध्वनि मानी है तथा इनके धातु रूप क्रमग √ गं,  
 √ ग्लं, √ प्रं, √ ध्यं माने है ।<sup>२</sup>

१ T. Burrow Sanskrit Language p. 330

२ देखिए — प्ले प्ले हर्षयमे । ग्लायति [ सिद्धान्तकोमुदी उत्तरार्ध  
 ७ २ ७३. पृ० १८२ ] गं शब्दे । गेयात् [ द्वे० वही पृ० १८४ ], ध्यं  
 चिन्तायाम् [ वही पृ० १८३ ], ऋङ् पालने त्रायते [ वही पृ० १९७ ] ।  
 सिद्धान्तकोमुदीमे ये सभी धातु भ्वादिगणके ही प्रकरणमे निर्दिष्ट हुए हैं ।

इस गणमें कतिपय आ ध्वनि वाले धातु ऐसे भी हैं, जिनमें उदात्त स्वर विकरणाशय पर पाया जाता है तथा धात्वशकी स्वर ध्वनिवा लोप हो जाता है। घृति [√दा], [वांधता है], छद्यति [√छा] [काटता है] स्पृति [√सा], [वांधता है], श्यति [√शा] [शस्त्र तेज करता है]। इस सबधमें भी यह सचेत पर देना आवश्यक होगा कि यहाँ भी वैयाकरणोंने इन धातुओंका मूल स्वर आ न मानकर ओ माना है—√दो [अवलण्डने], √छो [छिदने], √शो [तनूकरणे], √षो [√सो] [सनापने]। वैसे संस्कृत वैयाकरणोंने इन्हें दिवादिगणमें ही माना है<sup>१</sup> इनके रूपोंका उदाहरण निम्न है --

प० वर्तमाने लट् —प्र० पु० दीव्यति, दीव्यतः, दीव्यन्ति; म० पु० दीव्यसि, दीव्यथ, दीव्यथ, उ० पु० दीव्यामि, दीव्याव, दीव्याम ।  
[√दिप् : 'जुआ खेलना']

आ० वर्तमाने लट् —प्र० पु० दीप्यते, दीप्येते, दीप्यन्ते, म० पु० दीप्यमे, दीप्येथे, दीप्यध्वे, उ० पु० दीप्ये, दीप्यावहे, दीप्यामहे ।  
[√दीप् : चमकना] ।

परस्मै० लट् —प्र० पु० अदीव्यत्, अदीव्यताम्, अदीव्यन्, म० पु० अदीव्य, अदीव्यतम्, अदीव्यत, उ० पु० अदीव्यम्, अदीव्याव, अदीव्याम ।

आ० लट् —प्र० पु० अदीप्यताम्, अदीप्येताम्, अदीप्यन्त, म० पु० अदीप्यथा, अदीप्येथाम्, अदीप्यध्वम्, उ० पु० अदीप्ये, अदीप्यावहि, अदीप्यामहि ।

इसके पूर्व कि हम पञ्चम गण [ स्वादि गण ] को लें, सुविधाकी दृष्टिसे हम पष्ठ तथा दशम गणोंको पहले निघटा देना ठीक समझेंगे, क्योंकि ये गण भाषाशास्त्रीय दृष्टिसे इतने जटिल नहीं हैं ।

१. देखिए : सिद्धान्तकौमुदी दिवादिप्रकरण. सूत्र. ७.६.७१.  
पृ० २८१-८२.

**पष्टगण, तुदादिगणः**—इस गणके धातुरूप प्रायः भ्वादिगणके धातु रूपाकी तरह ही चलने हैं। सम्वृत्तमें इस गणके धातु बहुत हैं, जिनकी मख्या लगभग १५० है। इसके उदाहरण ये हैं—रजति, विशति, तुदति, किरति, सृजति, लिखति, सुवति, स्पृगति, मृपति, पृच्छति, विशति। अन्य भारोपीय भाषाओंमें इस ढंगके धातु प्रायः नहीं पाये जाते। इस गणके कई धातुओंमें धात्वशमे अनुनासिक तत्त्वका प्रयोग पाया जाता है, जैसे सिञ्चति [√सिञ्च], मुञ्चति [√मुञ्च], विन्दति [√विद्], कृन्तति [√कृन्], लुम्पति [√लुप्], लिम्पति [√लिप्]। इस गणके कतिपय धातुओंमें 'च्छ' [ \*स्ख \*स्क ] विकरण भी पाया जाता है, जिसका सकेत हम पहले दे चुके हैं—इच्छति [√इष्] उच्छति [√वश् 'चमकना'], ऋच्छति [√ऋ'जाना']। पृच्छति [√प्रश्] में यह विकरण धातुका ही अग वन गया है, जो लिट्के रूप पप्रच्छ से स्पष्ट है तथा इस तरह संस्कृत व्याकरणोंने इस धातुका मूल रूप ही √प्रच्छ मान लिया है। यद्यपि भाषावैज्ञानिक दृष्टिसे यह √प्रश् है, जो संस्कृतके इसी धातुसे बने अन्य रूप 'प्रश्न' से स्पष्ट है। इस बातका पुनः सकेत करना अनावश्यक न होगा कि भ्वादिगणी धातुके रूपोंसे इसमें यह अन्तर है कि वहाँ उदात्तस्वर धात्वशपर पाया जाता है, जब कि यहाँ

[तुदादिगणी धातु रूपोंमें] वह विकरणाक्षर पाया जाता है। भवति, पठति,

गच्छति [ भ्वादिगणी रूप ], लिखति, तुदति, विशति [ तुदादिगणीरूप ] इनके रूप प्रायः भ्वादिगणी जैसे ही होते हैं, अतः रूपोंका सकेत करना अनावश्यक होगा।

**दशम गण, चुरादिगण**—इस गणके धातुरूप भी भ्वादिगणी

रूपाकी तरह ही पाये जाते हैं। इस गणका विकरण 'अय' है तथा उदात्त स्वर इस विकरणाक्षरके प्रथमाक्षरपर पाया जाता है। सम्वृत्तमें यह अय'



विकरण णिजन्त [causative] तथा नाम धातु [denominative] क्रिया रूपमें भी पाया जाता है।<sup>१</sup> वैदिक मस्कृतमें इस गणके मूल धातु रूपको इन गौण क्रियारूपसे अलग रखनेका एक ढंग पाया जाता है। मूल धातुरूपोंमें वहाँ धातुके स्वरका गुण नहीं होता, जब कि नामधातु या णिजन्त वाले गौण क्रियारूपोंमें धातुके स्वरका गुणीभाव पाया जाता है, चितयति, इपयति, तुरयति, धृतयति, रुषयति, पतयति, स्पृहयति, मृडयति, शुभयति। चुरादिगणसे ही सबद कुछ धातु ऐसे भी हैं, जिन्हें वैयाकरणोंने म्वादिगणी मान लिया है।

ह्वयति [√ ह्व], श्वयति [√ श्व], धयति [√ ध], जिनमें वैयाकरणोंने हमारे द्वारा कोष्ठकमें निर्दिष्टधातु न मानकर क्रमशः √ ह्वे, [ह्वेञ् स्वर्धाया शब्दे च] √ श्वि [श्वि गतिवृद्धयो], √ धे [धेट् पाने] धातुरूप माने हैं।

संस्कृतके णिजन्त तथा नामधातुओंके रूप भी इसी गणके अन्तर्गत आते हैं — कामयते, चोरयति, छादयति, श्वलोकयति, दूषयति, भूषयति, ताडयति, गमयति, तर्पयति, तोषयति, शाययति, घृणयामि, बर्णयामि, विघ्नयामि आदि।

पाश्चात्य भाषाशास्त्रियोंने संस्कृत धातुओंको ग्रीक धातुओंकी तरह दो वर्गोंमें बाँटा है — १ थीमैटिक [thematic] वर्ग, वे गण जिनमें भ विकरण [जिसे ग्रीकमें थीमा [thema] कहते हैं] पाया जाता है। इस वर्गमें प्रथम गण [म्वादि], चतुर्थ गण [दिवादि], षष्ठ गण [तुदादि] तथा दशम गण आते हैं। हम देख चुके हैं कि चतुर्थ तथा दशम गणमें भी श्र पाया जाता है — य् + भ = य [चतुर्थ गण का विकरण], अय् + भ = भय [दशम-

१ यह विकरण 'यो' के रूपमें लैटिनमें भी णिजन्त तथा नाम-धातुओंके साथ पाया जाता है, इस धातु वर्ग को वहाँ Yod-class कहा जाता है। दे० King and Cockson p 149.

गणना विकरण] । २. दूसरा वर्ग उन धातुओंका है, जिनमें यह भ विकरण [धेमा] नहीं पाया जाता । इन्हें ग्रीकोंमें 'अथेमेटिक' [athematic] कहा जाता है । इसके अन्तर्गत द्वितीयगण, तृतीयगण, पञ्चमगण, सप्तमगण, अष्टमगण तथा नवमगण आते हैं । हमने यहाँ पाश्चात्य भाषाशास्त्रियोंके ढगपर इन दो वर्गोंमें इनका वर्णन न कर सुविधाकी दृष्टिमें द्वितीय [अदादि] तथा तृतीय [जुहोत्यादि] गणका विवेचन पहले ही कर दिया है । अब हमारे सामने चार गण बचे रहते हैं, जो ग्रीकोंके ढगपर 'अथेमेटिक' कहे जा सकते हैं । इनके विकरण क्रमशः ये हैं :—'नु' [पञ्चमगण, स्यादि], 'न्' [सप्तमगण, रुधादि], 'उ' [अष्टमगण, तनादि], ना [नवमगण, क्रधादि] । इन चारों गणोंके विकरण यद्यपि एक दूसरेसे भिन्न हैं, पर भाषाशास्त्रीय दृष्टिमें परस्पर नबद्ध हैं । पञ्चम तथा अष्टमगण दोनोंमें 'उ' विकरण समान है, यद्यपि पञ्चममें उसके साथ 'न्' [नु = न् + उ] भी है । इसी तरह पञ्चम, सप्तम एवं नवम तीनों गणोंमें यह समानता है कि इनमें सभीमें अनुनासिक तत्त्व 'न्' विकरणागमें पाया जाता है :—नु [न् + उ], न्, ना [न + भा] । अतः इसके पहले कि प्रत्येक गणका विवेचन किया जाय, इन विकरणोंकी भाषाशास्त्रीय व्युत्पत्तिपर एव साथ मकेत कर देना आवश्यक होगा ।

पहले हम पञ्चम, सप्तम तथा नवम इन तीन गणोंके धातुओंके विकरणोंको ले लें । भाषावैज्ञानिक दृष्टिसे इन तीनों गणोंमें एक समानता पाई जाती है, इन तीनोंमें ही विकरणमें अनुनासिक ध्वनि 'न्' होती है । पञ्चमगणका विकरण नु सप्तमगणका न तथा नवमगणका ना है । इन सभीको प्राचीन भा० यू० विकरण \*ने [ \*नेा ] से विकसित माना जा सकता है । यह न् विकरण ग्रीक तथा लैटिनमें भी पाया जाता है, किन्तु वहाँ इसका सङ्घटन जैसा बाहुल्य नहीं है । उदाहरणके लिए ग्रीक तिनो [ti-n-o] [मै चुनगा हूँ, रा० चिनोमि] को ले सकते हैं । सबसे पहले

सपनमगणको लीजिए । इस गणके युनक्ति, भुनक्ति आदि रूपोमे जो अनुनासिक तत्त्व पाया जाता है, वह वस्तुतः एक गौण तत्त्व है, क्योंकि इन्हीके युषोन्न, युयुजे; बुभोज, बुभुजे जैसे रूपोमे इसका सर्वथा अभाव है । किन्तु पञ्चमगणके रूपोमे; ऐसे झणोति मे, यह अनुनासिक तत्त्व वस्तुतः धात्वंसका अभिन्न अंग-सा बन गया है । यहाँ यह 'नु' अक्षर है, जो सबल-रूप [वृद्धि, strong form] में 'नो' हो जाता है तथा दुर्बलरूप [मूलरूप] में केवल 'न्' रह जाता है । किन्तु यहाँ भी लुट् [Aorist] के रूपोमे यह अनुनासिक तत्त्व नहीं पाया जाता, जो [भ्रूषि], भ्रूषीषीत् आदि रूपोमे स्पष्ट है । वस्तुतः इस प्रकारके धातुओमे, आरभमे, प्रा० भा० यू० मे न् विकरण नहीं पाया जाता था । उदाहरणके लिए संस्कृतके √स्तु धातुको लीजिए, इसका प्राचीनरूप \*स्तेर् [ \*स्तेर्त्वे ] रहा होगा । इसी रूपसे एक ओर गॉथिक [Gothic] भाषामें अनुनासिक विकरणविहीनरूप स्त्रोज [strauz] का विकास हुआ है, दूसरी ओर संस्कृतमें स्तृणोमि, स्तृणुमः [स्तृणमः] जैसे रूपोका, जिन्हे क्रमशः प्रा० भा० यू० \*स्तनेव्—, \*स्तन्नु—, \*स्तन्—से विकसित माना जायगा । इसके विषयमें यह कहा जा सकता है इस नु मे वस्तुतः न् तथा उ इन दो विकरणोका समावेश है । गॉथिकमे यह केवल उ रूपमें ही पाया जाता है । यही न् जो संस्कृतके पञ्चमगणमे उ से मिलकर नु बन गया है, नवमगणमे आ विकरणसे मिलकर ना हो गया है । यह ना दुर्बल रूपोमे, व्यञ्जनके पूर्व नी तथा स्वरके पूर्व न हो जाता है, यथा गुम्णाति, गुम्णीतः, गुम्नन्ति, क्रीणाति, क्रीणीतः, क्रीणन्ति ।

तात्त्विक दृष्टिसे अष्टमगणके धातुओमें भी अनुनासिक तत्त्व पाया जाता है, किन्तु यहाँ यह अनुनासिक तत्त्व विकरण न होकर धातुका ही वंश है । इस कोटिके अधिकतर धातुओमें यह 'न्' धात्वंसमे पाया जाता है, जो √क्षन्, √मन्, √तन् आदि धातुओमें स्पष्ट है । ये धातु लुङ् तथा, उमके आधारपर बने लकार रूपोमे भी अनुनासिक तत्त्वको नहीं छोडते,

क्षनिष्ठा, अमस्त, अतन् । वस्तुतः संस्कृतके तनोनि का तनो—प्रा० भा० यू० \*तेनेव् से विकसित न होकर \*तन् नो से विकसित हुआ है । इससे यह स्पष्ट है कि मूलतः अप्तमगणके ये धातु पञ्चमगणके ही अग हैं । किन्तु, धीरे-धीरे सादृश्यके आधारपर कुणोमि जैसे रूपोने वैकल्पिकरूप करोमि के रूपमें पाये जाने लगे और उन्हें तनोमि के समान मानकर इस अप्तमगणमें रख दिया गया ।

अब यह प्रश्न उपस्थित होता है कि यह 'न्' ही वास्तविक विकरण था, या यह \*ने/\*नो का दुर्बलरूप [weak form] था । इस संबंधमें रुधादि गण [सप्तमगण] के रूपापर थोड़ा दृष्टिपात कीजिए । उदाहरणके लिए रुणद्धि तथा मुञ्चति [जो वस्तुतः षष्ठगण—तुदादिगणका धातु है] इन दो रूपोंको लीजिए । आरंभमें ये दोनों रूप-कुछ भिन्न प्रतीत होंगे, किन्तु इनके बहुवचन [प्र० पु० व० व०] रूप रुण्धति तथा मुञ्चति इस बातको स्पष्ट करते हैं, कि रुणद्धि वस्तुतः न विकरणयुक्त रूप है, जब कि मुञ्चति, न् [ञ्] विकरणयुक्त है । अर्थात् एकका अनुनासिक विकरण 'न' [ण] है, दूसरेका केवल न् [ञ्] । इस संबंधमें एक और महत्वपूर्ण बात ध्यान देनेकी यह भी है कि 'अ' विकरणका प्रयोग मुञ्चति वाले रूपमें अधिक पाया जाता है । यही कारण है कि यहाँ उदात्त स्वर इस अ विकरणपर

पाया जाता है, मुञ्चति, किन्तु रुणद्धि में उदात्त स्वर 'न' [ण] पर पाया जाता है । और अधिक स्पष्टीकरणके लिए हम यह कह सकते हैं कि यदि रुच् का वर्तमान प्र० पु० ए० व० रूप अ विकरणसे युक्त पाया जाता अर्थात् यदि यह षष्ठगणका धातु होता, तो \*रुण्धति रूप बनता, इसी प्रकार यदि √मुच् का यही रूप अ विकरणविहीन पाया जाता अर्थात् यदि यह सप्तमगणका धातु होता, तो \*मुनक्ति रूप बननेकी संभावना थी । इस प्रकार यह स्पष्ट है कि रुधादि धातुओंके रूप वस्तुतः मुचादि धातुओंके

हो 'अ'-विकरणहीन रूप हैं, तथा यहाँ वास्तविक अनुनासिक तत्त्व 'न' [॰ने/॰ने] ही है, केवल 'न्' नहीं ।

पञ्चमगण, स्यादिगणः—संस्कृतमें इस गणके लगभग ५० धातु पाये जाते हैं । जैसा कि हम सञ्चेत कर चुके हैं, इस गणका विकरण 'नु' [ न् + उ ] है । इस 'नु' का सबल रूपमें 'नो' हो जाता है । ग्रीकमें इसका 'नु' [ नू ] रूप पाया जाता हैः—स० ऋणोमि, ग्रीक ओर्नूमि [ ornumi ], सं० स्तूणोमि, ग्रीक स्तोनूमि [ stornumi ], सं० क्षिणोमि, ग्रीक फिथिनो [ phthino ], मिनोमि, लैतिन मितुओ सं० धूनोमि, ग्रीक थूनो [ thuno ] संस्कृतसे इस गणके धातुओके अन्य उदाहरण ये हैंः—चिनोति, हिनोति, वृणोति, धृष्णोति, अश्नोति, आप्नोति, राध्नोति । इनमेंसे कई धातु ऐसे भी हैं, जिनमें 'नु' के स्थानपर 'ना' [ नवमगणके विकरण ] का वैकल्पिक प्रयोग पाया जाता हैः—वृणोति-वृणाति, स्तूणोति-स्तूणाति, क्षिणोति-क्षिणाति ।

अन्य भा० यू० भाषाओमें इन धातुओमेंसे कईके समानान्तर रूपोंमें 'नु' के स्थानपर केवल 'उ' विकरण पाया जाता है । इसमें स्तूणोति के समानान्तर गांधिक रूप 'स्थोज' का संकेत हम कर चुके हैं, अन्य रूप ये हैं.—सं० ऋणोति [वैकल्पिक ग्रीकरूप 'ओराउओ [ orouo ]], धृष्णोति [ग्रीक थ्रासुस् thrasus] । स्वयं संस्कृतमें ही इनसे व्युत्पन्न कई नाम शब्दोंमें यह 'न्' वाला विकरणाश नहीं पाया जाता.—वृणोति-वृहन्न, जिनोति-जीव, साप्नोति-साधु । एक धातुमें यह 'उ' विकरणाशपर स्वयं धातुका ही अंग बन गया है; जो √श्रु धातुमें पाया जाता है । भाषाशास्त्रीय दृष्टिसे यहां √श्रु [शर्-] धातु माना जाना चाहिए, जो इसके वर्तमानकालके रूपसे स्पष्ट है.—'श्रु-णो-ति' [ √श्रु-विकरण न् + उ-[ तिङ् प्रत्यय ] [प्रा० भा० यू० \*क्त्-न्-एज-ति [kl-n-cu-ti] । इस वर्गके कुछ धातु

ऐसे भी है, जिनमें साथ ही 'अ' विकरण भी पाया जाता है — 'विन्वति' [ दे० पिनुते, अवे० पिनप्रोइति, इन्वति [ वैक० रु० इनोति ], हिन्वति [ वैक० रु० हिनोति], जिन्वति [-जिनोति] ।

रूप — घातु √सु [ उभयपदी ] 'निचोडना, नहाना, मथना' ।

वर्तमान, परस्मैपदी — प्र० पु० सुनोति, सुनुत, सुन्वन्ति; म० पु० सुनोपि, सुनुय, सुनुष, उ० पु० सुनोमि, सुनुव-सुन्व, सुनुम-सु-म ।

वर्तमान, आत्मनेपदी — प्र० पु० सुनुते, सुन्वाते, सुन्वते, म० पु० सुनुपे, सुन्वापे, सुनुष्वे, उ० पु० सुन्वे, सुनुवहे सुन्वहे, सुनुमहे सुन्महे ।

लृट्, परस्मैपदी — प्र० पु० असुनोत्, असुनुताम्, असुन्वन्, म० पु० असुनो, असुनुतम्, असुनुत, उ० पु० असुनवम्, असुनुव असुन्व, असुनुम असुन्म ।

लृट्, आत्मनेपदी — प्र० पु० असुनुत, असुन्वाताम्, असुन्वत, म० पु० असुनुया, असुन्वायाम्, असुनुष्वम्, उ० पु० असुन्वि, असुनुवहि-असुन्वहि, असुनुमहि असुन्महि ।

**सप्तमगण, रुधादिगण** — इस गणके लगभग ३० घातु हैं । इस गणका विकरण अनुनासिक तत्त्व [ न् ] है । अन्य प्रा० भा० यू० भाषाओंमें इस गणके घातुओंमें अ विकरण जोड़ दिया गया है, यथा वै 'अथेमेटिक' [ athenatic ] वर्गके घातु नहीं रहे हैं । यह प्रवृत्ति कतिपय घातुओंमें संस्कृतमें भी पाई जाती है, स० विन्दति, जबकि अवेस्तामें इसका समानान्तर रूप 'विन्स्ति' है । यद्यपि इस गणको पचम तथा नवम गणसे सबथा भिन्न माना गया है, किन्तु मूलतः यह गण उन्हीका एक अंग है । इनमें भेद केवल इतना है कि यहाँ 'न्' विकरण घातुम घुलमिल सा गया है । इसीलिए प्रो० टी० वराने इन तीनोंका विश्लेषण एक सा माना है — पचमगण — वल्-न्-र्ष्व ति [kl n nw-ti] [स० शृणोति]

नवम गण—\*त्-न्-ए-ति [ pl-n-e'H-ti ] [स० ष्णाति]; सप्तम गण \*-यु-न्-ए-ति [ yu-n-e'g-ti ] [स० युनक्ति] ।<sup>१</sup> प्रो० बरोने बताया है कि ये धातु मूलत व्यञ्जनान्त न होकर स्वरान्त थे । इस युष्टि इस तथ्यसे होती है कि संस्कृतमे ही या तो इनके वैकल्पिक स्वरान्त रूप पाये जाते हैं, या इनसे व्युत्पन्न रूपोमे अन्तिम व्यञ्जन छत्रि नहीं पाई जाती है — स० √युज्, के साथ ही स० √यु [ यौक्ति ] भी उसी अर्थमे प्रयुक्त होता है । √छिद् से वैक० रूप 'छिद्यति' [काटता है] पाया जाता है, तथा इसका 'क्त' प्रत्ययान्त रूप 'छिद्य' [ \*छिद्यत नहीं, वैसे इसका वैक० रूप 'छिद्य' भी है, जो \*छिद्यत्का स्थानापन्न ] है ।

इस वर्गके धातुओंके कतिपय रूप ये हैं — छिद्यति [ √छिद् ] [लं० स्किन्दो], भिनद्यि [ √भिद् ] [लं० किन्दो], पिनष्टि [ √पिष् ] [लं० पिप्तो], शिनष्टि [ √शिष् ], भुनक्ति [ √भुज् ], रुग्धि-रन्धन्ति [ √रुध् ], वृणक्ति वृञ्जति [ √वृज् ] ।

रूप — √भुज् [परस्मैपदी, 'पालन करना', आत्मनेपदी 'खाना'] ।

वर्तमान . परस्मैपदी — प्र० पु० भुनक्ति, भुङ्क्त, भुञ्जति, म० पु० भुनक्ति, भुङ्क्थ, भुङ्क्थ, उ० पु० भुनक्ति, भुञ्जथ, भुञ्जथ ।

वर्तमान आत्मनेपदी — प्र० पु० भुङ्क्ते, भुञ्जाते, भुञ्जते, म० पु० भुङ्क्ते, भुञ्जाथे, भुङ्क्थे, उ० पु० भुञ्जे, भुञ्जथे, भुञ्जथे ।

लङ् परस्मैपदी — प्र० पु० अभुनक्, अभुङ्क्ताम्, अभुञ्जन्, म० पु० अभुनक्, अभुङ्क्ताम्, अभुङ्क्त, उ० पु० अभुनजम्, अभुञ्जथ, अभुञ्जथ ।

१. हमने ? चिह्नका प्रयोग Laryngeal Sound के लिए किया है, जिसे प्रो० बरोने H चिह्न के द्वारा व्यक्त किया है ।

२. T. Burrow : Sanskrit Language p. 327.

लङ् आत्मनेपदी—प्र० पु० अभुङ्क्त, अभुञ्जाताम्; अभुञ्जत, म० पु० अभुङ्क्ष्याः, अभुञ्जायाम्, अभुङ्क्ष्वम्; उ० पु० अभुञ्जि, अभुञ्जहि, अभुञ्जमहि ।

अष्टमगण, तनादि गण :—इस गणका विकरण नो-नु के स्थानपर ओ-उ पाया जाता है। इस गणके कई धातुओंमें धात्वंशमें 'न्' पाया जाता है, यथा √त्न् धातुमें जिसका 'तनोति' रूप बनता है। इसी तरह अन्य धातुओंके उदाहरण ये हैं :—सनोति [√सन्], बनोति [√वन्], मनुते [√मन्], क्षणोति [√क्षन्]। इनके अतिरिक्त इस गणमें एक धातु ऐसा भी है, जिसमें धात्वंशमें 'न्' नहीं है यथा—√कृ [करोति, कुस्ते]। इससे हम यह अनुमान लगा सकते हैं कि यह 'न्' मूलतः धात्वंश न होकर विकरणाग ही था। इस तरह 'तनोति' का विकास \*त्न्-ने-उ-ति [tn-neu-ti] से माना गया है, जहाँ प्रा० भा० यू० धात्वंश 'न्' [त्न्] का संस्कृतमें 'अ' हो गया है। जहाँ तक √'कृ' [करोति] धातुके रूपोंका प्रश्न है, वहाँ 'नो' नहीं पाया जाता; किंतु वेद तथा अवेस्ता दोनोंमें ही यहाँ भी 'नु'-'नो' विकरण देखा जाता है :—सं० कृणोति-कृणुते, अवे० क्भर्भन ओइति [kəṛəṇ-aŋiti], प्राचीन फारसी, अकुनवम्। इससे यह अनुमान होता है कि 'करोति' जैसे संस्कृत रूप वस्तुतः 'कृणोति' के ही वैकल्पिक रूप है, जिन्हें हम प्राकृत रूप मान सकते हैं। किंतु मजेकी बात तो यह है कि प्राकृतमें वैदिक रूपोंसे विकसित 'कृणइ' रूप भी मिलते हैं, जब कि लौकिक संस्कृतमें 'कृणोति' जैसे 'नु नो' विकरणवाले रूप सर्वथा लुप्त हो गये हैं।

रूप :—√'हृ' 'करना' [उभयपदी] ।

लट्, परस्मैपदी :—प्र० पु० करोति, कुरुतः, कुर्वन्ति, म० पु० करोषि, कुरुयः; कुरुय, उ० पु० करोमि, कुर्वः, कुमः ।

लृट्, आत्मनेपदी :—प्र० पु० कुरुते, कुर्वते, कुर्वते, म० पु० कुरुष्वे, कुर्वसि, कुरुष्वे, उ० पु० कुरुवै, कुर्वहे, कुमहे ।



लङ्, परस्मैपदी — प्र० पु० अकरोत्, अकुरुताम्, अकुर्वन्, म० पु० अकरो, अकुरुवन्, अकुरुत, उ० पु० अकरवन्, अकुर्वन्, अकुर्वन् ।

लृट्, आत्मनेपदी — प्र० पु० अकुरुत, अकुर्वाताम् अकुरुंत, म० पु० अकुरुयाः, अकुर्वायाम्, अकुरुध्वम्, उ० पु० अकुर्वि, अकुर्वहि, अकुर्महि ।

नयमगण क्र्यादिगणः—इस गणका विकरण 'ना' है । इस गणमें लगभग ५० धातु पाये जाते हैं । इनके उदाहरण ये हैं — श्रोणाति [√श्री] [आयरिस 'क्रेनइड' [crenaid], तिनाति [√ली श्लेषणे], [आयरिस 'लेनइड' [lenaid] [चिपवता है], शृणाति [√शृ] 'नाश करना' [आयरिस अर्-धिनत् [ar-chrinat] [बे नष्ट होते हैं]], अइनामि [√अश्], जानामि [√ज्ञा], पुनामि [√पू], लुनामि [√लू], प्रीणामि [√प्री], वृणामि [√वृ], बध्नामि [√बन्ध्], मथ्नामि [√मन्थ्], स्तम्नामि [√स्तम्भ्] ।

इस विकरणमें मूलत दो विकरण हैं — ना = न् + आ [प्रा०भा०यू० न् + अ ? [ n + aH- ] ] । संस्कृतमें 'आ' विकरण [अन्त प्रत्यय ] कई रूपोंमें पाया जाता है, जो—'आय' वाले रूपोंमें पाये जाते हैं — गृभायति, मयायति, स्कभायति । ये वस्तुतः गृष्णाति, मथ्नाति, स्कम्नाति के वैकल्पिक रूप हैं, तथा चुरादिगणके रूप हैं । यह '—आ' विकरण कतिपय स्थानोंपर धातुका ही अग बन गया है, जैसे √उग्रा [जिनाति], √प्रा [पूणाति] में ।

इस गणके उन धातुओंमें जिनमें ह्रस्व 'इ, उ, ऋ' स्वर पाये जाते हैं, दुर्बल प्रत्ययोंके साथमें दीर्घ ई, ऊ, ऋ हो जाते हैं । यथा—पुनाति-पूत, पृणाति-पूणं । तिङ् रूपोंमें भी इन धातुओंमें कई का मूल स्वर दीर्घ हो जाता है । इस तरह इन्हें दो वर्गोंमें बाँटा जा सकता है — [१]—ना के पूर्व ह्रस्व इ उ स्वरवाले धातु, जिनाति, पुनाति, लुनाति आदि, [२]—ना के

पूर्व धातुके मूल स्वरको दीर्घ करनेवाले, प्रीणाति, श्रीणाति, आदि । इनमें द्वितीय वर्गमें केवल 'इ' कारान्त धातु ही पाये जाते हैं । कईमें दोना तरहके रूप पाये जाते हैं — विलनाति-व्लोनाति [√ व्ली] 'दवाता है' । हम बना चुके हैं कि -ना- विवरण दुर्बल तिङ् रूपोंमें -'नो'-तथा स्वर वाली तिङ् विभक्तिमें पूर्व -'न'- ही जाता है । यह विशेषता केवल सरवृत्तमें ही पाई जाती है, अन्य किमी भा० यू० भाषामें नहीं ।

रूप — √ क्री 'खरीदना' [उभयपदी]

लृ, परस्मैपदी — प्र० पु० क्रीणाति, क्रीणीत, क्रीणन्ति, म० पु० क्रीणासि, क्रीणीथ, क्रीणीथ, उ० पु० क्रीणामि, क्रीणीथ, क्रीणीथ ।

लृट्, आत्मनेपदी — प्र० पु० क्रीणीते, क्रीणीते, क्रीणते, म० पु० क्रीणीथे, क्रीणीथे, क्रीणीथे, उ० पु० क्रीणे, क्रीणीवहे, क्रीणीमहे ।

लृङ्, परस्मैपदी — प्र० पु० अक्रीणात्, अक्रीणीताम्, अक्रीणन्, म० पु० अक्रीणा, अक्रीणीतम्, अक्रीणीत; उ० पु० अक्रीणाम्, अक्रीणीथ, अक्रीणीथ ।

लृङ्, आत्मनेपदी — प्र० पु० अक्रीणीत, अक्रीणीताम्, अक्रीणत, म० पु० अक्रीणीथा, अक्रीणीथाम्, अक्रीणीथम्, उ० पु० अक्रीणि, अक्रीणीवहि, अक्रीणीमहि ।

अब हम उन विकरणोंकी ओर आते हैं, जो किन्हीं विशेष लकारोंमें प्रयुक्त होते हैं । जिस प्रकार न् विकरणके कई रूप हम अभी-अभी देख चुके हैं, उसी प्रकार मन् धातुओंके लृङ् रूपोंमें स् विकरणके कई रूप पाये जाते हैं । इस विकरणके चार रूप पाये जाते हैं — [१] लृ, [२] लृप्, [३] लृत्, [४] लृत् । वैसे लृट् लकारके कई रूपोंमें [५] विकरणहीन रूप, तथा [६] द्विर्यवाले रूप भी मिलने हैं ।

इसके पूर्व कि हम लृङ्के रूपोंपर भाषाविज्ञानिक सवेत करें, हमें इस बातकी ओर ध्यान दे लेना होगा कि निङ् चिह्नोंको भाषाविज्ञानिक दृष्टिसे हम दो बोटियोंमें विभक्त कर सकते हैं, मुख्य तथा गौण । प्रथम परिच्छेदमें हम

इत दोना प्रकारके तिङ् चिह्नोका जिक्र प्रा० भा० यू० क्रियाओंके सबंधमे कर चुके हैं । इस सम्बन्धमें पहले यह ममज्ञ लिया जाय कि प्रमुख तथा गौण चिह्न दोनोना प्रयोग वतमान कालके रूपमें पाया जाता है, जब कि लुङ् [अयोरिस्ट]के साथ केवल गौण तिङ् चिह्नोका ही प्रयोग होता है । इस दृष्टिसे इन दोनोंमें इसके अतिरिक्त कोई भेद नहीं माना जा सकता । वस्तुतः ये 'अ' विकरण वाले लुङ् रूप वे वर्तमान रूप ही हैं, जिनमें गौण चिह्न प्रयुक्त होते हैं । यही कारण है कि इस प्रकारके लुङ् रूप उन्ही गणामें पाये जाते हैं, जो '[ष् ] अ—' विकरणसे युक्त पाये जाते हैं । स् विकरणवाले लुङ् रूपाका सबन्ध इसी प्रकार स् विकरणवाले वर्तमान रूपवाले धातुआसे जोडा जाता है, किन्तु सस्मृतमें शुद्ध स् विकरणवाले धातु नहीं पाये जाते । यह स् वस्तुतः ष से मिलकर स्य वे रूपमें पाया जाता है, जो मस्कृतम भविष्यत्के रूपोंमें प्रयुक्त होता है । सस्मृतमें यह स्य, वक्ष्यामि तथा रेक्ष्यति में स्पष्ट है । वस्तुतः आरम्भिक स्थितिमें ये स्य वाले रूप भविष्यत्के अर्थमें प्रयुक्त न होकर [सत्तन्] वर्तमानके अर्थमें प्रयुक्त होने थे । इन्हीसे स्य विकरणवाले लुङ् रूपोका सबन्ध माना जाता है । आगे जाकर यह स्य भविष्यत्के अर्थमें प्रयुक्त होने लग गया । स् की मीमासा ही जानेपर स की भी ममस्या सुलझ जाती है, जो स् तथा अ विकरणके योगसे बना है । स विकरणवाले लुङ् रूपोको एक विशेषता है कि यह केवल नौ ही धातुआम पाया जाता है, तथा उन धातुओंके अन्तमें ज्, श्, स्, ह्, ध्नियाँ पाई जाती हैं । उदाहरणके लिए हम इन रूपोंको ले सकते हैं —

✓ मृज्-अमृक्षत्, ✓ स्पृश-अस्पृक्षत्, ✓ र्ह्-अरुक्षत् ।

मस्कृतमें स्य वाले भविष्यत् रूपोंमें सेट् रूप भी पाये जाते हैं, जिन्हें हम क्षरिष्यति, भविष्यति आदिमें पा सकते हैं । अर्धात् भविष्यत्के इन रूपोंमें 'इष्य' [इष्य] विकरण पाया जाता है । जिस प्रकार स् [लुङ्का विकरण] स्य से सम्बन्धित है, उसी प्रकार इष् [लुङ्का विकरण] \*'इष्य' [इष्य] से सम्बद्ध है, जो वस्तुतः स् का ही 'सेट्' रूप है । अगलमें यह

अलगसे विकरण न होकर स् के ही अन्तर्गत है। इस सेट् लुङ् रूपका उदाहरण हम  $\sqrt{\text{'स्तद्' [-स्तृ]—अस्तस्तिपम्}$  दे सकते हैं। संस्कृतमें शिष् विकरणवाले लुङ् रूप भी पाये जाते हैं, किन्तु ये रूप बहुत कम पाये जाते हैं। इसकी उत्पत्ति एक समस्या है। संभव है, यह विकरण स् तथा इप् दोनोंके सम्मिश्रणसे बना हो। इसके रूप अयासिपम्, अयासिष्टाम् आदिमें देखे जा सकते हैं। इस सम्बन्धमें यह भी कह दिया जाय कि स् विकरणयुक्त लुङ् रूप ग्रीकमें भी पाये जाते हैं, तथा वहाँ कई धातुओंमें लुङ्में, यह स् प्रयुक्त होता है। किन्तु जिन ग्रीक धातुओंके अन्तमें र, ल या अनुनासिकध्वनि होती है, वहाँ यह स् लुप्ता हो जाता है। स् विकरणवाले रूप ग्रीकमें दुर्बल लुङ् [weak Aorist] कहलाते हैं, यथा ऐ-लु स् अ [ऐलुस] [e lu-s-a]।<sup>१</sup> दूसरे प्रकारके सबल "अयोरिस्टामें" यह स् नहीं पाया जाता। यह उन धातुओंमें नहीं पाया जाता, जिनके वर्तमानमें किसी विकरणका प्रयोग पाया जाता है। जहाँ वर्तमानके रूपोंमें कोई विकरण पाया जाता है, वहाँ लुङ् रूप सीधे मूल [धातु] रूपसे बनाये जाते हैं। वर्तमानके रूपोंसे भूतकालके घोटनके लिए [अनद्यतनभूते] लट् [imperfect] के रूप बनाये जाते हैं।<sup>२</sup> ठीक यही बात कई धातुओंमें संस्कृतमें पाई जाती है। उदाहरणके लिए  $\sqrt{\text{गम्}}$  धातुको लीजिए। इसने वर्तमानके रूपामें 'च्छ' [\*श्च] विकरणका प्रयोग होता है, किन्तु लुङ्में इसके रूप सीधे गम् से ही बनते हैं, जब कि लट्में वर्तमानके लट्के रूपाकी तरह ही स विकरणवाले रूप पाये जाते हैं। उदाहरणके लिए निम्न रूपाको लीजिए—

१. इन्हें ग्रीकमें सिगमेटिक अयोरिस्ट [Sigmatic Aorist] भी कहते हैं। दे० King and Cockson : Comparative Grammar of Greek and Latin p. 140

२. Atkinson : Greek Language pp 90-91.

✓ गम्-गच्छामि [ लट् ], अगच्छम् [ लङ् ], अगमम् [ लुङ् ] । इसी धातुके समानान्तर ग्रीक धातुके निम्न रूपोंमें भी हम यही बात देख सकते हैं:—बोस्को [ bosko ] [ मैं जाता हूँ ], बोस्कोन् [ boskon ] [ Imperfect ] [ मैं गया, लङ् रूप ], बो-ओन् [ bo-on ] [ Aorist ] [ मैं गया, लुङ् रूप ], । इस प्रकार सबल 'अयोरिस्ट' [ लुङ् ] प्रायः वही तिङ् चिह्न प्रयोगमें लाते हैं, जो 'इम्परफेक्ट' [ लङ् ] में होते हैं । इन दोनोंका खास भेद यही है कि एकमें वर्तमानवाला विकरण प्रयुक्त नहीं होता, दूसरेमें वह प्रयुक्त होता है । उत्तम पुरुष एवञ्चनका 'लुङ्' [ Aorist ] का तिङ् चिह्न संस्कृतमें अम् है, ग्रीकमें 'ओन्' [ on ] ।

लुङ् रूपोंमें अब जो श्रेणी बची रही, वह द्वित्ववाली है, उदाहरणके लिए हम ✓ जन् धातुके अजीजनत् रूपको ले सकते हैं । सर्वप्रथम, यह द्वित्व एक समस्या उत्पन्न कर देता है, क्योंकि प्रायः लुङ् रूपोंकी रचना धातुके मूल रूपके आधारपर ही बनती है, साथ ही जिन धातुओं [ जृहोत्यादि गण ] के वर्तमाने लट्वाले रूपोंमें द्वित्व पाया जाता है, वहाँ लुङ्में द्वित्वका अभाव है । वैसे पदरचनात्मक दृष्टिसे इनका सम्बन्ध गौण तिङ् चिह्न युक्त वर्तमानके द्वित्व रूपोंसे जोड़ा जा सकता है, या द्वित्ववाले [ परोक्षभूते ] लिट्के रूपोंसे । फिर भी ये रूप एक समस्या ही बने रहते हैं । इनके समानान्तर रूप केवल अवेस्तामें ही देखे जाते हैं, यथा, बीञ्चनत् [ zizanat ] [ सं० अजीजनत् ] । संभवतः इस तरहके लुङ् रूप भारत-ईरानी वर्गकी ही विशेषता है ।

लुङ्के इन विभिन्न रूपोंके विद्मात्र उदाहरण ये हैं.—

[अ] मूल धातुवाले लुङ् :—✓ दा-अदात्, अदाताम्, अदुः;  
✓ भू-अभूत्, अभूताम्, अभूवन् ; आदि रूप ।

[आ] अ विकरणवाले लुङ् —✓ सिच्-[ परस्मैपदो ] असिचत्,

असिचताम्, असिचन्; [ आत्मनेपदी ] √ असिचत, असिचताम्, असिचन्त आदि रूप ।

[ इ ] द्वित्ववाले लुट् रूप — √ शि-अशिथियत्, अशिथियताम्, अशिथियन्, √ मील्-अमिमोलम् [ उ० पु० ए० व० ], √ द्रु-अवृद्रुवम्, √ जन्-अर्जाजनम्, √ मर्-अमोमरम्, √ दर्श-अदोदृशम्, √ विश्-अवोविशम्, √ युज्-अयूयुजम् ।

[ ई ]-न्-वाले लुट् रूप — √ रुष्-अरूत्सीत्, अरूत्ताम्, अरूत्सु, [ परस्मैपदी ], अरुत्, अरुत्साताम्, अरुत्सत, [ आत्मनेपदी ] √ नी-अनंषीत्, अनंष्टाम्, अनंषु [ परस्मैपदी ], अनेष्ट, अनेषाताम्, अनेषत [ आत्मनेपदी ]

[ उ ]-इप्-वाले लुट् रूप — √ बुष्-अबुधीत्, अबुधिष्टाम्, अबुधिषु [ परस्मैपदी ], अबुधिष्ट, अबुधिषाताम्, अबुषित [ आत्मनेपदी ]

[ ऊ ]-मिप्-वाले लुट् रूप :— √ घा-अघासीत्, अघासिष्टाम्, अघासिषु ।

[ ए ]-स-वाले लुट् रूप — √ दिश्-अदिक्षत्, अदिक्षताम्, अदिक्षन् [ परस्मैपदी ], अदिक्षत, अदिक्षाताम्, अदिक्षन्त [ आत्मनेपदी ] ।

[ ऐ ]-इ-वाले कर्मवाच्य क्रियाओंके लुट् रूप — यह 'इ' विकरण केवल प्रथम पुरुषके ए० व० में ही प्रयुक्त होता है, जो उपर्युक्त विकरणोंसे गर्वथा भिन्न है । 'अज्ञावि' [ √ ज्ञा से कर्मवाच्य रूप ] अज्ञावि [ √ हृश् से कर्मवाच्य रूप ] । इ, उ या ऋ स्वर ध्वनिवाले धातुआमें इन लुट् रूपोंमें स्वर ध्वनिना गुणीभाव पाया जाता है—अचेति [ √ चित् से कर्मवाच्य ], अबुधि [ √ बुष् ], असति [ √ सृज् ] । अन्य स्थानोंपर वृद्धि रूप अधिक पाया जाता है—अगमि [ √ गम् ], अकारि [ √ कृ ], √ अस्तावि [ √ स्तृ ], √ अध्यावि [ √ श्रू ], गुणम्प, वम [ अजनि-√ जन्, अवधि-√ यप् ] । यह 'इ' ईरानी वर्गमें पाया जाता है, यथा अवे०

त्रावि [सं० श्रावि]; पु० फारसी अदारिय् [सं० अघारि], किन्तु अन्यत्र नहीं पाता जाता ।

दिवादिगणके संबंधमें हम एक विकरणका उल्लेख कर आये हैं । यह विकरण 'य' है । वैसे यह विकरण हम पश्यति में भी देख सकते हैं, जो संस्कृतमें दिवादिगणका धातु न होकर भ्वादिगणका धातु है । यह पश्यति संस्कृतमें √इश् धातुका रूप माना जाता है, पर भाषा-वैज्ञानिक दृष्टिसे इसका मूलरूप अलग धातु √\*पश् रहा होगा । यह य विकरण, जो इस धातुके वर्तमान रूपमें स्पष्ट है प्रा० भा० यू० से ही विकसित हुआ है, यह तथ्य अवेस्ता स्पसयेइति [spasayeti], तथा स्तिति स्पेकिप्रो [specio] से स्पष्ट है । किन्तु संस्कृतके लुङ् रूपमें यह य नहीं पाया जाता, इससे यह अनुमान होता है कि यह य वस्तुतः अ विकरणका ही विकसित रूप है । इसीलिए कई धातुओंमें अ तथा य दोनों प्रकारके वर्तमान रूप पाये जाते हैं । यथा, राधति, राध्यति, तृपति, तृप्यति । आगे जाकर यह य संस्कृतके कर्मवाच्य [भाववाच्य] रूपमें प्रयुक्त होने लग गया, पठ्-पठ्यते, भुञ्-भुज्यते, √दा-दीयते, √भू-भूयते । यह य, [अ + य] के रूपमें गिजन्त रूपोंमें भी पाया जाता है, यथा पाठयति, भोजयति, दापयति, भावयति ।

अब तक हमने वर्तमाने लट् तथा लुङ्का विचार किया, क्योंकि ये ही धातुओंके दो प्रकारों—सार्वधातुक तथा आर्धधातुक रूपोंके निर्णायक हैं । एक कोटि सार्वधातुक रूपोंकी भित्ति है, तो दूसरी आर्धधातुक रूपोंकी । ये रूप निर्देशात्मक हैं । अब हम हेतुहेतुमत्के रूपोंकी लेंगे । इन रूपोंमें वेदमें, प्रायः अ विकरणका प्रयोग पाया जाता है । इस संबंधमें यह बात ध्यान देने की है हेतुहेतुमत् [conditional] के रूपोंमें गौण निङ् चिह्नका प्रयोग होता है । उदाहरणके लिए शृण्वद् यचांसि मे, में [शृण्व + अ + त्] पाया जाता है । सैद्धान्तिक दृष्टिसे वर्तमाने लट् तथा लुङ् दोनोंके समान हेतुहेतुमत् रूप संस्कृतमें पाये जाने चाहिए थे, किन्तु ऐसे रूप

वेदमें बहुत कम पाये जाते हैं, इसका एक उदाहरण ऊपर दिया गया है। भविष्यत् [ लृट् ] से प्रभावित हेतुहेतुमत् वाला [ लृड् वाला ] रूप वेदमें केवल एक बार ही प्रयुक्त हुआ है, जो 'करिष्यः' [ लौ० सं० अकरिष्यः; √ कृ ] है। लृट्के आधारपर बनाये गये हेतुहेतुमत् रूप भी बहुत कम पाये जाते हैं; उदाहरणके लिए 'नेषत्' [ √ नी ] को ले सकते हैं। लौकिक संस्कृतमें आकर हेतुहेतुमत्में केवल भविष्यत् [ लृट् ] से प्रभावित रूप ही पाये जाते हैं, जिनमें आरंभमें भूतकाल [ लृड् तथा लृङ् ] की तरह अ्र का आगम तथा अन्तमें गौण तिङ् विभक्तियाँ पाई जाती हैं।

भविष्यत्के लिए संस्कृतमें दो लकार पाये जाते हैं :—लृट् तथा लृङ् । लृट्में धातुके गुणीभूत रूपके साथ रूप या—इष्य जोड़ दिया जाता है, तथा दास्यति, [ √ दा ] घोक्ष्यति, [ दुह् ] पठिष्यति [ √ पठ् ] गमिष्यति [ √ गम् ] । लृट्के तिङ् चिह्न ठीक वही होते हैं, जो वर्तमाने लृट्में पाये जाते हैं। स्य तथा इष्य वाले रूपोंके समानान्तर रूप केवल अवेस्ता तथा लियुआनियनमें पाये जाते हैं, जैसे :—अवेस्ता वक्ष्या [ vaxs'ya ] [ मैं कहूँगा ] [ सं० वक्ष्यामि ], लियुआनियन दुमोसिउ [ du'osiu ] [ मैं दूँगा ] [ सं० दास्यामि ] । ग्रीकमें इसके -सो-या-से-वाले रूप मिलते हैं :—ग्रीक स्तेसो [ stē-sō ] [ सं० तिष्ठामि ], दो-सो [ dō-sō ] [ संस्कृत दास्यामि ] तेनेसो [ tenesō ] [ सं० तनिष्यामि ] । आरंभिक संस्कृत भाषामें यह लकार अवेस्ताकी भाषाकी भाँति बहुत कम पाया जाता है, तथा भविष्यत् कालके बोधनके लिए वहाँ हेतुहेतुमत्का प्रयोग देखा जाता है, धीरे-धीरे परवर्ती कालकी भाषामें इसका प्राचुर्य हो गया है।

इसके अतिरिक्त संस्कृतमें लृट्का प्रयोग भी भविष्यन्तमें पाया जाता है। इसका विकास संस्कृतके -त्त् [ -त् ] प्रत्ययवाले कर्त्तृबोधक प्रत्ययने

१. King and Cockson : Comparative Grammar of Greek and Latin, p. 141.



हुआ है, जिनके साथ  $\sqrt{\text{अस्}}$  धातुके रूपोका प्रयोग सहायक क्रियाके रूपमें पाया जाता है। प्रथम पुरुष ए० व०, द्वि० व० तथा ब० व० के रूप ठीक वही होते हैं, जो नाम शब्दके प्रथमा विभक्तिके रूप है:—कर्ता, तर्कारो, कर्तारः, दाता, दातारो, दातार, गन्ता, गन्तारो, गन्तारः। शेष रूपोंमें प्रथम पुरुष ए० व० के रूपके साथ सहायक क्रिया जोड़ दी जाती है:—म० पु० कर्तासि [कर्ता+असि], कर्ता-स्यः, कर्ता-स्य, उ० पु० कर्तास्मि [कर्ता+अस्मि] कर्ता-स्य, कर्ता-स्मः। इसके आत्मनेपदी रूपोंमें प्र० पु० के रूप ठीक वही है, म० पु० तथा उ० पु० के रूप कुछ भिन्न हैं:—म० पु० कर्तासि, कर्तासाथे, कर्ताप्थे, उ० पु० कर्ताहि, कर्तास्वहे, कर्तास्महे। डॉ० चाटुज्यनि बताया है कि भविष्यत्के लिए प्रयुक्त ये यौगिक [ भविष्यत् ] रूप वस्तुतः संस्कृतपर प्राकृतका प्रभाव है। वैदिक संस्कृतमें ये रूप नहीं पाये जाते। यही नहीं, परवर्ती संस्कृतमें लिट् [ या सम्पन्न भूतकाल ] तथा हेतुहेतुम्त् या संभाव्य भविष्यत्के रूप, जो क्रमशः ग्रामंत्र-यामास, ग्रामंत्रयाञ्चकार, कारयामास, कारयाञ्चभूव, कारयाञ्चकार तथा अभविष्यत्, अकरिष्यत् जैसे उदाहरणोंमें पाये जाते हैं, यौगिक रूप हैं, इन्हें भी डॉ० चाटुज्यनि आदिम प्राकृतोंका प्रभाव माना है। यहाँ यह संकेत कर देना अनावश्यक न होगा कि इनमेंसे वैदिक भाषामें केवल लिट् के यौगिक रूप मिलते हैं, जो सबसे पहले यजुर्वेदमें पाये जाते हैं।

विधिलिङ् [ optative ] का प्रयोग दो अर्थोंमें पाया जाता है। प्रथम यह किसी ऐसे संभावनाके भावको घोषित करता है, जो निर्देशात्मक [ Indicative ] कोटिके द्वारा अभिव्यक्त तथ्यसे विरुद्ध है, दूसरे यह किसी इच्छाकी अभिव्यंजना करता है। इन दोनों प्रकारके उदाहरण ये हैं—

[ १ ] विश्वे च क्षत्राय च समवं शुषाम् । [ मं समाज तथा क्षत्रोमें परस्पर कलह कराऊँ । ]

[ २ ] इम्पती अशनीपाताम् । [ पति-पत्नी भोजन करे । ]

विधिलिङ्का विकरण य है, जो दुबल रूपोंमें ई [ ]\*<sup>१०</sup>] हो जाता है, तथा दद्याम् [ दद् [√दा] + य + घम् ], ददीत [ दद् + इ + त ] । यही विकरण लैतिनमें भी पाया जाता है । ग्रीकमें यह विकरण घ्रा से युक्त होकर घ्राइ [oi] के रूपमें पाया जाता है, जैसे ग्रीक फेरोइ [ pheroi ] [स० भरेत्] । संस्कृतमें यह \*घ्राइ, ए [अ + इ] हो गया है, जो भरेत् में स्पष्ट है । वैदिक संस्कृतमें लुङ्के आधारपर स् विकरण युक्त विधिलिङ्के रूप भी पाये जाते हैं, जिनमें धातुका स्वर 'इ' बना दिया जाता है, यथा, दिषीय [√दा] । संस्कृतका आदीलिङ्, विधिलिङ्से केवल इसी बातमें भिन्न है कि इसके रूप सदा लुङ् रूपोंके ही आधारपर बनते हैं, जब कि विधिलिङ् वाले रूप वर्तमान रूपोंके आधारपर बनते हैं । वैसे इन दोनोंके तिङ् चिह्न गौण हैं, तथा प्रायः एकमे ही होते हैं । उदाहरणके लिए गच्छति [लट्], गच्छेत् [विधिलिङ्], तथा अगमत् [लुङ्], गम्यात् [आ० लिट्] रूपोंकी देखाएँ, जिनसे यह भेद स्पष्ट हो जायगा ।

विधिलिङ्में अ-विकरणहीन तथा अ-विकरणयुक्त रूपोंमें उदात्त स्वरकी दृष्टिसे निम्नता पाई जाती है । अ-विकरणहीन धातुओंमें उदात्त स्वर तिङ्दापर पाया जाता है, जब कि अ-विकरणयुक्त धातुओंमें वह धात्वरा

पर पाया जाता है — भवेत्, भवेताम्, भवेयु [पर०], भवेत्, भवेयाताम्,

भवेरन्, [आत्म०] द्विष्यान्, द्विष्याताम्, द्विष्यु [पर०], द्विषीत्, द्विषीयानाम्,

द्विषीरन् [आत्म०]

मसृत्तरे लोट्याले रूपोंमें वस्तुतः कई रूपोंकी लिखनी पाई जाती है । इसके प्रथम पुरुषके तीनों वचनके रूप हेतुहेतुमत् वाले [subjective] वैदिक रूप हैं, तथा मध्यम पुरुष तथा प्रथम पुं० के द्वि० व० एव म० पुं० ए० व० के रूप निषेधार्थक वैदिक रूप [injunctive

forms] । म० पु० ए० व०, प्रथम पुह्य ए० व० तथा व० व० के रूप विशेष महत्त्वपूर्ण हैं । म० पु० ए० व० म यिमेटिक क्रियाओंमें क्रियाका मूलधातु रूप ही प्रयुक्त होता है, वस्तुतः यहाँ 'शून्य' तिङ् चिह्न पाया जाता है । यह विशेषता यही नहीं अन्य भारतयूरोपीय भाषाओंमें भी पाई जाती है :—स० भर अवे० वर, ग्रीक फरे, फ्रान्सीयन बेर, गार्थिक बहर, आयरिश बेहर ।

स० पृच्छ, लं० पोस्क; सं० अज, ग्रीक, अर्ग, लं० अर्ग ।

किंतु अथेमेटिक धातुओंमें यहाँ -हि [-धि] वाले रूप पाये जाते हैं — सं० इहि, अवे० इदि, ग्रीक इथि स० विद्धि, ग्रीक इस्थि । इस -धि के अन्य उदाहरण जुहुधि [√हृ], भृष्टुधि [√धृ] मधि [√गा], वृधि [√वृ] है । प्रथम पु० ए० व० व० व० में गौण तिङ् चिह्न-त्-, -न्त् के साथ-उ जोड़ा जाता है —'भवत् उ' [भवत्], भवन्त्-उ [भवन्त्] । यह-उ तिङ् चिह्न हिती भाषामें पाया जाता है —एशु [स० अस्तु], कुण्डु [स० हन्त्], कुनन्दु [स० घन्त्] । आत्मनेपदी रूपोंमें म० पु० ए० व० में -'स्व' चिह्न पाया जाता है । यह तिङ् चिह्न केवल अवेस्तामें मिलता है— अवे० फ्रस्वडा [स० कुरुस्व], बरडुह [भरस्व] । प्रथम पु० ए० व० व० व० में—आम् तिङ् चिह्न पाया जाता है । यह अवेस्ताम्में—अम् पाया जाता है —वरैपयतम्, खओसेन्तम् ।

संस्कृत लिट् लकारके रूपोंकी दो प्रमुख विशेषताएँ हैं, प्रथम तो इसमें धातुका द्वित्व पाया जाता है, दूसरे तिङ् चिह्न वर्तमानके मुख्य तथा लुङ् के गौण तिङ् चिह्नोंसे भिन्न होते हैं । लिट् लकारमें द्वित्ववाले अक्षर [पाणिनिने इसकी पारिभाषिक सज्ञा, 'अभ्यास' दी है] में प्रायः 'अ' स्वर [प्रा० भा० पु० अ] प्रयुक्त होता है, किंतु जिन क्रियाओंमें मूल स्वर इ या उ होता है, वहाँ द्वित्ववाले अक्षरमें 'अ' के स्थानपर क्रमशः इ या उ स्वर

पाया जाता है—पपाठ [√पठ्], बभाज [√भज्], दिद्वेष [√द्विप्], लिलेह [√लिह्], बुबोध [√बुध्], चुक्रोध [√क्रुध्] । लिट् के द्वित्वीकरणकी दृष्टिमें इन रूपोंको निम्न वर्गोंमें बांटा जा सकता है—

[१] वैदिक संस्कृतमें कतिपय लिट् रूपोंमें द्वित्वाक्षरमें 'अ' 'इ' 'उ' के स्थानपर दीर्घ स्वर 'आ' 'ई' 'ऊ' पाया जाता है, यथा दाधार [√धृ], जागार [√गृ], मामृजे [मृज्], पीपाय [√पा], तूताव । वस्तुतः ये पौनःपुन्यार्थक बोधक द्वित्वके रूप हैं ।

[२] 'ऊ' स्वरवाले दो धातुओंमें द्वित्वरूपमें 'अ' स्वर पाया जाता है—बभूव [√भू], ससूव [√सू] ।

[३] आदिमें 'अ' स्वर ध्वनिवाले धातुओंमें लिट् में आ [अ + अ] पाया जाता है । यथा, आद [∠ \*अअद] [√अद], आस [∠ \*अअस] [√आस] । आदिमें अ ध्वनिवाले कतिपय धातुओंमें द्वित्व रूपसे 'नृ' ध्वनि भी पाई जाती है; आनञ्, आनजे [√अञ्ज], आनञ्, आनशे [√अश्] । इसके सादृश्यपर आदिमें ऋ ध्वनिवाले धातुओंमें भी यह 'नृ' तत्त्व पाया जाने लगा है : आनर्चं, आनृचे [√ऋच् अथवा√अर्चं] ।

[४] आदिमें इ या उ ध्वनिवाले धातुओंमें इ-उ का द्वित्व होता है, द्वितीय अक्षरमें इ, उ का गुण रूप 'ए'-'ओ' पाया जाता है तथा प्रथम अक्षर एव द्वितीय अक्षरके स्वरोमें संधि रोकनेके लिए 'य' अथवा 'व' श्रुतिना प्रयोग किया जाता है; दुर्वल रूपमें इ तथा उ को ई तथा ऊ बना दिया जाता है । इयेप [इ + य् + एप], ईषे [इ + इषे] [√इप्], उवोच [उ + व् + ओच], ऊचे [उ + उचे] [√उच्] ।

[५] य तथा कतिपय व वाले धातुओंमें भी इसी तरहका द्वित्व पाया जाता है; यहाँ भी दुर्वल रूपमें क्रमशः ई-ऊ पाये जाते हैं—इयाज-इजे [√यज्], उवाच—ऊचे [√वच्] ।

[६] जिन धातुओंमें 'अ' ध्वनि व्यञ्जन-मध्यग है, वहाँ द्वित्वरूपमें 'अ'

ही पाया जाता है, पपात, बभाज, बभार [√भृ-भर्], पपाठ, जगाम । इसके दुर्बल रूपमें वहाँ धातुके 'भ्र' के स्यातपर 'ए' हो जाता है तेने, पेचे ।

[७] संस्कृतमें एक धातु ऐसा भी है, जिसमें लिट्में धातुका द्वित्व नहीं होता • सं० वेद [√विद्] । इसके अन्य भा० यू० समानान्तर रूप भी द्वित्वहीन ही है • ग्रीक ओइद [oida], गॉथिक वइत [wait] । वैदिक संस्कृतमें कतिपय अन्य द्वित्वहीन लिट् रूप भी मिलते हैं —तक्षयुः, तक्षु, स्कम्भयु, स्कम्भु ।

भा० यू० परिवारकी कई भाषाओंमें लिट् [परिपूर्ण भूत] में यह द्वित्व प्रक्रिया नहीं पाई जाती । लैटिन तथा जर्मनीय वर्गमें द्वित्व प्रक्रिया नहीं है । इससे यह अनुमान किया जाता है कि जिस तरह लुड् एव लड्के रूपोंमें प्रा० भा० यू० में 'अ' आगमका प्रयोग अश्यावश्यक था उस तरह लिट्के रूपोंमें द्वित्व प्रक्रिया आवश्यक नहीं मानी जाती थी । वैसे ग्रीक तथा संस्कृतने लिट् रूपोंमें द्वित्व प्रक्रियाका पालन किया है, किन्तु यहाँ भी सं० वेद, ग्रीक ओइद जैसे द्वित्वहीन छुटपुट-रूप मिल ही जाते हैं । भा० यू० भाषाओंके लिट्के समानान्तर रूपोंके कतिपय उदाहरण ये हैं:—

स० जजान, ग्रीक गेगेने स० ददशं, ग्रीक देदेक<sup>१</sup>; स० चिच्छेद, विच्छिद्ये, लै० स्किदिदी [scicidi], गॉथिक स्कइस्कइय [skai-skaiθ], विदेश, दिविशे, ग्रीक देदेइख [dedeikha], देदेइग्मइ [dedeigmai], रिरेच, रिरिचे, ग्रीक सेलोइय, लै० लीक्वी [liqui], गॉथिक लइह्व [laihw], स० निनेज, निनिजे, आयरिश नेनइग [nenag] ।

स० तुतुद, तुतुड्, लै० तुतुदी [tutudi] गॉ० स्तइस्तौत [staitaut] ।

सं० धवत्, लं० वर्ती, वर्ती [verti, vorti], गार्थिक वर्ष [warfi] ।

सं० दधर्ष, गार्थिक म-दर्स [ga-dars]

सं० जघान, आयरिष उ० पु० ए० व० गेगोन [gegona], प्र० पु० ए० व० गेगोइन [gegoin]

तिङ् चिह्नः—सर्वप्रथम तिङ् प्रत्यय कर्तृवाच्य [परस्मैपद] तथा स्ववाच्य [आत्मनेपद] के आधारपर दो तरहके होते हैं । इसके बाद प्रत्येक कोटिमें मुख्य तिङ् चिह्न तथा गौण तिङ् चिह्न इन दो श्रेणियोंको और माना जा सकता है । ये तिङ् चिह्न पुरुष तथा वचनके अनुसार भिन्न-भिन्न हैं, तथा प्रा० भा० यू० 'अधेमतिक' तथा 'धेमतिक' रूपोंमें भी ये तिङ् चिह्न भिन्न-भिन्न प्रकारके थे, किन्तु संस्कृतमें आकर यह दूसरा भेद नहीं पाया जाता । [परोक्षभूते] लिट्के तिङ् चिह्न संस्कृतमें विल्कुल अलग तरहके हैं । मुख्य चिह्नो तथा गौण चिह्नोमें जो प्रमुख भेद है, यह यह है कि मुख्य चिह्नोमें तिङ् चिह्नोका सबल रूप [strong form] पाया जाता है, जब कि गौण चिह्नोमें उनका दुर्बल रूप [weak form] पाया जाता है । उदाहरणके लिए, उत्तम पुरुष, मध्यम पुरुष तथा प्रथम पुरुष एववचनके मुख्य तिङ् चिह्न क्रमशः मि, सि, ति [भरामि, भरसि, भरति] हैं, जब कि गौण तिङ् चिह्नोमें इनके दुर्बल [स्वरहीन] रूप-म्, स्, त् [अभरम्, अमरः, अमरत्] पाये जाते हैं । यह दुर्बल रूप प्रा० भा० यू० में भी पाया जाता था । श्रीकमे भी इसका अस्तित्व है । संस्कृतके एक और चिह्नको ले-लें—प्रथम पुरुष बहुवचनका तिङ् चिह्न 'न्ति' है, जब कि गौण रूपोंमें वह \*न्त् पाया जाता है । इस \*न्त् का त् अक्षर लुप्त हो जाता है, और इस तरह केवल न् बचा रहता है, यथा भरन्ति; अमरन् [ \*अमरन्त् ] । विकरणहीन धातुओंमें यह न्ति प्रायः अति के रूपमें परिवर्तित हो जाता है, यथा √वा-ददति । यस्तुत. व्यञ्जनके बाद यह न्ति, अति हो जाता है [ \*वद् + न्ति ] (वद्-न्ति)-वद् +

घनि = दहति] । उत्तम पुरुष बहुवचनरा मुख्य तिङ् चिह्न घसि है, जो मङ्कृतमें मस् [म], [यथा, पठाम में] पाया जाता है । अवेस्तामें यह 'महि' [Mahi] हो गया है । ग्रीकमें इसका समानान्तर 'मेन्' [Men] बादमें विकसित हुआ है । ग्रीककी एक विभाषा दोरिक [Doric] में यह मेन् [Mes] पाया जाता है । इसीका गौण रूप केवल 'म' [माम] रह गया है, जो अण्ठाम, अण्ठराम, अण्ठद्याम आदि रूपाम स्पष्ट है । वर्तमाने लिट्के मध्यम पुरुष ए० व० का 'घ' तिङ् चिह्न सभवत लिट्वा प्रभाव हो, मिलाए— भरघ, घठय । द्विवचनके तिङ् चिह्नोका विकास प्रत्येक भाषामें स्वतन्त्र रूपमें पाया जाता है, अतः भाषावैज्ञानिक दृष्टिस इनके विकासपर कोई निश्चित मत नहीं दिया जा सकता । वैसे ये चिह्न तस्, घस, घस् [त, घ, घ] तथा ताम् तम, व है ।

परोक्षभूते लिट्के तिङ् चिह्न सर्वथा भिन्न है और ये चिह्न प्रा० भा० यू० ल्यार चिह्नसि ही विकसित हुए हैं । प्रथम तथा उत्तम पुरुष ए० व० का चिह्न अ है, जो सं० वेद, ग्रीक [वा-] ओइवा [W]oida में पाया जाता है । इसका प्रा० भा० यू० रूप \*अ [ \*o ] था । मध्यम पुरुष ए० व० का चिह्न घ है, जो ग्रीकमें भी घ ही है, किन्तु ग्रीक घ का विकास प्रा० भा० यू० \*घ से भी हो सकता है, अतः इसका प्रा० भा० यू० रूप अनिश्चित ही है । सङ्कृतमें लिट्के प्रथम पुरुष ए० व० का चिह्न उ [ >उर् ] है, जो जम्भु, पेठु आदि रूपोंमें स्पष्ट है । यह 'उर्' अवेस्तामें अर्भश तथा लैतिनमें एरे पाया जाता है । लिट्के अन्य चिह्न प्रायः वर्तमानके चिह्नसि विकसित हुए हैं ।

प्रा० भा० यू० में स्ववाच्य [ आत्मनेपद ] ए० व० के तिङ् चिह्न \*अइ, \*सइ, \*तइ है । इन्हींसे सङ्कृतके ए [भापे], से [भापसे], ते [भापते] विकसित हुए हैं, किन्तु ग्रीकमें अइ, सइ, तइ ही रहे हैं । प्र० पु० व० व० में प्रा० भा० यू० तिङ् चिह्न \*तइ है, जो सङ्कृतमें-न्ते

[भाष्यते] पाया जाता है, किन्तु जुहोत्यादि धातुओंमें यह चिह्न केवल अते [दद् + अते = ददते] ही है। उत्तम पु० बहू० व० में मुख्य तिङ् चिह्न महे [भाषानहे, भरामहे], तथा गीण तिङ् चिह्न 'महि' [अभाष्यामहि] है। मध्यम पु० बहू० व० का मुख्य तिङ् चिह्न ध्वे [प्रा० भा० यू० \*ध्वइ] है, जो अवेस्तामें बुधे हो गया है। इसका गीण चिह्न ध्वम् है जो अवेस्तामें 'द्वम्' है। आत्मनेपदके गीण तिङ् चिह्नोंमें संस्कृतमें लुङ्के उ० पु० ए० व० का चिह्न इ पाया जाता है, जो अ विकरणसे मिलकर ए भी हो जाता है, यथा √क्-अकि, √भृ-अभरे। यह इ वस्तुतः भारत-ईरानी वर्गकी ही विशेषता है।

आशायें लोट्के म० पु० ए० व० में सविकरण धातु प्रायः शून्य तिङ् चिह्नयुक्त होता है, यथा भृ + अ + ० = भर, किन्तु अविकरण धातुमें यह तिङ् चिह्न-इ [हि] होता है, यथा इहि, अदधि। यह चिह्न प्रा० भा० यू० \*धि से विकसित हुआ है। लोट्के प्रथम पु० तथा मध्यम पु० के एकवचनमें तात् तिङ् चिह्न भी पाया जाता है, यथा पठतु-पठतात्, पठ-पठतात्। यह तात् लैतिनमें तोत् [tot] के रूपमें पाया जाता है, अतः इसका विकास प्रा० भा० यू० \*तोन् [\*tot] से माना जा सकता है, जैसे बेहियो [behito], स० वृतात्, लै० एस्तो [गं रतात्] संस्कृतमें आत्मनेपदी धातुओंके कई रूपोंमें प्रथम पुरुष एकवचनमें एक 'र्' ध्वनि तिङ् चिह्नके साथ-साथ पाई जाती है। यह ध्वनि दुहाम्, दुहताम्, अस्त-सृष्टम्, अदुहन्, अशेरन् आदिमें देखी जा सकती है। यह 'रिफ' तत्व केरितक परिवारकी आयरिश तथा वेल्शमें विशेष पाया जाता है, वैसे लैतिनमें भी यह 'र्' 'मिडिल' तथा 'नेतिव' वीयमके लिए प्रयुक्त होता है।<sup>१</sup>

१. उदाहरणके लिए lucto का मिडिल वायसका रूप lucto-r = luctur पाया जाता है। दे० Cockson : P. 148-19.



इसके कुछ रूप इलेतिक परिवारकी भाषाओंमें तथा तोखारिशमें भी पाये जाते हैं। सस्कृतके परस्मैपदी तथा आत्मनेपदी रूपोंमें कई स्थानपर 'र्' पाया जाता है, यह हम देख चुके हैं। इतालिक तथा आयरिशके 'मिडिल' तथा 'पेसिव' रूपोंमें यह 'र्' तिङ् विह्लोके साथ प्रयुक्त होता है। कुछ उदाहरण ये हैं :—

आयरिश बेरि-र् [berī-r] [उसे ले जाया गया है।]

„ बेर्ति-र् [berti-r] [उन्हें ले जाया गया है।]

बेल्श केनिर् [cenir] [संगीत चल रहा है, या संगीत चलेगा।]

„ दिवेदिर [dywedir] [लोग कहते हैं।]

वस्तुतः यह र् पुरुषहीन [ impersonal ] प्रत्यय [अथवा विकरण] था, जिससे केवल क्रियामात्रका बोध कराया जाता था।

यहाँपर दो शब्द गौण धातुरूपोपर कह दिये जायें। सस्कृतके गौण धातु रूपोंको पाँच वर्गोंमें बाँटा जा सकता है—[१] कर्मवाच्य रूप, [२] यङन्त तथा यङ्लुगन्तरूप, [३] सत्तन्तरूप, [४] णिजन्तरूप तथा [५] नामधातु। कर्मवाच्य रूपोंमें 'य' विकरण पाया जाता है, इसका संवेत हम कर चुके हैं। इस दृष्टिसे ये रूप दिवादिगणी रूपोंके समान होते हैं। दूसरी विशेषता कर्मवाच्य रूपोंकी यह है कि ये सदा आत्मनेपदी ही होते हैं। इन रूपोंमें उदात्त स्वर सदा य विकरणपर पाया जाता है, जबकि दिवादिगणी

रूपोंमें यह स्वर धात्वश पर होता है—ध्रियते, ध्रियते, मुच्यते, क्षीयते। इस ढाँके कर्मवाच्यरूप केवल अवैस्तामे ही मिलते हैं, अन्यत्र नहीं—अवे० किये इन्ते [ kiyēnte ] [ सं क्रियन्ते ]। कर्मवाच्यके लिट् तथा लृट्के रूप प्रायः वही होते हैं, जो आत्मनेपदी क्रिया रूपोंके पाये जाते हैं,

यथा, ददे [दिया गया], दास्यते [दिया जायगा] । यद्भुगन्त रूपोका अस्तित्व छान्दस भाषामें भी पाया जाता है तथा वेदमें लगभग ९० धातु-ओके ऐसे रूप पाये जाते हैं । इमें धातुका द्वित्व रूप पाया जाता है । इ या उ ध्वनिवाले धातुओमें इसमें स्वरका गुणीभाव पाया जाता है — नेनेक्ति-नेनेयते [√नी], वेवेत्ति[√विद्], वेदिष्टे [√दिष्], जोह्वीति [√हृ] । क्रियाके पौन पुन्य बोधनके लिए संस्कृतमें उक्त यद्भुगन्त रूपाके अतिरिक्त यदन्त रूप भी पाये जाते हैं, जिनमें 'य' [ यद् ] विकरण का प्रयोग होता है, चूँकि उक्त रूपोंमें यह य नहीं पाया जाता, अतः उन्हें 'यद्भुगन्त' [यद् भुक् अन्त] कहा जाता है । य विकरणवाले रूप ये हैं —जाजायते, जग्ज्यते, जेजनीयते, वरीवृत्यते, नरीनृत्यते । निजत रूपोंमें चुरादि गणके धातुओकी तरह—'अय'—विकरण पाया जाता है । पाचीन भाषामें इन दोनोंमें यह भेद था कि चुरादि गणके शुद्ध धातुओमें धातुका गुणीभाव नहीं पाया जाता, जबकि निज-त रूपोंमें उसका गुणीभाव पाया जाता है—द्युतयति-द्योतयति, रुचयति-रोचयति, पतयति-पातयति । इनमें द्वितीय रूप निजत प्रक्रियाके हैं । निजन्त रूपोंमें धातुका सदा गुणी-भाव पाया जाता है —तपयति [√तृप्], धर्षयति [√धष्], बोधयति [√बुष्] । आ अ-तवाले धातुमें निजन्तमें-प्-विकरणका समावेश कर दिया जाता है —दापयति [√दा], स्नापयति [√स्ना], मापयति [√मा], यापयति [√या], । कतिपय धातुओमें-ल्, व्, ष्, त्, य् भी पाये जाते हैं —पालयति [√पा 'रक्षा करना'], पाययति [√पा 'पीना'], प्रीणयति [प्री], भीषयते [√भी], घातयति [√हृन्] । सन्त रूपोंमें स विकरण पाया जाता है तथा धातुका द्वित्व होता है —बिभित्सति, बुभुत्सामि, विदक्षामि, विविदिषामि, दित्सामि [√दा], वित्सामि [√धा], शुश्रूषामि [√श्रु], जिगीषामि [√जि] । नामधातुओका विकरण भी 'य' है, तथा इनके रूप भी निजन्तकी तरह चुरादिगणी हैं । इनमें उदात्त स्वर

विकरणपर ही होता है — दण्डयामि, अथयते, चूर्णयति, दोलायते,  
भियज्यति, तपस्यति ।

इस मब्रन्धमे थोडा विचार ऐसे धातुओपर कर लिया जाय, जो आरंभमे भिन्न थे, किन्तु बादमे जाकर परस्पर समाहित हो गये है । वैदिक मसृष्टतमे कई ऐसे धातुओका सकेत मिलता है, जो एक ही अर्थमे प्रयुक्त होते थे । धैसे मनोवैज्ञानिक दृष्टिसे इनके अर्थमे थोडा मूक्षम भेद अवश्य था । धीरे-धीरे वह भेद लुप्त हो गया तथा ये धातु एक दूसरेमे समाहित हो गये । उदाहरणके लिए  $\sqrt{\text{भू-अस्}}$ ;  $\sqrt{\text{पश्-दश्-स्पश्}}$ ,  $\sqrt{\text{गम्-गा-इष्}}$  इन तीन वर्गोंको ले लीजिए । भू तथा अस् दोनो धातु सत्तार्थक है । आरम्भिक स्थितिमे दोनो धातुओंके मभी रूप भिन्न-भिन्न पाये जाते होंगे । धीरे-धीरे  $\sqrt{\text{अस्}}$  धातु  $\sqrt{\text{भू}}$  मे समाहित होने लगा, और आज इनके अस्ति, अस्तु, आसीत्, स्यात् ये ही रूप पाये जाते हैं, बाकी रूपोंमें  $\sqrt{\text{भू}}$  के रूपोंका ही प्रयोग होता है । यदि  $\sqrt{\text{अस्}}$  का भविष्यत् [लृट्] पूछा जाय, तो वैयाकरण भविष्यति बतायेगा, \*अस्त्यति नहीं । किन्तु  $\sqrt{\text{भू}}$  धातुके स्वयंके मभी रूप सुरक्षित है, तथा वहाँ भवति, भवतु, भवेत्, अभवत्, भविष्यति, भविता, अभविष्यत्, भूयात्, बभूव, अभवत् मभी रूप पाये जाते हैं ।

$\sqrt{\text{पश्-दश्}}$  तथा  $\sqrt{\text{स्पश्}}$  तीनो धातुओंका अर्थ 'देखना' है ।  $\sqrt{\text{स्पश्}}$  धातु वेदमें पाया जाता है, किन्तु कौकिक संस्कृतमे इसका प्रयोग एक प्रकारसे नहीं पाया जाता, वैसे इससे बना नाम शब्द 'स्पश' [स्पश् + अच्] संस्कृतमें प्रयुक्त होता है, यथा 'शब्दविद्येव नो भाति राजनीति-रपस्पशा' [माघ, २ सर्ग] ।  $\sqrt{\text{पश्}}$  तथा  $\sqrt{\text{दश्}}$  दो अलग-अलग धातु थे । किन्तु वेदमें ही आकर हम देखते हैं कि  $\sqrt{\text{पश्}}$  के लुङ्वाले रूप नहीं पाये जाते । धीरे-धीरे  $\sqrt{\text{पश्}}$  [पश्य] वर्तमान तथा उससे मबद्ध लकारोंमे  $\sqrt{\text{दश्}}$  के स्थानपर आदेश माना जाने लगा, पश्यति, पश्यतु, पश्येत्,

अपश्यत् । किन्तु लुङ् तथा उससे सबद्ध लकारोम यह दृश् ही रहा, जैसे, द्रक्ष्यति, अद्राक्षीत् आदि ।

√ गम्, गा तथा √ इण् इन तीना धातुआका अर्थ 'जाना' है । √ 'गा' [गमनार्थक] धातु वेदमें पाया जाता है तथा यह 'जुहोत्यादिगण' का धातु है, जिसके रूप जिगति, जिगतु आदि पाये जाते हैं । √ गम् धातु संस्कृतमें स्वतन्त्र रूपमें पाया जाता है, किन्तु √ गा धातु व्याकरणमें √ इण् में आकर समाहित हो गया है । संस्कृत व्याकरणके अनुसार √ इण् धातुके लुङ्में 'गा' आदेश हो जाता है । पाणिनिके प्रसिद्ध सूत्र 'इणो गा लुटि' के अनुसार √ इण्-गतो धातुके लुङ्के रूप अगात् आदि बनत है । यहाँ एक प्रश्न उठना स्वाभाविक है, क्या इग √ गा वा √ गम् से कोई संबंध है ? हमारे मतानुसार इस √ गा को भी उसी प्रा० भा० यू० धातु \*ग्म् से विकसित मानना मगत है । इस \*ग्म् के, जो स्वयं शून्यरूप [zero-form] है, \*ग्म् तथा \*ग्वेम् क्रमशः गुण तथा वृद्धि रूप माने जा सकते हैं । यह वृद्धि रूप \*ग्वेम् संस्कृतमें आकर ध्वनि-शास्त्रीय नियमोंके अनुसार गा हो जायागा ।

असमापिका क्रिया [infinite verbs]—अब तक हमने समापिका क्रियाआ [finite verbs] का उल्लेख किया है । यहाँ सक्षेपमें असमापिका क्रियाआका संकेत कर देना आवश्यक होगा । इन्हें मोटे तौरपर तीन वर्गोंमें बाँट सकते हैं—[१] वर्तमानकालिक, भूतकालिक तथा भविष्यत्कालिक वृद्धन प्रत्यय । [२] तुमन्तरूप, [३] पूर्वकालिक क्रिया रूप ।

१ [अ] वर्तमानकालिक वृद्धन प्रत्यय-न्त्[—त्—], -मान, तथा -मान है । इनमें '-न्त्' परस्मैपदी रूपाके साथ जुड़ता है, शेष दो आत्मनेपदीरूपाके साथ । संस्कृत वैयाकरण इन्हें क्रमशः 'शतृद्' तथा 'शानच्' कहत हैं । शान अथेमेटिक [अ-विनरणहीन] आत्मनेपदी धातुओम प्रयुक्त होता है, शपान, दपान, दपान, जबकि-मान अथेमेटिक [अ-विनरणयुक्त] आत्मनेपदी धातुओम प्रयुक्त होता है—भाषमाण, भरमाण,

वर्तमान । इन प्रत्ययोकी व्युत्पत्तिका सकेत हम कर चुके हैं । लैतिनमें इसके समानान्तर रूप क्रमशः—'एन्त्' [-न्त्] तथा—मिनि, 'म्नुम्' पाये जाते हैं — रेगन्त् स [reg-ent-es], अलुम्नुस् [alumnus] । ग्रीकमें कर्तृवाच्य परस्मैपदी क्रियाओमें—अन्—अन्त् वाले कृदन्त रूप पाये जाते हैं —फेरोन्त्; एसागन्त् । कर्मवाच्य तथा आत्मनेपदी रूपोंमें ग्रीकमें—'मैनास्' तथा—म्नो प्रत्यय पाये जाते हैं —फेरैर्मैनास् [स० भरमाण ], बेलै म्मैान् । संस्कृतमें इन प्रत्ययोके उदाहरण ये हैं—

भवत् [भवन्त्-], भवमान, द्विषन्त्, द्विषाण, गन्त्, इयान्, बुद्ध्वत्, बुद्धान् ।

[अ] भूतकालिक कर्मवाच्य कृदन्तः—'त[क्त]' तथा 'न' । इनकी व्युत्पत्तिका सकेत हम कर चुके हैं । इनका ग्रीकमें—'तोस्' तथा लैतिनमें 'नुम्' रूप मिलता है—ग्रीक 'बतोस्' [स० गत ], बलतोस् [स० श्रुत ], लै० (इत- ) बल्लुनुस् [स० श्रुत ] । संस्कृतमें इस प्रत्ययसे निष्पन्न रूपोंमें ध्वन्यात्मक तथा सन्ध्यात्मक [Prosodic] परिवर्तन पाये जाते हैं —

दाग् [√दह], नद् [√नह], मत्त [√मद् ], लग् [√लभ् ], दिष्ट [√दिश्], सिक्त [√सिच्], श्रुत [√श्रु], मूढ [√भुह्], पृष्ट [√पृच्छ्], जात [√जन्], खात [√खन्], गित [= \*धित, ∠घा], मित [∠गा], दत्त [∠दा] शयित [∠शी], गलित [√गल्], मिलित [√मिल्], गृहीत [√ग्रह ]

कनिष्य घातुओमें कर्मवाच्य भूतकालिक कृदन्त रूपोंमें 'न' प्रत्यय मिलता है । इसका ग्रीकमें 'नैस्' तथा लैतिनमें 'नुस्' रूप पाया जाता है — ग्री०, हर्नैस्, स्तुर्नैस् लै० प्लैनुस् दिग्नुम् । संस्कृतमें इस प्रत्ययके उदाहरण ये हैं—विन्न [√सिद्], भिन्न [√भिद्], विषण्ण [√सद्], प्रापन्न [√पद्], क्षीण [√क्षी], हीन [√ही], गीर्ण

[√गिर्], जोषं [√जर्], भग्न [√भञ्ज्], भुज् [√भुर्],  
मग्न [√मग्ज्], लुग्न [√लृग्]

[३] कर्तृवाच्य भूतकालिक कृदन्तः—इतमें-तथन् [तजन्त्]  
[ग० क्तवा] प्रत्यय पाया जाता है जो वस्तुन उक्त 'त्' वाले स्पर्श  
साय-‘वन्त्’ [वत्] जोड़कर बनाया है। उक्त उक्तथन्त् [उक्तथान्त्],  
चिन्तित-चिन्तितवन्त् [चिन्तितवान्], धादिष्ट-धादिष्टथन्त् [धादिष्टथान्]।

[४] भविष्यकालिक कर्मवाच्य कृदन्त [Gerunds]—इतमें  
संस्कृतमें तीन प्रत्यय पाये जाते हैं.—-य-, -तथ्य-, -अनीय-। इतमें  
प्रथमका सर्वध प्रा० भा० यू० \*यो [10] से जोटा जाता है, जो ग्रीक  
हर्गोस् [‘agios’] से स्पष्ट है। इसके गहृत उदाहरण ये हैं—ज्य  
[√जा], ध्येय [√ध्या], विषय [वि + √बो], नेय [√नो], भाष्य  
[√भू], पाठ्य [√पठ्], वाच्य [√वच्]। द्वितीय प्रत्ययका सर्वध  
प्रा० भा० यू० \*तेषा [teuo] से जोटा जाता है जो ग्रीक ‘दोतेओस्’  
[doteos] [स० दातथ्यम्] से स्पष्ट है। इसके उदाहरण ये हैं—

स्वातथ्य [√स्था], कर्तथ्य [√कृ], धतितथ्य [ वृत्]। ‘अनीय’  
[अनीय] की व्युत्पत्ति सदिस्य है, जैसे इसकी उत्पत्ति प्रा० भा० यू०  
-\*एनी, -\*अनीसे मानी गई है, जो संस्कृतमें ‘अन’-[त्युट्] के रूपमें  
भी पाया जाता है [पचनम्, मननम्, पठनम् आदिमें]। इसके उदाहरण  
हैं—करणीय [√कृ], वशीनीय [√दृग्], भोजनीय [भुज्], पठनीय  
[√पठ्], पानीय [√पा]।

संस्कृतमें भविष्यत्के कर्तृवाच्य कृदन्त रूप भी मिलते हैं, जो वस्तुतः  
वर्तमानकालिक कृदन्तोंमें ही-‘स्य’-जोड़कर बनाये जाते हैं:—भविष्यत्,  
करिष्यमाण ।

[२] तुमन्त कृदन्त प्रत्यय [Infinitives]—वेदोंमें तुमन्त  
अर्थमें कई प्रत्यय पाये जाते हैं, जिनका संकेत हम कर चुके हैं। लौकिक

संस्कृतमें—'तु' ही बचा है । इससे मिलना-जुलता तुमन्त कृदन्त केवल लैतिन तथा लिथुआनियनमें पाया जाता है —लै० दतुम् [स० दातुम्], लिथु० देतुम् [स० घ तु], इसके रूप ये हैं —जेतुम् [√जि], भेतुम् [√भी], श्रोतुम् [√श्रु], ववतुम् [√वच्], गन्तुम् [√गम्], रोदुम् [√रुह्], द्रष्टुम् [√दृश्], भवितुम् [√भू], शषितुम् [√शी], वतितुम् [√वत्], चेष्टितुम् [√चेष्ट], प्रीतुम् [ग्रह] ।

[३] पूर्वकालिक क्रिया रूप [ Absolutives ] —पूर्वकालिक क्रियार्थमें संस्कृतमें दो प्रत्यय पाये जाते हैं —-'त्वा', -'य' [ ल्यप् ] । इनमें प्रथम शुद्ध [अनुपसर्ग] धातुके साथ जोड़ा जाता है, द्वितीय सोपसर्ग धातुके साथ । दोनोंके उदाहरण क्रमशः ये हैं —

जित्वा [√जि], नीत्वा [√नी], श्रुत्वा [श्रुं], भूत्वा [भू], मुक्त्वा [√मुच्], लब्ध्वा [√लभ्], त्यक्त्वा [√त्यज्], ज्ञात्वा [√जा], दत्त्वा [√दा], हित्वा [√घा], पीत्वा [√पा] ।

उपनीय [उप + √नी], अव-तीर्थं [√तृ], नि पत्य [√पत्], प्र विश्व [√विश्], आ-रूय [√रू], आ ज्ञाय [√जा], आ दाय [√दा], आ-गत्य [√गम्], अनु मत्य [√मन्] ।

### क्रियाविशेषण—

संस्कृत क्रियाविशेषणाको हम दो वर्गोंमें विभक्त कर सकते हैं:— एक वे क्रियाविशेषण जो मूलतः सविभक्तिक रूप थे ये वस्तुतः सज्ञा शब्द विशेषण या सर्वनामसे बने थे सविभक्तिक रूप हैं, जो धीरे-धीरे अव्ययके रूपमें प्रयुक्त होने लगे हैं, दूसरे वे क्रियाविशेषण जो किन्हीं प्रत्ययोंसे बने हैं । ग्रीक तथा लैतिनमें दोनों तरहके क्रियाविशेषण पाये जाते हैं । वहाँ भी कई सविभक्तिक शब्द क्रियाविशेषणाके रूपमें प्रयुक्त देखे जाते हैं ।<sup>१</sup>

१ Atkinson : Greek Language PP 100-101 साथही Papillon : Comparative Philology applied to Greek and Latin Inflections Appendix II C D. P 253

१. सविभक्तिक क्रियाविशेषण :—

[अ] द्वितीया विभक्तियाले क्रियाविशेषण :—

[i] संज्ञा रूपोंसे बने क्रियाविशेषण :—कामम्, समकालम्, अहर्नि-  
शम्, सुखम्, रहः ।

[ii] विशेषणोंसे बने क्रियाविशेषण :—अनन्तरम्, शिरम्, नित्यम्,  
प्रत्यक्षम्, बाह्यम्, सांप्रतम्, आशु, साधु ।

[iii] सर्वनाम शब्दोंसे बने क्रियाविशेषण :—तत्, यत्, किम्, यावत्,  
तावत् । प्रीकमें भी द्वितीया विभक्तिवाले क्रियाविशेषण पाये जाते हैं :—  
दिकेन्, हरिन्, इतके साय ही तुलनात्मक विशेषण रूपोंके द्वितीया ए०  
व० व० के रूप ही क्रियाविशेषणके रूपमें प्रयुक्त होते हैं —मर्कान् ।  
लैतिनमें भी संज्ञा सर्वनाम तथा विशेषणोंके द्वितीया ए० व० व० व० के  
रूप क्रियाविशेषणोंके रूपमें प्रयुक्त होते हैं —वर्बाम्, श्वम्, [ ए० व० ]  
विद्यम्, अलिभस् [ व० व० ] ।

[आ] तृतीया विभक्तियाले क्रियाविशेषण :—

[i] संज्ञावाले रूप :—क्षणेन, दिष्ट्या, सहसा ।

[ii] विशेषणोंसे बने रूप :—दूरेण, दूरतरेण, तिरश्चा, उर्ध्वः,  
प्रोर्ध्वः, शनं ।

[इ] चतुर्थी विभक्तिवाला केवल एक ही क्रियाविशेषण संस्कृतमें पाया  
जाता है :—अर्थात् ।

[ई] पञ्चमी विभक्तिवाले क्रियाविशेषण प्रचुर हैं —

[i] संज्ञावाले रूप :—बलात्, सत्तेपात् ।

[ii] विशेषणवाले रूप :—अचिरात्, दूरात्, कृच्छ्रात्, साक्षात् ।

[iii] सर्वनामवाले रूप —तात्, वस्मात्, ग्रीक तथा लैतिनमें  
अपरादान [ Ablative ] वाले सविभक्तिक विशेषण प्रचुर हैं, कतिपय  
उदाहरण ये हैं :—ग्रीक होस् [ स० तात् ]; हेप्टोस् [ स० वस्मात् ],



लैतिन रैक्तेद् [rected], फकिलूमेद् [facillumed], मेरिताद् [meritod]

संस्कृतमें पठो विभक्तिवाले क्रियाविशेषण नहीं पाये जाते, लैतिनमें भी इनका अभाव है, ग्रीकमें कतिपय सर्वनाम शब्दोंके संबध कारकोय [genitive] क्रियाविशेषण पाये जाते हैं, जैसे—होउ [स० तस्य], होउउ [स० कस्य] ।

[ऊ] सप्तमी विभक्तिवाले क्रियाविशेषण :—

अग्ने, अग्ने, अग्ने ।

ग्रीक तथा लैतिनमें अधिकरण [locative] कारकवाले क्रियाविशेषण पाये जाते हैं, कुछ उदाहरण ये हैं —ग्रीक होइ [स० तस्मिन् अथवा तत्र], पोइ [क्स्मिन् अथवा कुत्र], होधि [स० तत्र] पोधि [स० क्व, कुत्र] लैतिन उबि, इबि [स० तत्र, अत्र] ।

२ सप्रत्यय क्रियाविशेषण:—

[अ] -वत् प्रत्यय, जो सादृश्यके अर्थमें पाया जाया है —खगवत्, पुत्रवत्, मूकवत्, चित्रकण्ठवत्, घषावत् । इस प्रत्ययका संबध पूर्वोक्त तद्धित प्रत्यय 'वत्'-'यन्त्' से जोड़ा जा सकता है ।

[आ] -त [तसिल्] प्रत्यय —प्रत, इत, तत, यत, कुत, परत, पुरत, सर्वत, दूरत, धादित, अर्थत, ईवत ।

इसकी व्युत्पत्ति प्रा० भा० यू० अतोस् से मानी गई है, जिसका रूप योकमें अतोस् तथा लैतिनमें अतुस् पाया जाता है । यथा, ग्रीक अतोस्, एतोस्, लैतिन इतुस्, रादिकितुम् ।

[इ] -ति प्रत्यय—'इति' ।

[ई] -त्र प्रत्यय —अत्र, कुत्र, तत्र, यत्र, अन्यत्र, सर्वत्र ।

## संस्कृत वाक्य-रचना

जैसा कि हम प्रथम परिच्छेदमें बतता आये हैं, प्रा० मा० यू० भाषाकी वाक्य-रचनाके विषयमें भाषाशास्त्रियोंने कोई अनुमान नहीं लगाये है। यद्यपि ध्वनि तथा पदरचनाकी दृष्टिसे इस काल्पनिक भारोपीय भाषा [ Grundsprache ] का अत्यधिक विवेचन हो चुका है, किन्तु इसकी वाक्यरचनापर कोई कार्य नहीं हुआ है। वैसे कुछ विद्वानोंने, जिनमें प्रमुख नाम श्लाइखर [Schleicher] का लिया जा सकता है, इस काल्पनिक भाषामें हमें "एक भेड़ तथा एक घोड़ेकी कहानी" देनेकी चेष्टा की है। इसका एक वाक्य यहाँ इसलिए दिया जाता है कि इस काल्पनिक वाक्य-रचनाका थोड़ा सवेत पाठकोंको मिल जाय। यद्यपि श्लाइखरने इसकी ध्वनियोंका प्राचीन रूप दिया है, पर हम यहाँपर नये संकेतोंका प्रयोग करेंगे, जो ध्वनिशास्त्रीय दृष्टिसे विशेष शुद्ध हैं:—

\*ओविस्...वेवेक एववम्स तेम् बाघं मेहम् वेघन्तम्, तेम् भारं मेघम्.....ओविस् एववग्मस्त अ वेवेकेत् ।]

[\*owis dedorke, ek<sup>w</sup>ms, tem, baghem, gerum, weghentem tem bharem, meghcm...owis ek<sup>w</sup>mb<sup>y</sup>ms a weweket ]

सं० [अविः .. ददशं अश्चं त बाहं गुरुम् वहन्तं, तं भारं महान्तं, ... अविः अश्च भवोचत् ।]

किन्तु जैसा कि हम बतता चुके हैं इस काल्पनिक भाषाके रूप सूत्रमात्र [formulae] है। अतः इस प्रकारके पुनर्निर्मित [reconstucted] वाक्योंकी कल्पना वैज्ञानिक नहीं कही जा सकती, न इससे भाषाविज्ञानमें

तब तक कोई सहायता ही पहुँच सकती है, जब तक कि इस वाक्यरचनात्मक विशेषताकी पुष्टि हम किसी बाह्य प्रमाणसे न कर सकें। अतः ऐमी कल्पनाओंकी अवहेलना करना ही विशेष श्रेयस्कर तथा वैज्ञानिक है। वस्तुतः प्रा० भा० यू० भाषाकी वाक्यरचनाके विषयमें हम कुछ भी नहीं कह सकते।

संस्कृतकी वाक्य रचना विशेष जटिल नहीं है। प्रत्येक वाक्यमें प्रायः एक क्रिया तथा एक कर्ता होता है, यदि क्रिया सकर्मक है, तो कर्म भी होता है। विशेषण सज्ञाके साथ प्रयुक्त होते हैं तथा क्रियाविशेषणोंका भी प्रयोग होता है। प्रत्येक नाम शब्द वचन, लिंग तथा वारकसे युक्त होता है। प्रत्येक क्रियामें वाच्य, लकार, पुरुष एवं वचन रहता है। कुछ ऐसे भी अव्यय संस्कृत वाक्योंमें प्रयुक्त होते हैं, जिन्हें वैसे तो हम संबधबोधक परसर्ग [postpositions] कह सकते हैं, किन्तु संस्कृत वाक्यरचनाकी परिभाषामें इन्हें 'कर्मप्रवचनीय' कहना अधिक उपयुक्त होगा। ये 'कर्मप्रवचनीय' वाक्यकी क्रियाके साथ किसी कर्तृभिन्न सज्ञा या सर्वनामका संबध व्यक्त करते हैं। शब्दा तथा वाक्योंको परस्पर कुछ अन्य प्रकारके अव्ययोसे जोड़ा जाता है, जो समुच्चय बोधक होते हैं, यथा, च, पर, तथा, अथवा।

संस्कृतकी सबसे बड़ी वाक्यरचनात्मक विशेषता यह है कि इसमें प्रत्येक पदका पारस्परिक संबध विभक्तिके द्वारा व्यक्त किया जाता है। इसीलिए संस्कृत वाक्यमें किसी पदका ठीक उसी तरह नियत स्थान नहीं होता, जैसा हिन्दी आदि आधुनिक भाषाओंमें है। उदाहरणके लिए एक वाक्य ले लीजिए—“स पुरुष त इवानमताडपत्” इस वाक्यको हम “स पुरुषोऽ-ताडपत्त इवान” अथवा “त इवानमताडपत् स पुरुषः” के रूपमें भी रख सकते हैं। प्रत्येक दशम इसका ठीक वही अर्थ होगा—उस आदमीने उस कुत्तेको पीटा। ठीक यही बात ग्रीक या लैटिनमें पाई जाती है। संस्कृतके इसी वाक्यके समानान्तर वाक्यको ले लें।

हाँ अन्थ्रोपोस् तौन् कुन् एपताजेन् ।

[ ho anthropos ton kunt eptazen ]

[ उस आरमीने उस वृत्तको पीटा । ]

इस वाक्यको या भी रत्न समते है — [१] तान् वृन् एपताज्जन् हो  
अन्योपाम् अथवा [२] हो अन्योपाम् एपताज्जन् तान् वृन् ।

इससे यह स्पष्ट होता है कि आरम्भित स्थितिमें प्रा० भा० सू० वाक्य-  
रचनाकी एक विशेषता यह रही होगी कि वहाँ पदोंकी कोई नियतस्थिति न  
थी, उनका प्रयोग वाक्यमें कही भी हो सकता था, उनके व्यवहारा बोध  
विभक्ति के द्वारा करा दिया जाता था ।

वाक्यरचनाकी दृष्टिमें सायप्रथम ह्रम नाम शब्दोंको लेंगे । नाम शब्दोंकी  
पदरचनाको ह्रम पूर्ववर्ती परिच्छेदमें देख चुके हैं । नाम शब्दोंके बचनमें  
विषयमें दो धाँ कह देना आवश्यक होगा । सस्वृतमें द्विवचन पाया जाता  
है । वैसे बादमें प्राकृतमें आकर यह वचन ठीक उसीतरह लुप्त हो गया है,  
जैसे 'हेलेनिस्टिक' कालमें आकर ग्रीकका द्विवचन लुप्त हो गया है ।  
जैसा कि हम बता चुके हैं द्विवचनका धीज उन दो वस्तुओंके वर्णनमें था,  
जो युग्म रूपमें पाई जाती थी । दूसरी विशेषता यह है कि वैदिक सस्वृतमें  
कहीं-कहीं नपुंसक लिंगके बहुवचन कर्तारोंके साथ एकवचन क्रियाका प्रयोग  
पाया जाता है । यह सम्भवतः इसलिए कि नपुंसक लिंग व० व० के  
'आकारान्त' वैकल्पिक रूपको 'आकारान्त' स्त्रीलिंगके प्रथमा ए० व० के  
सुत्य माना जाता हो । यह हम देख चुके हैं कि नपुंसक लिंगके प्रथमा-  
द्वितीया व० व० का विभक्तिचिह्न 'आ' भी था [भुवनानि विश्वा] । यह  
विशेषता ग्रीकमें भी पाई जाती है । हीमरकी भाषामें तथा ग्रीककी एक विभाषा  
'एतिक' [Attic] में यह विशेषता पाई जाती है । 'हेलेनिस्टिक' कालमें  
आकर यह प्रयोग बहुत कम हो गया । सस्वृतमें भी इस तरहके प्रयोगका  
धीरे-धीरे लोप हो गया तथा लौकिक सस्वृतमें यह प्रयोग नहीं पाया जाता ।

सस्वृतमें वाक्यके कर्ताके लिए प्रथमा तथा तृतीया दोनों विभक्तियाका  
प्रयोग पाया जाता है । तृतीयाका प्रयोग कर्मवाच्यमें होता है, प्रथमाका

कर्तृवाच्यमे । तृतीयाका प्रयोग कर्त्तिके अतिरिक्त करणमें भी पाया जाता है, तभी तो पाणिनिने कहा है—कर्त्करणयोस्तृतीया । कर्त्वाच्यके प्रयोगमें जहाँ सत्तार्थक क्रियाका [भू या अस्का] वर्तमाने प्रयोग होता है, कर्मी-कर्त्री यह क्रिया प्रयुक्त नहीं होती । किन्तु ऐसी दशाम प्राय विधेयको उद्देश्यके पूर्व रखते हैं या बादमें । साथ ही ऐसी दशामे विशेषक सर्वनामका सदा प्रयोग होता है । उदाहरणके लिए 'स पुरुष शूर' या 'शूर. स पुरुष.' में [ अस्ति या भवति ] क्रियाका प्रयोग करनेकी आवश्यकता नहीं, उसके बिना भी काम चल सकता है । किन्तु, यदि विधेयका प्रयोग विशेषक सर्वनाम तथा कर्त्ता [ उद्देश्य ] के बीच किया जायगा, तो क्रियाके प्रयोगके बिना काम नहीं चलेगा । 'स शूर पुरुष' [ अस्ति ], में 'अस्ति' की आकांक्षा बनी रहती है । ठीक यही विशेषता ग्रीकमें पाई जाती है । उदाहरणके लिए, हाँ अन्थ्रोपास् कलास् [ ho anthropos kalos ] तथा 'कलास् हाँ अन्थ्रोपास्' पूरे वाक्य है, किन्तु हाँ कलास् अन्थ्रोपास् में एस्ति [ estī ] की आवश्यकता है । इस वाक्यका अर्थ है, 'यह पुरुष अच्छा है' । सर्वोचनके अर्थमें कभी कभी संस्कृतमें हे का प्रयोग पाया जाता है, हे देव, हे हरे, हे विष्णो । ग्रीकमें सर्वोचनके अर्थमें ओ [ ō ] पाया जाता है, जो शब्दके पहले प्रयुक्त होता है, यथा ओ लोस् [ō leos] [ हे सिंह ], ओ क्रीत [ō krita] [ हे न्यायाधीश ] ।

द्वितीया विभक्तिका प्रयोग प्राय सकर्मक क्रियाके लिए पाया जाता है । यह वह वस्तु है, जो किसी क्रियाके कर्त्ताका ईप्सिततम कर्म है । 'कर्तुं रोप्सिततम कर्म' । ईप्सिततम पदम तमप् का प्रयोग इसलिए किया गया है कि प्रमुख कर्म करते समय जो और कर्म होंगे, वे क्रियाके मुख्य कर्म न होनेके कारण कर्म नहीं माने जायेंगे, तथा उनमें द्वितीया विभक्ति नहीं होगी । यथा, 'दध्ना ओदन भुङ्क्त' इस वाक्यमें केवल 'ओदन' ही कर्म

है, क्योंकि खानेवालेको ईप्सिततम वही है, दधि नहीं। कर्मवाच्यमें यह कर्म प्रथमा विभक्तिमें प्रयुक्त होता है। ठीक ऐसा ही कर्मवाच्य प्रयोग ग्रीकमें पाया जाता है, जहाँ कर्म क्रियावा कर्त्ता [ nominative ] बन जाता है। किन्तु ध्यान रखिए, जहाँ ग्रीकमें कर्मवाच्यके कर्मको कर्त्ता माना जाता है, वहाँ संस्कृतमें इते कर्त्ता नहीं माना जाता। हमारे व्याकरणोंके मतानुसार यहाँ प्रथमा विभक्ति होनेपर भी कर्मत्व ही माना जायगा, 'रामेण हन्यते बालि.' में 'बालि.' प्रथमा विभक्तिमें होते हुए भी कर्म है, 'रामेण' को विभक्ति तृतीया है, किन्तु इस वाक्यका कर्त्ता यही है। यही कारण है कि हमारे व्याकरणमें प्रथमा तथा कर्त्ता, द्वितीया तथा कर्म, तृतीया तथा करणका ठीक वैसे ही अविच्छेद्य संबन्ध नहीं है, जैसा अन्य भाषाओंमें। वस्तुतः अन्य भा० यू० भाषाओंमें प्रथमा, द्वितीया जैसी कोई गणना ही नहीं।

कर्मका प्रयोग क्रियासे बने कई कृदन्तोंके साथ भी होता है। यथा शतृ तथा शानच्, वन-वतवन् आदिके साथ कर्मकारकका प्रयोग पाया जाता है, यदि वे सकर्मक क्रियासे बने हैं —

[ १ ] दधानमम्भोहहकेसरद्युतीर्जटाः शरच्चन्द्रमरीचिरोच्चिपम् ।

[ २ ] सुवर्णसूत्राकलिताधराम्बरा विडम्बयन्तं शितिवाससस्तनुम् ।

इसी तरह तुमुन्के साथ भी कर्मका प्रयोग पाया जाता है, यस्मिन् प्रिय-कामिना प्रियास्त्वद्वृत्ते प्रापयितुं क ईश्वर । वैसे वैदिक संस्कृतमें तुमुन् तथा उसके समानान्तर तवे, तव आदिके लिए द्वितीया, चतुर्थी तथा पञ्चमी सोनोका वैकल्पिक प्रयोग देखा जाता है—ग्रहये हन्तव, परमेतवे। किन्तु लौकिक संस्कृतमें आकर केवल द्वितीया ही प्रयुक्त होने लगी।

संस्कृतमें कुछ क्रियाओंके साथ दो कर्म पाये जाये हैं। ये क्रियाएँ द्विकर्मक कहलाती हैं। इन क्रियाओंमें प्रमुख [कथित] तथा गौण [अकथित]

१. दुह्याच्-रच्-दण्ड्-रधि-पृच्छि-चि म्र-शास्-जि-मन्थ-मुषाम् ।

कर्मयुक् स्यादकथित तथा स्यान्नीह-कृप्-बहाम् ॥

दोनों कर्म द्वितीया विभक्तिमें होते हैं। इसी बातको महर्षि पाणिनिने अपने सूत्र 'अकथितञ्च' में संकेतित किया है। यह अकथित कर्म प्रायः अन्य किसी कारकका रूप रहता है, जो द्विकर्मक क्रियाओके साथ कर्म हो जाता है। यथा, गां दोग्धि पयः [गायसे दूध दुहता है], माणयकं पन्थानं पृच्छति [लड़केसे मार्ग पूछता है], सुधां क्षीरनिधि मथ्नाति [समुद्रसे अमृत मथता है] आदि वाक्योंमें गां, माणयकं, क्षीरनिधि में यह अकथित कर्मवाली द्वितीया विभक्ति ही है। ग्रीकमें भी कुछ क्रियाओके साथ दो कर्मोंका प्रयोग देखा जाता है।

संस्कृत णिजन्त प्रक्रियामें जहाँ द्विकर्मकक्रिया होती है, प्रमुख कर्म द्वितीयामें ही बना रहता है, किन्तु गौण कर्मका प्रयोग तृतीयामें होता है; यथा "अचीकरच्चारु ह्येन या भ्रमोर्निजातपत्रस्य तलस्थले नलः" [नैपथ, प्र० सर्ग] में प्रधान कर्म भ्रमोः द्वितीयामें है, गौण कर्म ह्येन तृतीयामें। जहाँ तक नी, ह, कृप् तथा बहु धातुका प्रश्न है, इनमें गौण कर्म विकल्पसे तृतीया तथा द्वितीया दोनोंमें होता है—भारं बाह्यति भृत्यं भृत्येन वा।

जैसा कि हम व्रता चुके हैं संस्कृतके कुछ अभ्यय आदि ऐमे हैं, जो भाषावैज्ञानिक दृष्टिसे परसर्ग [postposition] हैं, तथा जिनके साथ उनसे संबद्ध नाम शब्दोंमें द्वितीया विभक्ति पाई जाती है। जैसे, "द्या मन्तरा वसुमतीमपि गाविजन्मा, यद्यन्यमेव निरमास्थन नाकलोकम्" [नैपथ, ११ सर्ग], में 'मन्तरा' के योगसे 'द्यां' में द्वितीया विभक्ति पाई जाती है। पाणिनिके सूत्र 'अन्तरान्तरेण युक्ते' के अनुसार यहाँ द्वितीया विभक्ति होती है। इस तरहके शब्दोंको पारिभाषिक शब्दावलीमें 'कर्मप्रवचनीय' कहते हैं। ग्रीकमें भी ऐसे कर्मप्रवचनीय पाये जाते हैं, जिसके साथ कर्म [द्वितीया] का प्रयोग होता है। फिर भी वाक्यरचनाकी दृष्टिमें ग्रीकमें तथा संस्कृतमें एक भेद पाया जाता है। संस्कृतमें जहाँ ये कर्मप्रवचनीय

नियत रूपसे उस वर्मके बाद प्रयुक्त होते हैं, जिससे इनका सम्बन्ध होता है, ग्रीकमें ये सदा उमने पूर्व प्रयुक्त होते हैं। इसीलिए जहाँ ग्रीकमें ये पुर सर्ग [ preposition ] हैं, यहाँ संस्कृतमें ये परसर्ग [ postposition ] हैं। संस्कृतमें 'अन्तरा द्या' जैसा प्रयोग व्याकरणकी दृष्टिसे अशुद्ध होगा।

यहाँपर परसर्गोंकी उत्पत्तिपर थोड़ा विचार कर लिया जाय। वस्तुतः ये सभी परसर्ग [ कुछको छोड़कर ] उपसर्गोंसे विकसित हुए हैं। वैदिक संस्कृतमें उपसर्ग क्रियाके अविच्छेद्य अग न होकर वर्मके बाद प्रयुक्त होते थे, वैसे थे वाक्यमें क्रिया भी स्थानपर रटा दिये जा सकते थे। वैदिक संस्कृतमें ये सदा क्रियासे अलग प्रयुक्त होते रहे हैं, यथा प्र नून पूर्णबन्धुरः स्तुनो याहि [ १. ६२. ३ ] में, जहाँ 'प्र' लौकिक संस्कृतमें आकर याहि का अविच्छेद्य अग बनकर प्रयाहि रूप बन जाता है। इन्ही उपसर्गोंमेंसे कई उपसर्ग क्रियाके अविच्छेद्य अग न रहकर परसर्ग बन गये। कुछमें उपसर्गोंसे भिन्नता बसानेके लिए अन्य ध्वन्यात्मक अक्षर जोड़ दिये गये हैं। उदाहरणके लिए 'अभि' तथा 'परि' को लीजिए। वस्तुतः ये अभि तथा परि के ही विकसित रूप हैं, जिनमें त [ २तोस् ] जोड़कर ये नये रूप बना दिये गये हैं। बादमें जाकर इनके शुद्ध रूप क्रियाके अविच्छेद्य अग— उपसर्ग बन गये, जो अभिविञ्चति, परिविञ्चति में स्पष्ट है, किन्तु ये '-त' वाले रूप 'कर्मप्रवचनीय' बन गये हैं। यह उपसर्गोंका दो प्रकारका विकास हमें लौकिक संस्कृतमें वही-वही स्पष्ट दिखाई देता है। उदाहरणके लिए अनु को लीजिए, यह अनु जब उपसर्ग [ क्रियाके अग ] के रूपमें प्रयुक्त होना है, तो क्रियाकी स ध्वनिको ष बना देता है, अनुविञ्चति। किन्तु यदि वह उपसर्गके रूपमें प्रयुक्त नहीं होता तो क्रियाकी 'स' ध्वनि अविच्छेद्य रहती है, अनु सिञ्चति। ग्रीकमें प्रोस् [pros] [स० प्र], एपि [epi] [स० अपि], परा [para] [स० परा], हुपो [hupo] [स० उप], अव [awa] [स० अव], हुपर [huper] [स० उपरि], परि [peri]



[स० परि], अम्बिक [amphi] [म० अभि] के योगमें कर्मकारक [accu-  
sative case ] का प्रयोग पाया जाता है । हम देखते हैं कि उपसर्गोंमें  
से अधिकांश संस्कृतमें कर्मवचनीय रूपमें प्रयुक्त होते हैं । संस्कृतसे इस  
प्रकारके प्रयोगके कुछ उदाहरण दे देना ठीक होगा । संस्कृत व्याकरणके  
प्रसिद्ध वार्तिक 'अभित परित समयानिकपाहाप्रतियोगेऽपि' के आधारपर  
इन उदाहरणोंको ले लें

[१] अभित कृष्ण देवा ।

[२] विलङ्घ्य लङ्का निक्वा हनिष्यति ।

[३] हा देवदत्तम् ।

'हा' का प्रयोग इसी ढंगका ग्रीकमें भी पाया जाता है, जहाँ इसका  
होस् [hos] रूप पाया जाता है ।

इसके पूर्व कि करण, सम्प्रदान तथा अवादानको लें, पहले सबध या  
पष्ठी विभक्तिको ले लें । सबधको संस्कृत व्याकरण कारक नहीं मानते ।  
इसका कारण यह है कि कारक वह है, जिसका क्रियासे साक्षात् सबध हो ।  
पष्ठी विभक्तिका सबध किसी सज्ञा या नाम शब्दसे होता है, यथा "दशरथस्य  
पुत्र. लङ्काया वासोने रावण जघान" में दशरथस्य का सघान से कोई  
सबध नहीं है, उसका सबध पुत्र से है । वस्तुतः पष्ठघन्त सबधीका सम्बद्ध  
नाम शब्दमें वही सबध होता है, जो क्रियाका अपने कर्मसे होता है । किसी  
सज्ञा या नाम शब्दसे अन्य सज्ञा या नाम शब्दके साक्षात् सबध होनेपर  
प्रथम सज्ञा या नाम शब्द पष्ठघन्त होता है । किन्तु कुछ क्रियाएँ ऐसी हैं,  
जिनमें कर्म पष्ठघन्त पाया जाता है । पाणिनिके प्रसिद्ध सूत्र "अधिगर्भदयेषा  
कर्मणि" में इसका संकेत किया गया है । मातुः स्मरणम्, सपिपो दयनम्  
में कर्म पष्ठघन्त है । अथवा जैसे, "अद्यापि तद्गजघटापटलस्य शेते, भीत्या  
स्मरन् हरिरहोःतलमंदुरायाम्" में गजघटापटलस्य में स्मरन् के कारण  
ही पष्ठीविभक्ति कर्मको द्योतक है । ग्रीकमें भी कुछ क्रियाएँ ऐसी हैं, जिनमें  
कर्म [object] में सबध कारक [Genative Case ] पाया जाता है ।

ये क्रियाएँ भक्षार्थक, स्पर्शार्थक, इच्छार्थक, शासनार्थक तथा अनुभवार्थक हैं। पठ्ठी विभक्तिका प्रयोग कुछ अन्ययोके साथ भी पाया जाता है, उदाहरणके लिए 'उपरि' के साथ, यथा "दक्षिणस्या भ्रुव उपरि", "तस्योपरिष्ठात् पवनावधूतः"। ग्रीकमें भी जब हूपर [huper] का प्रयोग "ऊपर" अर्थमें होता है, तो सब्धी नाम शब्द सबध कारकमें ही होता है। पठ्ठी विभक्तिका अन्य कई स्थलोंपर प्रयोग होता है, जिनमें विद्योप महत्त्वपूर्ण प्रयोग निष्ठा प्रत्ययसे साथ विकल्पसे तृतीया तथा पठ्ठीका है। जहाँ निष्ठा प्रत्ययका प्रयोग समस्त शब्दमें हो गया है [ प्राय बहुव्रीहि समासमें], वहाँ यदि नाम शब्दका सबध निष्ठा प्रत्ययके कर्ताके रूपमें है तो तृतीया होगी, किन्तु यदि उसका सबध निष्ठा प्रत्ययसे न होकर समासक अन्य पदसे है, तो पठ्ठी विभक्ति होती है —

[१] प्रतीहायां गृहीतपञ्जरः [तृतीया], [२] श्रुतदेहविसर्जनं पितु [पठ्ठी]।

तृतीया विभक्तिका प्रयोग करणके अर्थमें होता है। कर्मवाच्यमें क्रियाका कर्ता भी तृतीयान्त होता है, इसे हम बता चुके हैं। कई ऐसे परसर्ग भी हैं जिनके पूर्व तृतीया विभक्ति पाई जाती है। सह, सम, साथ, बिना, नाना, आदि कईके साथ तृतीयाका प्रयोग होता है। इसमें सह, सम, साथ का प्रयोग पाया भी जाता है, ये लुप्त भी हो सकते हैं। यिना सम गतः पुत्र- में सम का प्रयोग पाया जाता है। देवो देवेभिरागमन् जैसे प्रयोगोंमें ये लुप्त हैं। ग्रीकमें ठीक ऐसा ही प्रयोग 'सुन्' [sun] का पाया जाता है। ये दोना प्रा० भा० यू० \*स एं म् [ \*sem ] से विकसित माने जा सकते हैं। ग्रीकमें वैसे तृतीया [ करण, instrumental ] तथा सप्तमी [अधिकरण locative] दोना ही चतुर्थी [सम्प्रदान, dative] में ममाहित हो गई है, अतः वहाँ 'सुन्' के साथ सम्प्रदानका प्रयोग पाया जाता है।

चतुर्थीका प्रयोग सम्प्रदानके अर्थमें होता है। वस्तुतः यह 'दानार्थक' क्रियाका गौण कर्म होता है, यथा 'ब्राह्मणाय गां ददाति' में। दानार्थक क्रियाके अतिरिक्त कभी-कभी क्यनार्थकमें भी इसका प्रयोग पाया जाता है। संस्कृतमें कृष्, द्रुह्, ईर्ष्या, असूया अर्थवाली क्रियाओके कर्म भी चतुर्थीमें पाये जाते हैं :—*अघद्रुहेर्ष्यासूयार्थानां षं प्रति कोपः*। कुछ ऐसे भी परसर्ग और शब्द हैं, जिन्हें चतुर्थीका कर्मप्रवचनीय कहना अनुचित न होगा। इनका उल्लेख "नम.स्वस्तिस्वाहास्वघालंबपङ्कयोगाच्च" इस प्रसिद्ध सूत्रमें हुआ है। आधुनिक यूरोपीय भाषाओंमें जर्मनमें चतुर्थी विभक्ति या सम्प्रदान कारक पाया जाता है। कई पुर सर्गोंके बाद जर्मनमें सज्ञा या सर्वनाम सम्प्रदान कारकमें होता है। इस कान निश्चिन्ने इन गेहेन [Ich kann nicht ohne ihn gehen] [मैं उसके बिना नहीं जा सकता], में 'इन' [ihn] में कर्मकारक [accusative case] है, जो ओने [ohne] के साथ प्रयुक्त होता है। लेकिन फोन [von] के साथ सम्प्रदान कारक [dative Case] पाया जाता है, यथा नेमेन सी दास बुख फोन इम [Nehmen Sie das Buch von ihm] [उससे किताब ले लो।] ध्यान दीजिए 'इन' [ihn] कर्मकारकमें है, तो इह्म [ihm] सम्प्रदान कारकमें।

पञ्चमी विभक्तिका प्रयोग अपादानमें पाया जाता है, यथा वृक्षात् परां पतति में। पञ्चमी विभक्तिका प्रयोग दो वस्तुओंकी तुलना कर एक्की निकृष्टता और दूसरेकी उत्कृष्टता बतानेके लिए भी होता है—*पारीयात् अश्वाद् गर्दभः*। कुछ ऐसे परसर्ग भी हैं, जिनके साथ पञ्चमीका प्रयोग होता है, जैसे तस्मात् बिना मे। भगार्थक तथा प्राणार्थक धातुओंमें भय पैदा करनेवाले हेतुका अपादानमें प्रयोग होता है—[भीत्रार्थानां भयहेतुः], यथा, कृष्णाद् विभेति कंस, कंसात् त्रायते गोपान् कृष्णः।

सप्तमीका प्रयोग अधिकरणके अर्थमें पाया जाता है, जैसे गृहे तिष्ठति मे। कभी-कभी वैदिक संस्कृतमें उप के साथ सप्तमीका प्रयोग पाया जाता

है, यथा उप सूत्रे । ग्रीकमें भी हुषो तथा प्रोस्के साथ अधिकरण कारकका प्रयोग देखा जाता है । जैसा कि हम बता चुके हैं ग्रीकमें अधिकरण कारक, सम्प्रदानमें समाहित हो गया है, वस्तुतः वहाँ सम्प्रदान कारक पाया जाता है, जो अधिकरणका भी काम करता है । संस्कृतकी सप्तमी विभक्ति किसी क्रियाके देश तथा कालकी बोधक होती है ।

सज्ञाशोकी भाँति ही संस्कृतके सर्वनाम शब्दोंका वाक्यगत प्रयोग देखा जाता है । लौकिक संस्कृतमें सर्वनामोंके प्रयोगमें एक विशेषता पाई जाती है, कि 'अस्मत्', 'युष्मद्' शब्दोंके वैकल्पिक रूपों—मा, वा, मे, ते आदिका प्रयोग वाक्यके आदिमें नहीं होता, जैसे आगतस्ते पिता वाक्य शुद्ध है, किन्तु ते पिता आगत के स्थानपर तव पिता आगत [त्वत्पिता आगत ] शुद्ध माना जायगा ।

विशेषणोंका प्रयोग संस्कृतमें ठीक सज्ञा जैसा ही होता है । ये उसी लिंग, वचन तथा विभक्तिमें प्रयुक्त होते हैं, जो लिंग, वचन तथा विभक्ति विशेष्य नाम शब्दकी होती है, यथा, कृष्ण पुरुष, कृष्णा स्त्री, कृष्ण वस्त्र आदिमें ।

अब हम परस्मैपद तथा आत्मनेपदके वाक्यगत प्रयोगकी ओर आते हैं । ग्रीकमें भी ये दोनों प्रकारके पद पाये जाते हैं, जो वहाँ क्रमशः "एक्टिव" एवं "मिडिल वॉयस" कहलाते हैं । आरम्भमें आत्मनेपदका प्रयोग प्रायः कर्त्तवि अपने आप क्रियाफलके भोक्ता होनेके अर्थमें होता था, किन्तु धीरे-धीरे परस्मैपद तथा आत्मनेपदका इस प्रकारका भेद नष्ट हो गया । लौकिक संस्कृतमें आकर हम देखते हैं कि कुछ क्रियाएँ [धातु] केवल परस्मैपदी हैं, कुछ केवल आत्मनेपदी । कुछ क्रियाएँ ऐसी भी हैं, जिनके रूप दोनों प्रकारके पदोंमें पाये जाते हैं । ये उभयपदी धातु हैं । लौकिक संस्कृतमें यह भी देखा जाता है कि कुछ उपसर्गोंके प्रयोगसे धातुका पद भी बदल जाता है । उदाहरणके लिए √स्या धातुको लीजिए । इस धातुके पूर्व सम्, अय, प्र, वि उपसर्गोंमेंसे किसी एकके होनेपर, यह धातु आत्मनेपदी बन जाता है, [समवप्रविम्य. स्थ.] । इसके उदाहरण सतिष्ठते, अवतिष्ठते,

वितिष्ठते, प्रतिष्ठते, संतम्भे, अवस्थे, वितस्थे प्रतस्थे, दिये जा सकते हैं, अन्यथा परस्मैपदके रूप तिष्ठति, तस्थौ बनते हैं । इसी प्रकार√जि धातुके पूर्व वि, परा उपसर्ग होनेपर आत्मनेपद होता है, [विपराम्या जेः] जयति, विजयते, पराजयते । इस प्रकार हम देखते हैं कि परस्मैपद तथा आत्मनेपदका अब लौकिक संस्कृतमें ठीक वही रूप नहीं रह गया है, जो मूलतः पा । ठीक ऐसा ही परिवर्तन ग्रीकमें भी हो गया है । ग्रीकमें तो यहाँ तक पाया जाता है कि कुछ धातु जो वस्तुतः 'एक्टिव वॉयस' के हैं, उनके भविष्यत् [Future Indefinite] रूप 'मिडिल वॉयस' में पाये जाते हैं, तथा कुछ धातु जो वस्तुतः 'मिडिल वॉयस' [आत्मनेपदी] हैं उनके परोक्षभूत 'एक्टिव वॉयस' [परस्मैपदी] हैं । उदाहरणके लिए संस्कृत√दृश् धातुके समानांतर ग्रीक धातुको ले ले । इसका उत्तम पुरुष एकवचनका वर्तमान कालिक [ Present Indefinite, संस्कृत लट् ] रूप "देर्कोमइ" [derkoma] [ सं० √दृशे [पश्यामि]] है, जो वस्तुतः मिडिल वॉयसका रूप है । किन्तु इसका परोक्षभूत रूप ग्रीकमें देर्दोर्का [dedorka] [सं० ददर्श] पाया जाता है, जो एक्टिव वॉयसका रूप है । संस्कृतमें दृश् के स्थानपर पश्य के आदेशके भाषावैज्ञानिक तथ्यका संकेत हम पूर्ववर्ती परिच्छेदमें कर चुके हैं । वैदिक संस्कृतसे भी इसी ढंगका एक दूसरा उदाहरण दिया जा सकता है, जहाँ वर्तते के साथ ही साथ उसका लिट् रूप चवर्त भी पाया जाता है । संस्कृतमें ये दोनों, आत्मनेपद तथा परस्मैपद कर्तृवाक्यमें प्रयुक्त होते हैं ।

कर्मवाच्य रूपका प्रयोग प्रा० भा० यू० में नहीं होता था । किन्तु ज्यो-ज्यो समयताका विकास हुआ, भावोंकी अभिव्यजनाके लिए इसकी आवश्यकता हुई, इसकी पूर्तिके लिए कोई न कोई प्रणालीका आश्रय लिया गया । ग्रीकमें प्रायः अकर्मक आत्मनेपदी क्रियाओंके द्वारा कर्मवाच्यका

बोध कराया जाने लगा। उदाहरणके लिए तिथमि [titheṃi] [स० वधामि] के कर्मवाच्यका बोध कइमइ [keṃai] [धीमे] [मै धारण किया जाता है] के द्वारा कराया जाने लगा। सस्कृतने भी वैसे तो कर्मवाच्यके लिए आत्मनेपदी रूपका ही आश्रय लिया, किन्तु इसमें धातुके मूल रूपके साथ बीचमें 'य' वा प्रयोग भी जोड़ना आरम्भ किया। यथा सस्कृत पठति, गच्छति, वदाति से क्रमशः पठ्यते, गम्यते, शीयते रूप बनाये गये। ध्यान रखिए, सस्कृतने कर्मवाच्य सदा आत्मनेपदी होते हैं, परस्मैपदी नहीं। इहीसे सबद्ध वे धातु हैं, जिनके भाववाच्य रूप मिलते हैं। ये भाववाच्य रूप क्या हैं? जिन धातुओंको सबभक्त श्रेणीमें रक्मा जाता है, उनके कर्मवाच्य प्रयोगमें कर्त्ता तृतीया विभक्तिमें तथा कर्म प्रथमा विभक्तिमें होता है, यथा तेन पुस्तक पठ्यते मे। इसमें क्रियाका पुरुष तथा वचन कर्मके अनुकूल होता है। किन्तु अकर्मक क्रियाओं के भी कर्मवाच्य जैसे आत्मनेपदी रूप पाये जाते हैं। इन्हें भाववाच्य रूप कहते हैं। वाक्यरचनाकी दृष्टिसे इनमें तथा कर्मवाच्य रूपोंमें यह भेद होता है कि इनका कर्त्ता तो तृतीयान्त होता है, किन्तु कर्मके अभावके कारण क्रिया सर्वत्र प्रथम पुरुष एव वचनमें होती है— यथा मया शीयते, तेन भूयते, रामेण शीयते, तं च्रियते, अस्माभिः शीयते आदिमें।

बाल तथा लकारक वाक्यप्रयोगकी ओर आते हुए हम देखते हैं कि सस्कृतमें तीन बाल तथा दस लकार पाये जाते हैं। यहाँ हमने वैदिक लकारके अलगमें नहीं माना है। वर्तमानने लिए लट् लकारका प्रयोग होता है, किन्तु यह वर्तमान कई भावोंका बोध करानेके लिए प्रयुक्त होता है। सर्वप्रथम यह किसी शास्त्रत गत्यका बोध कराता है, यथा जले

१. लज्जा-सत्ता स्थिति जागरण वृद्धिक्षयभयजोषितमरणम् ।  
 दायनश्रीद्वारचिबोपरयं धातुगण तमकर्मकमाहू- ॥

बोध कराया जाने लगा । उदाहरणके लिए तिथेमि [ tithemi ] [ म० दधामि ] के कर्मवाच्यका बोध कइमइ [ keimai ] [ धोयै ] [ मै धारण किया जाता है ] के द्वारा कराया जाने लगा । संस्कृतने भी वैसे तो कर्मवाच्यके लिए आत्मनेपदी रूपका ही आश्रय लिया, किन्तु इसमें धातुके मूल रूपके साथ बीचमें 'य' का प्रयोग भी जोड़ना आरम्भ किया । यथा संस्कृत पठति, गच्छति, ददाति से क्रमशः पठ्यते, गम्यते, दीयते रूप बनाये गये । ध्यान रखिए, संस्कृतके कर्मवाच्य सदा आत्मनेपदी होते हैं, परस्मैपदी नहीं । इन्हींसे सबद वै धातु हैं, जिनके भाववाच्य रूप मिलते हैं । ये भाववाच्य रूप क्या हैं ? जिन धातुओंको सक्रमक श्रेणीमें रखा जाता है, उनके कर्मवाच्य प्रयोगमें कर्ता तृतीया विभक्तिमें तथा कर्म प्रथमा विभक्तिमें होता है, यथा तेन पुस्तक पठ्यते में । इसमें क्रियाका पुरुष तथा वचन कर्मके अनुकूल होता है । किन्तु अक्रमक क्रियाओं के भी कर्मवाच्य जैसे आत्मनेपदी रूप पाये जाते हैं । इन्हें भाववाच्य रूप कहते हैं । वाक्यरचनाकी दृष्टिसे इनमें तथा कर्मवाच्य रूपोंमें यह भेद होना है कि इनका कर्ता तो सूतोपान्त होता है, किन्तु कर्मके अभावके कारण क्रिया सर्वत्र प्रथम पुरुष एववचनमें होती है— यथा नद्या शयीयते, तेन भूयते, रामेण शीयते, तंछियते, प्रस्माभिः क्षीयते आदिमें ।

बाल तथा लकारने वाक्यगत प्रयोगकी ओर आते हुए हम देखते हैं कि संस्कृतमें तीन बाल तथा दस लकार पाये जाते हैं । यहाँ हमने वैदिक लकार लैटुकी अल्पसे नही माना है । वर्तमानके लिए लट् लकारका प्रयोग होता है, किन्तु यह वर्तमान कई भावोंका बोध करानेके लिए प्रयुक्त होता है । सर्वप्रथम यह किसी शार्दूल सत्यका बोध कराता है, यथा जले

१. सज्जा-सत्ता-स्थिति-जागरणं धृद्धिषयभयज्जीवितमरणम् ।

शयनशीलशब्दशरीरपर्यं धातुगणं तमकर्मकमाहुः ॥

पदम् उत्पद्यते । दूसरे, यह वर्तमानकालिक क्रियाका बोध कराता है, यथा ग्रहं शोदन भुञ्जे । इसका तीसरा प्रयोग ऐतिहासिक रूपमें अतीतकी घटनाओंके वर्णनके लिए पाया जाता है, यथा अस्ति ग्रहस्थलं नाम नगरम् । तत्र काचित् बीना ब्राह्मणी प्रतिवसति । संस्कृतमें यावत् तथा पुरा के योगमें वर्तमान कालका प्रयोग पाया जाता है [ यावत् पुरानिपातयो-नन्द ] ऐसी ही विशेषता ग्रीक तथा लैटिनमें भी पाई जाती है । ग्रीकमें परोस् [paros] [ सं० पुरा ] तथा पलट [palat] के योगमें क्रिया सदा वर्तमानकालमें पाई जाती है । वर्तमान फ्रेंचके बोलचालमें इस प्रकारका प्रयोग पाया जाता है, जहाँ वर्तमान कालका प्रयोग भूतकालके अर्थमें होता है, जब कि कार्य पूर्णतः समाप्त नहीं हुआ है, यथा 'जे स्वित्जिसी देप्वा सां ताँप [ Je suis ici depuis long temps ] [ मैं यहाँ बड़ी देर से हूँ । ] इसी भावके बोधनके लिए प्रा० भा० यू० में परोशभूते लिट्वा प्रयोग होता था ।

इस सम्बन्धमें हम पहले परोशभूते लिट्को ले लें । जैसा कि हम बता आये हैं 'लिट्' का प्रा० भा० यू० प्रयोग शुद्ध भूतकालिक न था । साथ ही वैदिक साहित्यमें भी इसका प्रयोग वर्तमानके अर्थमें होता रहा है । लौकिक संस्कृतमें आकर यह 'लिट्' लकार उस भूतकालिक घटनाके लिए प्रयुक्त होने लगा, जो हमारे परोशमें हुई है । किन्तु यहाँ परोशका तात्पर्य उस कालसे है, जब वक्ता उस समय उत्पन्न ही न हुआ हो जब कि घटना घटित हुई थी । अतः वक्ताके जीवनकालमें हुई घटनाके लिए लट् लकारका या लृट्वा प्रयोग किया जाता है । इस प्रकार लौकिक संस्कृतमें आकर लिट्वा प्रयोग अर्थकी दृष्टिमें बहुत मंजुर हो गया है । अतीतकी प्रत्यक्ष घटनाके वर्णनमें लिट्वा प्रयोग लौकिक संस्कृतमें अशुद्ध माना जाने लगा है । "सामो रावण जगाम" वा लिट्वाला प्रयोग शुद्ध है, किन्तु "महं जातीं जगाम" वा प्रयोग अशुद्ध माना जायगा । किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि लिट् लकारका प्रयोग उत्तम पुरुषके साथ कभी भी प्रयुक्त नहीं होगा ।



वैयाकरणाने बताया है कि जहाँ व्यक्ति स्वयं वर्तमानकालमें अपने द्वारा किये गये भूतकालिन व्यापारको किन्हीं कामोंमें अत्यधिक व्यस्त होनेके कारण नहीं जान पाता, वहाँ भी इस तरहका प्रयोग हो सकता है। इसी तरह प्रथम पुरुष एवं अग्रे पुरुषके विषयमें भी जहाँ कोई कार्य आपके सम्मुख न हुआ हो, तथा उस क्रियाका केवल साधन ही आपका प्रत्यक्ष विषय हो, वहाँ भी लिट्का प्रयोग हो सकता है, जैसे अयं पपाच [इसने पकाया], त्वं पेक्षिथ [तुमने पकाया]।<sup>१</sup> उत्तम पुरुषके साथ लिट्के प्रयोगका उदाहरण माघका एक प्रसिद्ध पद्य है —

बहु जगद पुरस्तात् तस्य मत्ता किलाह चकर च किल चाटु प्रौढयोपिद्वदस्य ।  
विदिनमिनि सगोन्धो रात्रिदूत विचित्य व्यपगतमदयाऽह्लि द्रोडित मुग्धवध्वा ॥

[११-३९]

इस पद्यमें उत्तम पुरुषके साथ लिट् [जगद, चकर] का प्रयोग इसलिए अदृष्ट है कि मुग्धानायिका उस समय शराबके नशेमें चूर थी, पर अब मुबह सन्ध्याको ठिठौली करते देखकर यह समझ गई है कि रातका उसने पतिके समक्ष प्रौढाकी तरह आचरण किया था। पर वह तो नशे में थी, उसे अभी भी पुरी तरह पता नहीं है, अतः अपने उक्त आचरणका वह अनुमान भर लगा पाती है, मदके कारण उसे उसका प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं। फलतः यहाँ कविने लिट्का प्रयोग किया है, जो इस बातकी व्यंजना करता है कि नायिका जो भी किया वह मदके कारण था, मद न हानेपर मुग्धानायिका ऐसा आचरण वदापि न करती, साथ ही मरके उतरनेपर स्वयं उसे ही पता नहीं है कि उसने मदादिष्ट होकर क्या किया था।

भूतकालने व्योमनके लिए अनर्थात्तनभूते लट् तथा सामान्यभूते लुट् दाप्ता और पाप्ते जाने हैं। जैसा कि पारिभाषिक मन्त्रासे स्पष्ट है, लट्पा

१. देखिए सिद्धान्तबीमुदीमे 'परोक्षे लिट् [३-२-११३] सूत्रकी शानेद्र सरस्वतीश्रुत तत्त्वबोधिनी व्याख्या।

प्रयोग उस घटनाके लिए होता है, जो आज घटित नहीं हुई है, तथा लुङ्का प्रयोग किन्हीं भी भूतकालिक घटनाके लिए हो सकता है। किन्तु लङ् तथा लुङ्क्य प्रा० भा० यू० रूप थोड़ा भिन्न था। ग्रीकमें यह भिन्नता पाई जाती है। वहाँ लङ् [ Imperfect ] क्रियाकी अपूर्णवस्थाको व्यक्त करता है, तो लुङ् [ Aorist ] क्रियाकी पूर्णताको।

भविष्यत् कालके लिए संस्कृतमें दो लकार पाये जाते हैं, लृट् तथा लृट्। वैसे तात्त्विक दृष्टिसे इनके प्रयोगमें विशेष भेद नहीं जान पड़ता। संस्कृतमें अधिकतर वाक्यगत प्रयोग 'लृट्' का ही देखा जाता है। इसीसे रूपकी दृष्टिसे मिलता-जुलता हेतुहेतुमत् है, जो हेतु वाक्य तथा हेतुमत् वाक्य दोनोंमें भूतकालिक स्थितिको बतानेके लिए किया जाता है। इन वाक्योंमें 'यदि' तथा 'तर्हि' [ तदा ] का प्रयोग समुच्चयबोधक अव्ययके रूपमें होता है, यथा "यदि त्वमपठिष्यः तर्हि परीक्षामुदत्तरिष्यः।" जैसा कि हम बताने चुके हैं लृङ् वस्तुतः लृट् तथा लङ् रूपोंके योगसे बना है।

अब हमारे सामने तीन लकार और रह जाते हैं, आज्ञार्थे लोट्, विधिलिङ् तथा आशीर्लिङ्। जैसा कि हम बताने आये हैं, आज्ञाबोधक तथा विध्यात्मक प्रयोग प्रा० भा० यू० में पाये जाते थे। आज्ञात्मक रूपोंमें कोई तिङ् चिह्न नहीं पाया जाता था। संस्कृतका आशीर्लिङ् विधिलिङ्का ही विकसित रूप है। संस्कृत वाक्यरचनामें अधिकतर विधिलिङ्का प्रयोग देखा जाता है। कभी कभी विधिके लिए आशीर्लिङ्का तथा 'आशी.' के लिए विधिलिङ्का प्रयोग भी देखा जाता है। लोट्का प्रयोग अवश्य स्वतन्त्र है। वस्तुतः लोट् आज्ञा या 'मिलिट्री कमान्ड' के भावका बहन करता है। लिङ्में बताने केवल अपनी इच्छा प्रकट करता है। यहाँ लोट्के विषयमें एक बात कह दी जाय। संस्कृत वाक्यरचनामें लोट्के साथ निषेधार्थक रूपमें 'मा' [ माङ् ] का प्रयोग पाया जाता है। इस आज्ञार्थक रूपमें कभी-कभी मा के साथ 'लुङ्' का भी प्रयोग पाया जाता है, किन्तु

विशेषीकरणकी ओर अग्रसर होता है। इस विशेषीकरणमें, जिनकी भी अव्यवहृत तथा अनावश्यक वस्तुएँ हैं, वे नष्ट होती रहनी हैं। उदाहरणके लिए प्राणिशास्त्रके "सरीसृप-वर्ग" [ रेप्टाइल्स ] के इतिहासको देखिए। प्राणिशास्त्रियोंका कहना है कि हजारों वर्ष पूर्व इन प्राणियोंके छोटे-छोटे पाँव होते थे, किन्तु धीरे-धीरे ये पैदल चलने लगे और वैसे इस जातिके कई प्राणियोंमें जैसे मगर आदिमें अब भी पैर होते ही हैं। पर इनमेंसे कुछ उपवर्गके प्राणियोंमें आज पैर नहीं पाये जाते, जैसे मर्पे उपवर्गके प्राणियोंमें। इसी प्रकार भाषामें ज्यों-ज्यों विकास होना है, अव्यवहृत तथा अनावश्यक तत्त्व नष्ट हो जाते हैं, यह सरलताकी ओर बढ़ती जाती है।

ओत्तो जेस्पर्सनने एक अन्य स्थानपर कहा है—“भाषाकी यह सरलता-प्रवृत्ति विकासवती तथा लाभदायक है, इस बातको पुरानी पीढ़ीके भाषा-वैज्ञानिकोंने उपेक्षित ही समझा, क्योंकि प्राचीन भाषाओंके रूपमें उन्होंने एक रम्य सुव्यवस्थित विद्वका दर्शन किया और वे उसके आदी हो गये थे, फलतः उन्होंने उस व्यवस्थाका नवीन भाषाओंमें अभाव पाया।”<sup>१</sup> चाहे पुराने विद्वान् भाषाकी इस सरल-प्रवृत्तिको ह्रास समझें, भाषाके भ्रष्ट होनेका लक्षण मानें, भाषावैज्ञानिक तो इस प्रवृत्तिको भाषाके विकासके लिए उपयोगी ही समझता है। भाषावैज्ञानिक भाषाके निरन्तर प्रवहमान

१. प्राणिशास्त्रमें इसी संबंधमें एक सिद्धान्त है, जो लेमार्कियन थियरीके नामसे प्रसिद्ध है। यह मत Theory of use and disuse कहलाता है। इसके मतानुसार प्राणियोंके वे अंग जो ज्यादा काममें आते हैं विकसित और अभिवृद्ध होते हैं, और वे जो काममें कम आते हैं या नहीं आते, नष्ट होते जाते हैं। उसके मतसे ऊँट या जिराफकी लंबी गर्दन भी ज्यादा काममें आनेवाली ही फल है। पर अच लेमार्कके सिद्धान्तका मेण्डेलके 'हेरेडिटरी लाज' [ Hereditary Laws ] [ पैतृक नियम ] के द्वारा खंडन हो गया है।

२. Otto Jespersen : Language, ch. XVIII, P. 366.

निर्झरको ही नैसर्गिक रूप मानता है, व्याकरणके आलवालेसे परिवेष्टित कल्पित पल्लववाले रुढ़ रूपको नहीं। और इस दृष्टिसे पुरानी भाषाओको, जो आज प्रवहमान निर्झरकी स्थितिमें नहीं है, वह 'मृत' कहता है, तो इसमें उसका यही भाव है, तथा लोगोंको इसमें कोई आपत्ति होनेकी गुजाबझ नहीं। 'मृत' विशेषणसे उसका यह भाव नहीं, कि ये विगत साहित्यिक रुढ़ भाषाएँ अब अध्ययनकी चीज नहीं हैं। अपितु भाषा-वैज्ञानिकके लिए उनके अध्ययनका बहुत बड़ा महत्व है, वह उसके वैज्ञानिक अध्ययनकी निश्चित दृढ़ आधार-भिति जो है। भाषावैज्ञानिकके लिए ही नहीं, समाजवैज्ञानिकके लिए भी इन 'मृत' भाषाओके साहित्य तथा भाषावैज्ञानिक स्वरूपका अध्ययन अत्यन्त उपयोगी है, इसे भूल जाना भ्रान्त दिशाकी ओर ही ले जायगा।

तो, येस्पर्शनके द्वारा सकेतित सारल्य-प्रवृत्ति भाषाके विकासकी जान है। हम देखते हैं कि आधुनिक ग्रीक, होमर या अरस्तूकी ग्रीककी अपेक्षा कम जटिल है। इसी प्रकार आधुनिक फारसी, अवेस्ताकी भाषा, या पहलवी [प्राचीन फारसी] से अधिक सरल है। ठीक यही बात संस्कृत तथा उसके परवर्ती विकासके बारेमें देख सकते हैं। यदि जटिलताकी दृष्टिसे देखा जाय तो भा० यू० परिवारमें संस्कृतका व्याकरणात्मक सघटन सबसे अधिक जटिल है। इस दृष्टिसे ग्रीक या लैटिन भी संस्कृतसे कम जटिल है। इसका सबेव हम यह यत्र तत्र देख सकते हैं। आधुनिक यूरोपीय भाषाओंमें व्याकरणात्मक दृष्टिसे हस्तो तथा जर्मन कुछ जटिल है, संस्कृत उनसे भी जटिलतर है। पर संस्कृतका परवर्ती विकास धीरे धीरे व्याकरणात्मक [ध्वन्यात्मक भी] सरलता की ओर बढ़ता है। जैसा कि हम देखने प्राकृतकालमें व्याकरणात्मक सारल्य बढ़ गया और अपभ्रंशकालमें तो व्याकृतकी व्यवहित प्रवृत्ति पाई जाने लगी। संस्कृतकी अपेक्षा शौरसेनी एव मागधी विशेष सरल है, और आजकी हिन्दी या बंगला इन सभीसे अधिक सरल है। इसका कारण यह है कि आधुनिक [वर्तमान] भारतीय भाषाएँ अपने प्राचीन रूपोंको

छोड़ती हुई विशेष सारल्य तथा विशेषीकरणकी ओर बढ़ गई है। उदाहरणके लिए सुप्-तिङ् रूपोंको लीजिए। संस्कृतके इन रूपोंकी जटिलता कम हो गई है। द्विवचन प्राकृतकालमें ही लुप्त हो गया है, प्राकृतकालमें चतुर्थी-पष्ठी, पञ्चमी-तृतीयाका समाश्लेष हो गया है। यह सरलता इतनी बढ़ी कि आधुनिक भारतीय भाषाओंमें दो ही विभक्ति रूप रह गये हैं—अधिकारी तथा विकारी। इनमें सबघतत्वका बोधन करानेके लिए “परसर्गो” [postpositions] का विकास हो गया है, जो कभी सुप् चिह्नसे, कभी किन्ही अव्ययोंसे विकसित हुए हैं। लिगोंकी दृष्टिसे हम देखते हैं कि नपुंसक लिगका लोप हो गया है। इसी प्रकार तिङ् रूपोंका भी विशेषीकरण हो गया है। हिन्दोंके वर्तमानके रूप दत्प्रत्ययान्त रूपोंसे विकसित हुए हैं, तो भूत एव भविष्यत्के रूप वन प्रत्ययान्त रूपोंसे।

संस्कृतके परवर्ती विकासको भाषावैज्ञानिकोंने तीन स्थितियोंमें माना है—[१] प्राकृत-कालीन विकास, [२] अपभ्रश-कालीन विकास, [३] आधुनिक भाषागत विकास। इन्हें हम क्रमशः प्राकृत, अपभ्रश तथा आधुनिक भाषाएँ इन तीनोंके अन्तर्गत समाविष्ट करते हैं। वैसे प्रत्येकके अन्तर्गत भी विकासकी कई स्थितियाँ रही होंगी, जिनमेंसे कुछका सकेत भाषावैज्ञानिकोंने किया है। यहाँ हम संस्कृतके परवर्ती विकासको दो भागोंमें विभक्त करेंगे—[१] मध्यकालीन भारतीय धार्य भाषाएँ, [२] आधुनिक भारतीय धार्य भाषाएँ। इन्हींकी दृष्टिमें रखकर इस विकासका अध्ययन किया जायगा।

×

×

×

संस्कृतकी वैदिक कालीन विशेषताओंका सिंहायलोकनः—

इसके पहले कि हम संस्कृतके परवर्ती विकासको लें, दो बातोंको समझ लेना जरूरी होगा—पहले तो वैदिक भाषाकी कुछ विशेषताओंका मकेत,

१. हिन्दी भविष्यत्का ‘गा’ संस्कृत “गत.” के क्प्रत्ययान्त रूपसे विकसित हुआ है।

तथा दूसरे, संस्कृतमें कौन-कौन विज्ञानीय तत्व आकर प्राकृतवाले विकासमें सहायक हुए हैं । यहाँ हम प्रथमको ले रहे हैं ।

जैसा कि हम देखते हैं ऋग्वेदके मन्त्रोंकी भाषा प्राचीनतम भारतीय भाषा है । यह भाषा अवेस्ताकी भाषाके अत्यधिक निकट है, तथा प्रा० भा० यू० “ग्रुन्डसप्राख” [ Grundsprache ] का पूर्णतः प्रतिनिधित्व करती है । इसीका विकसित रूप लौकिक संस्कृत तथा प्राकृत है । अवेस्ताकी प्राचीनतम भाषा अभिव्यक्तिकी दृष्टिसे वैदिक संस्कृतसे भिन्न नहीं मानी जा सकती । देखा जाय तो वह कालिदासकी संस्कृतसे वैदिक भाषाके कहीं अधिक नजदीक है । ऋग्वेदकी भाषा आज भी विश्वस्त रूपमें मिलती है, उसका अपरिवर्तित रूप आज तक सुरक्षित रहा है । किन्तु, फिर भी कुछ स्थलोपर ऋग्वेदकी भाषाको ठीक उसी रूपमें नहीं लेना होगा, जो हस्तलेखोंमें रहा है । जैसा कि हम बता आये हैं, ऋग्वेद बालकी भाषामें कई कालकी कई विभाषाओंका सन्तुष्ट मानना होगा । सम्पूर्ण ऋग्वेदको दस मण्डलोंमें विभक्त किया गया है । यह मण्डल-विभाजन ऐतिहासिक आधारपर है, पर इसमें कुछ अपवाद भी हैं । द्वितीयसे लेकर सप्तम मण्डल तक “गोत्र मण्डल” कहलाते हैं । इन गोत्र-मण्डलमें प्रत्येक मण्डलके सारे मन्त्र एक ही गोत्रके ऋषियोंके बनाये हुए हैं, यथा, सप्तम मण्डलके ऋषि वसिष्ठ गोत्रवाले हैं, इसी तरह द्वितीय मण्डलके ऋषि गृत्समद गोत्रके हैं, तो तृतीयके विश्वामित्र गोत्रके । द्वितीयसे सप्तम मण्डल तकके ऋग्वेदशास्त्रीकी भाषा प्राचीनतम है । प्रथम तथा दशम मण्डलमें कुछ भाग प्राचीन है, कुछ बादके । वैदिक लोगोंने मत है कि दशम मण्डलका प्रायः सारा ही अंश बादका है । ऐतिहासिक दृष्टिमें नवम मण्डलका विशेष महत्त्व नहीं है, क्योंकि इसमें सोम देवता सबकी सभी मन्त्रोंका समावेश हो गया है । अतः यह मण्डल

१. यहाँ ‘प्राकृत’ शब्दका प्रयोग हम कुछ विस्तृत अर्थमें कर रहे हैं, जिसमें अपभ्रंश तथा आधुनिक भारतीय आर्य भाषाएँ भी सम्मिलित हैं ।

है—ग्रामन्त्रयाञ्चकार, ग्रामन्त्रयामास । यजुर्वेदके गद्यभाग, ऋग्वेदकी ऋचाओंके बहुत वादकी रचना है, यह ध्यानमें रखनेकी बात है ।

**संस्कृत तथा उसके पर्यवर्ती विकासमें विजातीय तत्त्वोंका प्रभाव:—**

जब आर्य भारतमें आये थे, तब यहाँ उनके पूर्व द्राविड तथा आस्ट्रिक परिवारके लोग रहने थे । इन लोगोंकी अपनी अलग-अलग भाषाएँ थी । यह निश्चित है कि आर्योंकी भाषाको ध्वन्यात्मक तथा पदरचनात्मक दृष्टिसे इन भाषाआने चाहे कम प्रभावित किया हो, शब्द-सम्पत्तिकी दृष्टिसे अत्यधिक प्रभावित किया है । गोड तथा सयाल जातिके पूर्वज मुण्डा लोगोंकी भाषा 'आस्ट्रिक परिवारकी' थी । इसी परिवारकी कई बोलियाँ आज भी भारतके कई भागोंमें बोली जाती हैं । डॉ० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या इन्हें 'बोलवर्गके' नामसे अभिहित करना ठीक समझते हैं । इनका सम्बन्ध भाषाशास्त्रीय दृष्टिसे, इण्डोनेशिया तथा आस्ट्रेलियाके निवासियोंकी भाषाओंसे जोड़ा जाता है, तथा इसे 'आस्ट्रो-एशियाटिक' या 'मोन-श्मेर' भाषावर्गके नाममें पुकारा जाता है । मुण्डा-वर्गकी भाँति ही द्राविडवर्गकी भाषाने भी उम काठमें आर्योंकी भाषाको प्रभावित किया था । द्राविड लोगोंकी भाषाएँ भिन्न परिवारकी मानी जाती हैं, तथा भाषाविज्ञानमें 'द्राविण-वर्ग' के नामसे प्रसिद्ध हैं । जैसे कुछ विद्वान् इन्हें 'यूराल-अल्ताइ' परिवार [जिसकी प्रमुख भाषा तुर्की है] से जोड़नेकी कल्पना करते हैं ।

मुण्डा तथा द्राविण भाषाआने, जहाँ तब ध्वन्यात्मकता तथा शब्द-कोपका प्रश्न है, नि सन्देह सम्स्कृतकी प्रभावित किया है, गाय ही आधुनिक आर्य भाषाओंके, जो प्राकृत द्वारा विकसित हुई हैं, विकासमें भी उनका योग रहा है । किन्तु ध्याकरण या पदरचनात्मक प्रभावने प्रियमें विद्वानोंके दो मत हैं । प्रो० टॉमसनने मनानुगार आ० आर्य भाषाओंकी विभक्तियोंके विशेषीकरणमें मुण्डाना ही प्रभाव है, किन्तु डॉ० स्तेन कोनो [Sten Konow] इन बातमें सहमत नहीं । जैसे स्तेन कोनो स्वयं भी विहारी

भाषाके कुछ क्रियारूपोंके विकासमें मुण्डा पदरचनाका प्रभाव मानते हैं ।<sup>१</sup> ध्वनियोंके विकासके सम्बन्धमें विद्वानोंका मत है कि प्रतिवेष्टित [मूर्धन्य] ध्वनियाँ मुण्डा या द्राविड प्रभाव हैं, क्योंकि वहाँ दोनों वर्गोंमें मूर्धन्य ध्वनियाँ पाई जाती हैं । यही नहीं, गुजराती तथा पश्चिमी राजस्थानी एवं भोजपुरी "त्स [च]" ध्वनि, संभवतः किसी मुण्डा विभाषाका ही प्रभाव है, क्योंकि भारतीय आर्य परिवारमें यह ध्वनि नहीं पाई जाती । वैसे वाल्तो-स्लाव्हिक भाषाओंमें इसका अस्तित्व है, यथा रूसीमें 'त्स' [च] [ts] ध्वनि पाई जाती है, जो उसके "त्सार" शब्दमें है, जिसका अर्थ जार होता है ।

आधुनिक आर्य भाषाओंमें चार या बीसवाली गणना मुण्डा भाषाओं का ही प्रभाव है । साथ ही इसी गणनाके साकेतिक शब्द गण्डा [४], कौडी [२०], मुण्डा भाषाओंसे आये हैं । इसी तरह कई ऐसे शब्द हैं, जिन्हें हमारे प्राकृत वैयाकरणोंने देशी या देशज मानकर तत्सम तथा तद्भव कोटिसे निम्न माना है । इनमेंसे बहुतसे शब्द मुण्डा या द्राविड शब्दकोषसे आये हैं । प्रो० प्रजीलुस्की [Przyluski], ब्लॉस, सिलवाँ लेवी [Sylvan Levi], तथा डॉ० चाटुज्यानि कई ऐसे शब्द ढूँढे हैं, जो संस्कृतमें मुण्डा या द्राविड भाषाओंसे आये जान पड़ते हैं । इनमेंसे कुछ शब्दोंका सवेत यहाँ दिया जाता है, विशेष अध्ययनके लिए डॉ० पी० सी० वाग्ची द्वारा सम्पादित 'प्रि-आर्यन एव प्रि-ड्रेविडियन' नामक पुस्तिकामें उपर्युक्त पण्डितोंके लेखोंको देखना चाहिए ।

बाण, विनाक, दोनों संस्कृत शब्दोंका सर्वथ दिन + आक से जोड़ा जाता है । आक, अनक, भाग एतद् इसी अर्थमें मुण्डा भाषामें पाये जाते हैं । वहाँ इनका अर्थ धनुष तथा बाण है ।

१. Dr. Bagchi : "Pre-Aryan and Pre-Dravidian."  
[ Introduction ], p. XI.



कपोल संस्कृत शब्द मुण्डा भाषाके कपो, तपोत्र आदि रूपोंसे जोड़ा जाता है, जिनमें मूल रूप “-पोल” है। मुण्डा भाषाओंमें ‘क’ ‘त’ का विपर्यय पाया जाता है।

नारिकेल संस्कृत शब्द मुण्डा शब्द निपोर [ नारियलका वृक्ष ], तथा फोर्देई [फल] इन दो शब्दोंके संयोगसे बना माना जा सकता है।

भेक शब्द मुण्डा तवेग, बुग्नाक से संबद्ध माना गया है, जिसका अर्थ ‘मैडक’ है।

जङ्घा का संबध मुण्डा छान-छोग, जग्गा, [सथाली], जोंग, जुङ्ग से जोड़ा जाता है।

कपोत शब्दका संबध मुण्डा कपोत, कवोत से जोड़ा जाता है।

काक शब्दका संबध मुण्डा बुग्नाग, आग, गाग, कएक से बताया गया है।

कूलाहल [अर्थ, जहर] संस्कृत शब्द भी मुण्डा हाले, हलेक से संबद्ध माना गया है, जहाँ इनका अर्थ ‘काला साँप’ है।

इनके अतिरिक्त जितने भी ‘म्ब’ ‘यु’ ध्वनिवाले संस्कृत शब्द हैं, उनमेंसे अधिकतर शब्दोंको प्रो० प्रजीलुस्की [Przyłuski] ने मुण्डा भाषाकी देन कहा है। दादुम्ब, कदम्ब, शिम्ब, निम्ब, रम्भा, स्तम्ब, तुम्ब, तुम्बुरु, उदुम्बर, निम्बु[क], जम्बु, जम्बीर, लावु, अलावु जैसे कई शब्द मुण्डा-वर्गकी ही देन माने जाते हैं। संस्कृतका गुड शब्द भी मुण्डाके गुल, गुला, गूल, हूलो से संबद्ध है, जिसका अर्थ ‘शक्कर’ है। क्या हिन्दीके गुलगुला शब्दका भी उद्गम मुण्डामें ही है? प्रो० गिल्बर्ट लेवीने बताया है कि कई भौगोलिक स्थानोंके नाम भी संस्कृत भाषामें मुण्डासे ही आये हैं। उनके मतानुसार षोसल तीसल, धंग-वग, कॅलिंग त्रिलिंग, उत्कल-मेरल, पुलिद-कुलिद आदि देश नाम मुण्डासे ही आर्य भाषाओंमें आये

है। आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओंमेंसे कईमें जो प्रतिध्वनि शब्द [ जैसे, घोडा-बोडा, पंसा-बंसा, जल-धल, रोटी बोटो, जलेबी-वलेबी ] हैं, क्या वे मुण्डा प्रभाव तो नहीं हैं ?

द्राविड भाषाआसे भी संस्कृतमें कई शब्द आये हैं। प्रो० ब्लॉखने अपने निबन्ध 'संस्कृत तथा द्राविड' में इसपर प्रकाश डाला है<sup>१</sup> 'घोडे' के लिए वास्तविक आर्य शब्द 'अश्व' है, किन्तु बादमें संस्कृतमें घोटक [ घोट- ] शब्दका प्रयोग पाया जाता है। यह शब्द सर्वप्रथम आप-स्तम्ब श्रौतसूत्रमें पाया जाता है। वस्तुतः यह द्राविड भाषाके गुराम् [ तैलगू ], कुदुरु [ कन्नड ], कुदिरैड [ तामिल ] में सम्बद्ध है। यहाँसे पहले यह बोलचालकी प्राचीन भाषामें आया है, और बादमें संस्कृतमें भी गृहीत हो गया है। दूसरा उदाहरण हम हिन्दी पेट शब्द ले सकते हैं। संस्कृतमें इसके लिए उदर शब्द है। प्राकृत तथा परवर्ती भा० आ० भाषाओंमें यह शब्द विकसित नहीं हुआ है। जब कि प्राकृतमें पेट्ट शब्द पाया जाता है। वैसे संस्कृतमें भी पेट शब्दको अपनाया है, पर भिन्न अर्थमें। संस्कृतके पेटक, पेटिका [ मट्क, सँदूकची ] जैसे शब्द मूलतः इसीसे सबद्ध हैं। संस्कृतका विडाच शब्द लीजिए, जिसका प्रयोग सर्वप्रथम रामायण व महाभारतमें पाया जाता है। इसीसे हिन्दी बिल्ली, बिलंग्या, जिप्सी बलारी, शब्द निकले हैं। इसका सबन्ध भी द्राविड शब्द विल्सी [ कन्नड ] से माना जाकर, इसे द्राविड प्रभाव कहा गया है। संस्कृतके गर्बभ शब्दके विषयमें यह मत है कि इसमें दो अक्षर हैं, एक मूलशब्द [ \*गर्भ ] दूसरा—भ प्रत्यय। यह शब्द ऋग्वेद तकमें पाया जाता है। यह तो निश्चित है कि यह आर्य शब्द नहीं है, पर वहाँ से आया है यह प्रश्न समस्या बना हुआ है। विद्वानोंने यह तो कहा कि यह द्राविड भाषाका प्रभाव है, पर यह

१. *ibid* Prof. Sylvan Levi's article "Pre Aryan and Pre-Dravidian in India" PP. 63 to 123

२. *ibid*, Prof. Bloch's article. pp. 37 to 59.

समस्या अभी सुलझ न पाई है। छान्दोग्य-उपनिषद्में एक शब्द मटची मिलता है, इसका सम्बन्ध विद्वानाने कन्नड निडिचे से जोड़ा है, जिसका अर्थ 'घासका धोडा' [ एक कीडा ] है। संस्कृतका 'मयूर' शब्द जो ऋग्वेदमें पाया जाता है, द्रविड शब्द मयिल [ तामिल ], मय्लु [ कन्नड ], मलि [ तैलगू ] से जोड़ा जाता है।

संस्कृतमें द्राविड भाषासे आये शब्दोंमें कतिपय निम्न हैं :—

स० अनल [ आग ], तामिल अनल, [अग्नि, धातु 'जलाना'], मल० कन्नड, नल, [ अग्नि, ताप ], अनलु [ ताप ]।

स० अलस [ आलसी ], ता० अलचु, म० अलमुक, कन्नड, अलमु [ थका हुआ ]।

स० उल्लूल [ ओखल ], ता० उल्लुइ, म० उल्लुक, कन्नड, ओलके, तैल० रोकली।

स० एट [ भेड ], ता० याटु, आटु [ बकरी, भेड ], कन्नड, आटु [ बकरी ], तै० एट [ मेढा ]।

स० कज्जल, ता० करिकल [ कालिमा ]।

स० कटु [ कडवा ], ता० कटु, म० कटु, तैलगू, कटु।

स० करीर [ वांस ], क० करिले, तु० कणिले, द्राहुई खरिण। [वांसकी कोपल, अकुरित होना]

स० कानन [वन], ता० का, कान, कानन, कानल, म० कावु, कानल।

स० कुटी, ता० कुटी, तै० सुटी।

स० कुटिल, ता० कोटु कूट, म० कोटु, कन्नड, कुइ।

स० कुदाल [ कुदाली ], तै० गुदलि, क० गुदु।

स० कुतल [ बाल ], ता० म० कूतल, क० कूदल।

स० कुवलय [ कमल ], ता० कुवळइ, कन्नड, कोमळे, कोवळ, कोळे [ तु० स० कमल ]।

सं० खल, ता० कळ, कळ्वान [चोर], कन्नड कळ्ळ [चोर], ते० 'कळ्ळ' [घोखा] ।

सं० घुण [कीडा], कन्नड गोष्णे [-गुरु] [कीडा] ।

सं० घूक [उल्लू], ता० कूकइ, कन्नड, गूगि, गूगे, गूवि, ते० गूवि, गूव ।

सं० चंदन, ता० चातु, चात्तु म० चातु, चातु, कन्नड, सादु, ते० चांडु ।

सं० √ चुम्ब् [चूमना], ता० चूप्पु [चूसना] ।

सं० चूडा [बालोका गुच्छा], ता० चूट्टु [सिरपर पहनना, सिरके बालोका गुच्छा], म० चूट्टु [मुगेंकी बलंगी], कन्नड मूडु ।

सं० दण्ड, ता० तण्टु, कन्नड दण्टु, ते० दण्टु ।

सं० निर्गुण्डी [गिलोय], ता०, म० नोच्चि, क० नेक्कि, लेक्कि, लक्कि ।

सं० नीर [जल], ता०, म० वन्नड, नीर, ते० नीर, वाट्टई, दीर ।

सं० √ पण् [शर्त करना], ता० पणइ [बांधना], कन्नड, पोणे [जमानत] ।

सं० पण्डित [विद्वान्], ते० पण्डु, 'परिपक्व', पण्ड, 'बुद्धि' ।

सं० पालि [पवित्र], क० पारि, म० पालि, ते० पाडि ।

सं० वक्, ता० वक्का, वंक, ते० वक्कु ।

सं० विल्व [वेल्] ता० विळा, विळ्ळानु, वंळिळ, म० विळा, कन्नड विलावल ।

सं० मीन, [मछली], ता० मीन, कन्नड, मीन, ते० मीनु ।

सं० मुकुल [कली] ता० म० मुक्कि, ता० मुक्कइ, कन्नड मुगुल ।

सं० बलय [कडा], ता० बलइ, कन्नड बल्ले ।

सं० दाव [मर्दा], ता० चा [मरना], चावु, [मृत्यु], कन्नड 'सा' [मरना], सावु [मृत्यु] ।

सं० हेरम्ब [भैंसा], ता० एरम्ब, म० एरिम् [भैंसा] ।

भाषाओंके परस्पर शब्द-ग्रहणके संबंधमें, साथ ही भाषाओंके तुलनात्मक अध्ययनमें उनके शब्द-कोषकी तुलनामें हमें बहुत सनक रहना होगा। अगर हमने उन मुण्डा-द्राविड शब्दोंको देखा, जो संस्कृतमें ध्वन्यात्मक परिवर्तनके बाद विकसित हुए हैं। इनमें हमें कुछ शब्द ऐसे भी मिल सकते हैं जो ऋण [loan word] नहीं माने जा सकते। हमें ऐसे शब्दोंको एक ओर रखकर फिर आदान-प्रदानके तत्त्वका अध्ययन करना होगा। मेरा तात्पर्य "काक"—कोटिके शब्दोंसे है। इस कोटिके जितने भी शब्द होंगे, उन्हें मैं भाषावैज्ञानिक अध्ययन करते समय उपेक्षित समझूँगा। इस कोटिमें मैं उन शब्दोंको लूँगा, जिन्हें हम ध्वन्यात्मक या अनुकरण-आत्मक [onomatopoeic] शब्द कहते हैं। प्र० जे० आर० फर्ब इस कोटिके शब्दोंको प्रतीकात्मक [symbolic] कहना विशेष ठीक समझते हैं, जिन पारिभाषिक सज्ञामें अनुकरणात्मकसे अधिक क्षेत्रका समावेश होता है। ये प्रतीकात्मक शब्द विभिन्न भाषाओंमें स्वतन्त्र रूपसे भी विकसित हो सकते हैं, और यदि ये किसी भाषामें किसी अन्यसे लिये भी गये हों, तो इसके लिए हमारे पास कोई निश्चित प्रमाण नहीं है। अतः किन्हीं भी दो भाषाओंके शब्द-कोषकी तुलनामें ऐसे शब्दोंको हम पहले से ही निकाल कर एक ओर रख देंगे। संस्कृतमें काक, कोकिल, कुक्कुट, निर्भर, मर्मर ऐसे कई शब्द इस 'काक-कोटि'में गृहीत होंगे। इसलिए शब्दावलीके आदान-प्रदानके बारेमें निर्णय देते समय भाषावैज्ञानिकोंको बड़ा सतर्क होकर चलना है। इस सम्बन्धमें एक बात याद आ गई। फ्रेंच भाषामें 'टोप' के लिए एक शब्द पाया जाता है, उसका उच्चारण 'शापो' [chapeau] होता है, ठीक यही उच्चारण एक राजस्थानी शब्दका है—'शापो' [म्यापो] [हि० साफा], जिनका अर्थ 'पगड' है, परं भाषावैज्ञानिक दृष्टिसे इनका एक दूसरेसे कोई सम्बन्ध नहीं है। इसी प्रकार संस्कृत 'नारग' शब्दको लीजिए 'सन्तरे' के लिए स्पेनिश भाषामें इसीसे मिलते-जुलते शब्द 'नारंज' [naranja] का प्रयोग पाया जाता है। पर जब तक हमारे

पास कोई ऐतिहासिक प्रमाण नहीं कि संस्कृतको यह शब्द विदेशी देन है, सब तक कुछ कहना अनर्थ प्रलाप होगा। यदि हमारे पास यह प्रमाण है कि कुछ विदेशी जातियाँ [संभवतः हूण] इस शब्दको एक ओर संस्कृत और दूसरी ओर स्पेनी जैसी रोमान्स भाषा तक ले गये, तो भी दोनों जगह विदेशी तत्त्व होनेसे यह शब्द न तो स्पेनी भाषाकी ही शब्द सघटनाका, न संस्कृतकी ही शब्द-सघटनाका शुद्ध उदाहरण बन सकेगा। इसके प्रतिकूल अंगरेजी भाषाकी 'स्लैंग' [slang] में प्रयुक्त 'पाल' [pal] [इसका उच्चारण कुछ-कुछ 'फाल' [p'al] जैसा होता है] तथा 'चल' [chal] शब्दको हम संस्कृतके भ्राता तथा चेट शब्दसे पूर्णतः संबद्ध मान सकते हैं। ये दोनों शब्द वस्तुतः अंगरेजीमें जिप्सी [रोमानी] भाषासे आये हैं। जिप्सी भाषा संस्कृतसे निकली हुई भारतीय आर्य भाषा है, जो उन घुमक्कड़ोंकी भाषा है, जिनके पूर्वज ईसाकी पहली तथा तीसरी शताब्दीके बीचमें घूमते हुए यूरोप पहुँच गये थे। जिप्सी भाषाकी यह विशेषता है कि वहाँ संस्कृत 'त' ध्वनि [साथ ही 'ट' ध्वनि भी] 'ल' हो जाती है, तथा संस्कृत भ' ध्वनि 'फ' हो जाती है। इस प्रकार संस्कृतके भ्राता तथा चेट जिप्सीमें जाकर 'फाल' और 'चल' हो गये हैं। वहीमे ये अंगरेजीकी 'स्लैंग' में आ गये हैं। इस संबंधमें यह भी कह दिया जाय कि संस्कृत चेट शब्द भी शुद्ध आर्य न होकर मुण्डा या द्राविड देन है। क्या अपभ्रंशवाला 'छद्दव' [हि० छंला] शब्द इसीका तो विकास नहीं ?

आगे जाकर लौकिक संस्कृतमें कई ऐसे भी तन्त्र आ गये हैं, जो प्राकृत रूप थे, और संस्कृत माने जाने लगे। ये प्राकृत शब्द वस्तुतः संस्कृतसे ही विकसित हुए थे, पर बादमें ये संस्कृतमें भी प्रयुक्त होने लगे। प्राकृतसे संस्कृतमें आये कुछ शब्द ये हैं — बट / चूत, नापित / √ स्ना, लाद्यन / लक्षण, पुत्तल / पुत्र + ल, भट्टारक / भर्ता, भट / भूत, मनोरथ / मनोऽथ। [दि० डॉ० चाटुर्जा भारतीय आर्यभाषा और हिंदी ५० १७] उदाहरणके लिए पुनः मारिय, इंगाल, मंरेय इन शब्दोंको

लीजिए। ये तीनों प्राकृतके शब्द हैं। वैसे 'मारिष' प्राकृतमें मारिष है, यही संस्कृतके घनि नियमके अनुसार प घनि आ गई है। इस शब्दका अर्थ 'मिष' है तथा यह प्राकृत रूप संस्कृत 'माहसः' से विकसित हुआ है। प्राकृतमें ही यह शब्द संस्कृत नाटकोंमें आकर 'मारिष' हो गया है। 'इंगाल' शब्द संस्कृत छंगार का प्राकृत रूप है। विद्वानोंने वैसे इस शब्दको भी शुद्ध आर्य न मानकर अंगु, इंगुग आदि मुण्डा शब्दोंसे जोड़नेकी चेष्टा की है। यह प्राकृत इंगाल फिरसे संस्कृतमें प्रयुक्त होने लगा है। थोहर्षने नैपथमें इसका प्रयोग किया है:—“चित्तेर्जुरिगालमिषायशः परे” [प्रथम सर्ग]। मरेय शब्दकी भी ऐसी ही कहानी है। संस्कृतके मरु शब्दसे दूसरा शब्द बनता है मरिह, इसीका प्राकृत रूप महर होता है। इसी प्राकृत महर से फिर दूसरा शब्द बनता है 'मइरेय' [मइरेय] इसीका संस्कृत रूप मरेय है जिसका शुद्ध संस्कृत रूप \*मदिरेय बनता है। मरेय शब्दका प्रयोग 'शराव' के अर्थमें लौकिक संस्कृतमें बहुत पाया जाता है। माघने शिशुपालवधमें इसका प्रयोग बहुत किया है—“.....पीतमरेयरिक्तं कनकचपकमेतद्रोचनालोहितेन”, [एकादश सर्ग]। इसीके बादके कालमें साहित्यिक संस्कृतमें अरबी फारसी शब्द भी आ गये हैं, पर बहुत कम। थोहर्ष नैपथके चौदहवें सर्गमें श्लेषके रूपमें 'भूरितरवारि' पदका प्रयोग करते हैं, जहाँ 'तरवारि' शब्द 'तलवार' के अर्थमें भी आया है। आगे जाकर वैद्यकवि लोलिम्बराजने तो 'पात-शाह' शब्दको भी संस्कृत पदावलीमें समाविष्ट कर “लोलिम्बराजःश्वि-पातशाहः” की खिचड़ी पकाई थी। हिन्दी शब्द 'खिड़की' का प्राकृत रूप 'खिडक्किआ' या 'खिडक्किआ' रहा होगा। मैंने इसका लौकिक संस्कृत साहित्यमें 'खिडक्किआ' प्रयोग भी देखा है। वैसे बादमें कई अंगरेजी, फारसी आदि शब्दोंके नये संस्कृत शब्द गढ़ लिये गये हैं, पर वे

१. मइरेय वस्तुतः मइरेयका ही य-ध्रुति [y-glide]वाला रूप है।

२. पं० भट्ट मधुरानाथका साहित्यवैभव नामक काव्यग्रन्थ।

ये । इन्हीदो वैदिक साहित्यमें 'शात्य' नामसे अभिहित किया गया है । इन लोगोंको वैदिक ध्वनियोंमें प्रायः ऋ, ऐ, औ, र, स, य ध्वनियोंके उच्चारण में बड़ी कठिनाई प्रतीत होती थी । ठीक इसी तरह संयुक्त ध्वनियोंके उच्चारण करनेमें भी वे असमर्थ थे, विशेषकर तज, जय कि संयुक्त ध्वनियाँ दो भिन्न प्रकृतिकी होती थी ।

ब्राह्मण कालकी प्राकृतको मोटे तौर पर तीन तरहकी माना जाता है :—[१] उदीच्य, [२] मध्यदेशीय तथा [३] प्राच्य । उत्तरवैदिक कालमें विकसित प्राकृतोंमें उदीच्य विभागा [प्राकृत] संस्कृतके अत्यधिक समीप थी । इसी उदीच्य विभागाके आधारपर महर्षि पाणिनिने साहित्यिक तथा परिष्कृत रूप देनेके लिए व्याकरण [अष्टाध्यायी] सूत्रोंका निबन्धन किया था । मध्यदेशीय प्राकृत अन्तर्वेदकी विभागा थी, तथा प्राच्य प्राकृत मगधके आसपासकी । कुछ लोगोंके मतानुसार दक्षिणात्य जैसा चौथा वैभाषिक रूप भी उक्त कालमें रहा होगा । किन्तु बहुत बाद तक दक्षिणकी आर्य विभागा मध्यदेशीयके ही अन्तर्गत रही है । यहाँ तक कि महाराष्ट्री तथा शौरसेनीको विद्वानोंने एक ही प्राकृतकी दो शैलियाँ माना है, जिसमें प्रथम पद्यमें पाई जाती है तथा द्वितीय गद्यमें ।

तो, अशोकके पूर्वकी प्राकृतें मोटे तौर पर तीन तरहकी मानी जा सकती हैं । अशोकके समयकी वैभाषिक प्रवृत्तियोंको हम उत्तरप्रदेशके शिलालेखकी भाषामें देख सकते हैं । उदाहरणके लिए जहाँ लिख् का णिजन्त रूप गिरनारके शिलालेखमें 'लेखापिता' मिलता है, वहाँ शहबाजगडीवाले लेखमें लिखपितु, जोगढवाले लेखमें लिखापिता, तथा मानसेरके लेखमें लिखपित पाया जाता है । अशोकके गिरनार शिलालेखमें इसका भविष्यत् रूप लिखापयिसम् पाया जाता है, जब कि बादमें मागधीमें यह 'लिहावइशम्' [मृच्छकटिक पु० १३६] हो गया है ।

इससे २०० वर्ष पूर्वके लगभग ये विभागाएँ कुछ निश्चित भाषाओंके रूपमें विकसित हो गईं । इस समय ये विभागाएँ मोटे तौर पर चार



प्राकृतोमे—पैशाची, शौरसेनी, महाराष्ट्री तथा मागधीम—विभक्त मानी गई है। प्राकृत वैयाकरणाने इन सब प्राकृतोम साहित्यिक दृष्टिसे महाराष्ट्रीको परिनिष्ठित प्राकृत माना है। यद्यपि इन सभी प्राकृताम कई ध्वन्यात्मक तथा पदरचनात्मक तत्त्व समान रहे हैं, पर अपनी निजी विशेषताओंके आधारपर यह वर्गीकरण किया गया है। 'प्राकृत' शब्दकी व्युत्पत्तिके विषयमें पण्डितोंके दो मत हैं। प्राकृत वैयाकरण अधिकतर यही मानते आये हैं कि प्राकृत भाषाएँ संस्कृतसे निकली हैं। इसी आधारपर वे 'प्राकृत' शब्दकी व्युत्पत्ति यों करते हैं।

प्रकृति संस्कृत । तत्र भव तत आगत या प्राकृतम् । [हेमचन्द्र ३।१]

प्रकृति संस्कृत । तत्र भव प्राकृतमुच्यते ॥ [मार्कण्डेय पृ० १]

प्रकृतेरागत प्राकृत, प्रकृति संस्कृतम् । [घनिक दशरूपकवृत्ति २।६०]

प्रकृति संस्कृत तत्र भवत्वात् प्राकृत स्मृतम् । [प्राकृतचन्द्रिका]

प्राकृतस्य सर्वमेव संस्कृत योनि । [वासुदेव-कपूर्वमञ्जरीटीका]

इस प्रकार सभी प्राकृत वैयाकरणा या प्राचीन पण्डितोंके मतानुसार प्राकृतकी उत्पत्ति संस्कृतसे मानी जाती है। दूसरी ओर आधुनिक विद्वान इस मतसे मनुष्य नहीं, क्योंकि वे यह मानते हैं कि प्राकृत संस्कृतसे उत्पन्न न होकर वैदिक कालकी बोलियोंमें विकसित हुई है। यदि हम संस्कृत शब्दका ऊँच अर्थ न लेकर वैदिक कालकी समस्त वैभाषिक प्रवृत्तियोंके अन्तर्गत निहित एकस्वतावाला अथ लँ, तो सारी समया मुलज जायगी। वैसे पाणिनिवाली लौकिक संस्कृतसे तो प्राकृतें उत्पन्न नहीं हुई हैं, यह निश्चित है कि तु वैदिक [संस्कृत] भाषाया परवर्ती विकास तो ये नि सदेह हैं ही। पुराने पण्डितोंके मतमें जो त्रुटि थी वह यही कि वे इहें प्राय लौकिक संस्कृतसे उत्पन्न मानत थे।

प्राकृताके द्वितीय विकास काल [२०० ई० पू०—६०० ई०] में शौरसेनी प्राकृत विशेष महत्त्वपूर्ण थी। महाराष्ट्री इसकी एक विशेष बौली थी। पर प्राकृत वैयाकरणों तथा अन्य प्राचीन पण्डितोंने महाराष्ट्रीको ही

‘दृष्टेण्डे’ तथा उत्तम प्राकृत माना। दण्डीने अपने वाव्यादर्शमें इसी बातका संकेत करते कहा था, “महाराष्ट्राश्रया भाषा प्रकृतप्राकृत विदुः।”<sup>१</sup> दण्डीके बहुत पहले ही प्रसिद्ध प्राकृत वैयाकरण वररुचिने शौरसेनी, मागधी तथा पेशाची प्राकृतोंकी विशेषताओंका उल्लेख करनेसे पहले महाराष्ट्री प्राकृतके नियमोंका निबधन किया है तथा उससे जो विभिन्नताएँ इन दूसरी प्राकृतोंमें पाई जाती हैं, वे यथावर “शेष महाराष्ट्रीवत्”<sup>२</sup> लिग दिया है। इसी कालमें आकर प्राकृत भी साहित्यिक रूप लेने लगी। इस कालमें अंतिम दिनोंसे लेकर १० वीं शती तक महाराष्ट्रीमें सेतुबन्ध, गडडवहो जैसे वाक्य लिखे गये। जैसे हालकी ‘सत्तसई’ का रचना काल बहुत पुराना माना जाता है, किन्तु ‘गाहा-सत्तसई’ किसी कविरी रचना है या लोक-वाक्योंके रूपमें प्रचलित गायत्रीका सग्रह, जिनका विरास ईसाकी प्रथम शताब्दीके आसपास हुआ होगा, यह प्रश्न समस्या ही है। अनुमान ऐसा होता है कि हाल इसके सग्रहक धे और सत्तसईका यह सग्रह ईसाकी दूसरी या तीसरी शतीके लगभग हुआ होगा। संभवतः हालने इन लोक-वाक्योंको कुछ परिष्कृत रूप भी दिया हो, पर यह निश्चित है कि यह परम्परा लोकवाक्योंकी ही रही होगी।

प्राकृतोंके इस द्वितीय विकास कालमें हमारे सामने एक समृद्ध धार्मिक तथा साहित्यिक भाषा आती है, वह है पालि। पालिमें बौद्धोंका ‘धेरवादी’ साहित्य तथा हीनयान शास्त्रोंका साहित्य मिलता है। पालि वहाँकी विभाषा रही है, तथा इसका विकास कैसे हुआ, इस विषयमें विद्वानोंके दो मत थे, किन्तु अब यह निश्चित हो गया है कि पालि मूलतः मध्यदेशकी प्राकृत [शौरसेनी] से विकसित हुई थी<sup>३</sup>, यद्यपि इसमें कई मागधी तत्व भी

१ वाव्यादर्श १।३४।

२. प्राकृतप्रकाश १२।३२।

३ Dr Chatterjea : Origin and Development of Bengali Language P. 57 Vol 1 [Intro.]

स० घोटक [वारमोरी, गुड्ड], स० रङ्ग [वा० सडक] ।<sup>१</sup> हम देते हैं कि पैशाची प्राकृतने उदीच्य प्राकृतको प्रभावित कर कई मिश्रित विभाषाओंको जन्म दिया था । यही कारण है, इस तरहके कुछ प्रभाव हम लहँदा तथा पञ्जाबीमें भी देखते हैं । सम्भवतः ब्राह्मण अपभ्रंश जिससे लहँदा और सिन्धी विकसित हुई पैशाचीसे प्रभावित मध्यदेशीय प्राकृतका विकसित रूप थी ।

गाथा सप्तशतीके सग्रहबालमें ही प्राकृत साहित्यका रूप ले चुकी थी । और प्राकृतके बोलचालवाले कालके समाप्त होनेके बहुत बाद तक यह साहित्यिक भाषा बनी रही । इसी कालमें कुछ प्राकृत कवियोंने प्राकृतभाषाको मधुरताकी महत्ता धारित की तथा संस्कृतसे अधिक प्राकृतकी प्रशंसा की ।

अग्निश्च पाउग्रकश्च पण्डित सोऽथ जे ए आणति ।

कामस्स तत्तन्ति कुणन्ति ते कहे न लज्जति ॥ [या० श० २]

[ जो लोग अमृतके समान मधुर प्राकृत काव्यको पठना और सुनना [समझना] नहीं जानते, वे लोग कामकी तत्त्वचिन्ताको करते हुए भी लज्जित क्यों नहीं होते ? ]

पदसा सङ्गप्रबधा पाउग्रबधो वि होद मुज्जारो ।

पुरिसमहिलाएँ जेत्तिय मिहतर तेत्तियमिमाण ॥ [कपूर्मज्जरी सट्टक]

[संस्कृतके काव्य पर्यु होते हैं, किन्तु प्राकृतके काव्य अत्यधिक कोमल होते हैं । इन दोनोंमें ठीक वही अन्तर है, जो पुरुषों व रमणियाम । ]

अपभ्रंश काल—ईसाकी छठी शतीसे ईसानकी दसवी शती तक, भारतीय आर्य भाषाओंका जो विकास पाया जाता है, उस मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषाओंकी तीसरी स्थिति कह सकते हैं । संस्कृत तथा प्राकृत दोनोंसे भिन्न बतानेके लिए उसे 'अपभ्रंश' संज्ञा दी जाती है, जिसका अर्थ

१. The Linguistic conception of Kashmiri [Sir G. A. Grierson] [Indian Antiquity] Nov. -Dec. 1915

है “विगडी हुई”, अर्थात् यह “विगडी हुई भाषा” थी। अपभ्रंश शब्दका सर्वप्रथम प्रयोग पातञ्जल महाभाष्यमें मिलता है।—“एकस्मैव हि शब्दस्य बहुवोऽपभ्रंशा तद् यथा गौरित्यस्य शब्दस्य गावी गोणी गोता गोपोतलिकेत्पादयो बहुवोऽपभ्रशाः।” [एक ही शब्दके बहुतसे अपभ्रंश रूप मिलते हैं, जैसे एक [गुड] शब्द ‘गोः’ के गावी, गोणी, गोता, गोपोतलिका आदि बहुत अपभ्रंश रूप होते हैं।] पर यहाँ पतञ्जलि ‘अपभ्रंश’ शब्दका प्रयोग किसी भाषा-विशेषके अर्थमें नहीं करते। उनके मतानुसार अपभ्रंश शब्द वे हैं, जो पाणिनीय व्याकरणके विरुद्ध तथा असंस्कृत हैं, किन्तु लोकमें प्रचलित हैं। पतञ्जलि वाला यही मत बादके संस्कृत वैयाकरणोंमें, यथा वाक्यपदीयकार भर्तृहरिमें भी देखा जा सकता है<sup>१</sup>। इसके बाद ‘अपभ्रंश’ शब्दका भाषाके अर्थमें प्रयोग दण्डीमें मिलता है। दण्डीके मतानुसार ‘अपभ्रंश’ भाषा [बोली] आभीर आदि जातियोंके द्वारा व्यवहृत होती थी [आभीरादिगिरि वाग्धेव्यपभ्रंश इति स्मृता —वाग्यादशे १।३६]। भरतके नाट्यशास्त्रमें ‘अपभ्रंश’ शब्दका प्रयोग नहीं मिलता, किन्तु आभीर आदि जातियोंकी भाषाको भरतने माना है<sup>२</sup>। इस प्रकार अपभ्रंशके आभीरोंके साथ सम्बन्धवाले सवैतको हम नाट्यशास्त्रमें ही ढूँढ सकते हैं। इस सम्बन्धमें यह भी कह दिया जाय कि भरतने हिमवत्, मिन्धु, सौवीर आदि देशोंके वासियोंकी भाषाकी प्रमुखा विशेषता उकार-बहुलत्व बताई है<sup>३</sup>, जो अपभ्रंशमें पाई जाती है। इस प्रकार अपभ्रंश

१. महाभाष्यः [परमशाहिक]

२. शब्दसंस्कारहीनो यो गौरिति प्रयुयुधिते ।

तमपभ्रंशमिच्छन्ति विशिष्टार्थनिवेशनम् ॥

—वा० प० प्रथमकाण्ड का० १४८

३. नाट्यशास्त्र १७।४४ [पृ० २१८] ।

४. हिमवतिसन्धुसौवीरान् येऽन्वदेशान् समाधिताः ।

उकारबहुलां तेषु नित्यं भाषां प्रयोजयेत् ॥

यही १८।४६ [पृ० २१८]

तरहके उच्चारणको व्यक्त करते हैं। यहाँ प्रथम उच्चारण शून्य-श्रुति [zero-glide] वाला या साधारण उच्चारण है, द्वितीय व-श्रुतिवाला है, तृतीय य-श्रुतिवाला।

शून्य-श्रुति	व-श्रुति	य-श्रुति
साए [kha'c]	सावे [kha'e]	साये [kha'e]
पीए [pi'c]	पीवे [pi'e]	पीये [pi'e]
जाए [ja'c]	जावे [ja'e]	जाये [ja'e]
कुई [ku]	कुयी [ku'i]	कुवी [ku'i]
सुई [su]	सुयी [su'i]	सुतो [su'i]

इस परिच्छेदमें हम केवल उन्हीं परवर्ती विभेयताओंका संकेत कर रहे हैं, जो विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। यही कारण है, संस्कृत व्यञ्जनध्वनियोंके विकासको हम बड़े सक्षेपमें लेंगे। इससे पटले कि हम व्यञ्जनोंके विकासपर दो शब्द कहे आ० भा० आ० 'अनुनासिकीकरण' पर कुछ बह देना जरूरी होगा। स्वरोके नासिक्य रूपों ऐतिहासिक दृष्टिसे दो तरहका माना गया है, १. पराश्रय या सकारण अनुनासिकता, तथा २. निराश्रय या अकारण अनुनासिकता। जहाँ किसी प्रत्यक्ष कारणसे स्वरकी अनुनासिकता पाई जाती है, उसे प्रथम श्रेणियोंमें माना जाता है, जैसे राम, हनुमान्, जामवत के राम, हनुमान्, जामवन्त इन रूपोंमें। दूसरे ढंगकी अनुनासिकता वह है जहाँ प्रत्यक्ष रूपमें कोई अनुनासिक ध्वनि उच्च पदमें नहीं है, जिसका प्रभाव अनुनासिकीकरणके रूपमें हो। जहाँ अनुनासिकीकरणका कोई कारण विद्यमान न हो, ऐसे निराश्रय अनुनासिकीकरणको बर्लाँ तथा

१. कुर्मा शब्दके स्त्रीलिंग रूपका उच्चारण य तथा य श्रुतिवाला भी सुना जाता है। ठीक यही बात सुईके विषयमें है, पर इसका व वाला उच्चारण बहुत कम सुना जाता है—राजस्थानीकी पूरबी धोलीमें ये व-श्रुतिवाले रूप यत्र तत्र सुने जा सकते हैं।

टर्नर "स्पोंटेनियस नेत्रेलाइजेशन" कहते हैं।<sup>१</sup> इसके उदाहरण कंकर, झील, साँप आदि दिये जा सकते हैं, जहाँ संस्कृत रूपोंमें या इनके प्राकृत रूपोंमें भी अनुनासिक तत्त्व नहीं है :—कंकर [कक्कर], झिल [झक्किल], सर्प [सप्प]। अनुनासिकीकरणका विशेष विवंचन डॉ० सिद्धेश्वर वमकि निबन्ध 'नेत्रेलाइजेशन इन हिंदी लिटररी वर्क्स' में देखा जा सकता है, जो कलकत्ता विश्वविद्यालयके डिपार्टमेंट ऑफ़ लेटर्स के १९२९ वाले जर्नलमें प्रकाशित हुआ है। मैंने इस विषयपर विस्तारसे अपने अन्य निबंध "भारतीय धार्मिक भाषाएँ तथा अनुनासिक ध्वनियाँ" में विचार किया है, अतः वहाँ द्रष्टव्य है। यह निबंध शोधपत्रिका [२००९] में प्रकाशित हुआ है। यहाँ संकेत मात्र दिया गया है।

### संस्कृत व्यञ्जन ध्वनियोंका परवर्ती विकास :—

१. प्राकृतकालीन विकास :—[१] संस्कृत न, य, श के अतिरिक्त प्रायः सभी ध्वनियाँ प्राकृत कालमें शब्दोंके आदिमें अपरिवर्तित रही हैं। न, य, श क्रमशः ञ, ज, स बन जाते हैं। जघा, जघरं, सेज्जा [यघा, नगरं, शीप्या]

[२] संस्कृतके पदादि क, घ कभी-कभी ख, फ हो जाते हैं, बुब्ज [बुब्ज], फणस [पनस] [हि० फालसा]

[३] संस्कृत झ, ष, स तीनों शौरसेनी-महाराष्ट्रोंमें स तथा मागधीमें श के रूपमें विकसित हुए हैं। सेसो [शेषः]; मागधी, शूषेण [सूपेण]।

[४] पदमध्यवर्ती संस्कृत क, घ, ज, ष, स, द, प, य, ष का प्राकृतमें

१. Bloch : La formation de la langue Marath § 70

साथही Prof. Turner : Gujerati Phonology [RAS. 1916].

प्रायः लोप हो जाता है।<sup>१</sup> लोघ्न [लोक], सघ्नल [सफल], अणुराघ्न [अनु-  
राग], जुघ्नल [युगल], णघ्नर [नगर], पउर [प्रचुर], भोघ्नण [भोजन],  
रसाघ्नल [रसातल], हिघ्नघ्न [हृदय], रूघ्न [रूप], दिघ्नह [दिवस]।

[५] पदमध्यवर्ती ख, घ, च, घ, फ, भ प्राकृतमें प्रायः ह के रूपमें  
विभक्ति हुए हैं।<sup>२</sup> मुह [मुल], सही [सली], मेह [मेघ], लह्य [लघुक],  
रुहिर [रुधिर], बहू [बधू], सहर [शफर], अहिणव [अभिनव], णह  
[नभ, नल]।

[६] कही-कही स्वरमध्यगत व्यञ्जनका द्वित्व भी हो जाता है, उज्ज  
[ऊज्ज], एषक [एक]।

[७] स्वरमध्यगत ट, ठ क्रमशः ड, ढ हो जाते हैं,<sup>३</sup> पड [पट], कुडिल  
[कुटिल], कुटुम्ब [कुटुम्ब], वड [वट], पढण [पठन]।

१. कगचजतदपयवां प्रायो लोपः—प्राकृतप्रकाश २।२ [साय ही  
प्रायः कगजतदपयवां लोप.—प्राकृतसर्वस्व २।२ इस संबंधमें इतना  
सकेत कर दिया जाय कि संस्कृत अघोप-सघोप अल्पप्राण क, ग, च, ज,  
त, द लुप्त होनेके पूर्व एक और विकास स्थितिते गुजरे होंगे। संभवतः  
इसमेंसे अघोप अल्पप्राण पहले सघोप अल्पप्राण हुए होंगे, बादमें सभी  
सघोप अल्पप्राण 'ग, ज, द' सोष्म 'ग, ज, द' होकर तब लुप्त हुए होंगे।  
इस प्रकार इनका विकास क्रम यों रहा होगा।

लोक > लोम > लोम [loṃa] > लोघ्न,

अनुराग > अणुराग [anuraṃa] > अणुराघ्न

प्रचुर > पचुर > पचुर [pazura] < पउर

रसातल > रसादल > रसादल [rasaḍala] < रसाघ्नल

[दि० डॉ० चाटुर्ज्या : भारतीय आर्यभाषा और हिन्दी पृ० ६१]

२. खघयघभा हः—प्रा० प्र० २।२७

३. ढो डः। [२।२०] ढो ढः [२।२४]—प्राकृत प्रकाश।

[८] स्वरमध्यगन ए यदि लुप्त नहीं होगा, तो वह व के रूपम विकसित होता है । रुव [रूप], दीव [दीप], उवरि [उपरि], उवभरण [उपकरण], अवर [अपर] [हि० और ] ।

[९] समुक्त व्यजन ध्वनियोंके परवर्ती विवासकी प्रमुख विशेषताएँ ये हैं —

[क] क, ग, घ, त, द, प, ब, ध, स समुक्त ध्वनियोंम प्रथम ध्वनि होनेपर परवर्ती ध्वनिके समान हो जाते हैं, अर्थात् प्रथम ध्वनिमें समीकरण हो जाता है । जुत्त [युक्त], मुद्ध [मुग्ध], खग्गो [खड्ग] उक्कण्ठा [उत्कण्ठा], उप्पल [उत्पल], मुग्गो [मुद्ग], मुत्तो [मुत्त] सद्दो [शब्द], खुब्बो [खुब्ब] छट्ठो [षष्ठ],

[ख] ल, व, र समुक्त ध्वनिमें होनेपर सदा [लुप्त होकर] समीकृत हो जाते हैं — वक्कल, [वल्कल], सुक्को [शुक्ल], वेल्ल [विल्व] सक्को [शक्क], अक्को [अक्क] ।

[ग] टक रल, ष्ट, प्प [ष्क], स्त [स्य], स्प [स्क] क्रमश प्राकृतमे वल, ट्ट, प्फ, रय, प्फ के रूपमें विकसित हुए हैं —

पोक्कर [पुष्कर], सुक्क [शुष्क], बिद्धि [दृष्टि], सुद्धु [सुष्ठु], पुष्क [पुष्प], निष्कल [निष्कल], हत्थ [हस्त], अक्कथा [अक्कथा], फलिह [स्फटिक], फुसह [स्पृशति] ।

[घ] क्ष, छ, झ, क्रमश क्ल, ज्ञ, भ्भ होते हैं — अक्खि [ अक्खि ], वेज्जो [वीज ], विज्जा [विद्या] बम्हणो [ब्राह्मण] ।

[१०] शौरसेनी तथा महाराष्ट्रीमें प्राय ध्वनिपरिवर्तनकी दृष्टिमे



समानता ही है। भागधी प्राकृतमें कुछ निजी विशेषताएँ हैं; उनका संकेत यहाँ किया जाता है।

[क] भागधीमें श, ष, स तीनोंके स्थानोपर श वा विवास हुआ है.—  
शमल [समर], शुशक [शुष्क], पुलिशे [पुरुषः]।

[ख] भागधीमें र, ल दोनोका विकाम ल के रूपमें पाया जाता है।  
लाजा [राजा], शमल [समर], पुलिशे [पुरुषः]।

[ग] शौरसेनीकी तरह यहाँ भी स्वरमध्यगत द पाया जाता है —  
भविशदि [भविष्यति]।

### प्राकृत-पद-रचना

प्राकृतमें संस्कृतकी पदरचना सरलताकी ओर बड़ी। यह सारल्यप्रवृत्ति शब्दों तथा धातुओं दोनोके रूपोंमें दिखाई पड़ती है। संस्कृतके तीन वचन प्राकृतमें आकर केवल दो ही रह गये हैं। प्राकृतमें केवल एकवचन तथा बहुवचन ही है, द्विवचनका अभाव है। प्राकृतकी इसी परम्पराका निर्वाह अपभ्रंश तथा आ० भारतीय आर्य भाषाओंमें पाया जाता है।

प्राकृतके प्रातिपदिक अकारान्त, इकारान्त, उकारान्त, घाकारान्त, ईकारान्त, ऊकारान्त [स्त्रीलिंग] अधिक हैं। संस्कृतके हलन्त प्रातिपदिक यहाँ आकर प्रायः अदन्त हो गये हैं। यही हाल संस्कृतके षकारान्त शब्दोंका हुआ है। भत्तार [सं० भर्तृ] माम्ना [सं० मात्] संस्कृत हलन्त

१. शौरसेनी तथा महाराष्ट्रीमें प्रमुख भेद यह है कि शौरसेनीमें स्वरमध्यगत द लुप्त नहीं होता, आगदो [महा० आगदो, सं० आगत.]। इसी तरह शौरसेनीमें स्वरमध्यगत ध [सं० थ] सुरक्षित रहता है, वह ह् नहीं होता। जैसे अघ [महा० अह सं० अथ], कधम्, [महा० कहम्, सं० कथम्], णाघ [महा० णाह, सं० नाथ]।

शब्दोंका विकास अदन्तोमें हो गया है :—राघ्रा [ राजन् ], भष्पा, अत्ता, [ भास्मन् ], बह्म [ ब्रह्मन् ] ।

प्राकृत कालमें आकर संस्कृत लिंग सुरक्षित रहे हैं । पुल्लिङ्ग, स्त्रीलिङ्ग तथा नपुंसकलिङ्ग तीनों प्रकारके रूप वहाँ पाये जाते हैं । किन्तु नपुंसकलिङ्गके रूपोंको देखनेपर पता चलता है कि संस्कृतमें ही इनके रूपोंकी बहुत कमी है । प्रथमा-द्वितीया विभक्तिवाले रूपोंको छोड़कर बाकी विभक्तियोंमें ये पुल्लिङ्ग रूपोंमें ही समाहित रहे हैं । प्राकृतमें इन नपुंसक शब्दोंके प्रथमा द्वितीया [कर्ता-कर्म] के एकवचन तथा बहुवचनके रूपोंको सुरक्षित रक्खा है :—वर्णं, कुसुमं [ कर्ता-कर्म एकवचन रूप ], वणाई, वणाइ, वणाणि, कुसुमाई, कुसुमाइ, कुसुमाणि [कर्ता-कर्म बहुवचन रूप], सिवाय इन दो रूपोंके अन्य सभी रूप पुल्लिङ्ग जैसे पाये जाते हैं । यही कारण है कि अपभ्रंशमें आकर ये नपुंसकलिङ्ग रूप भी लुप्त हो गये हैं । इनमेंसे अधिकतर पुल्लिङ्ग रूप बन गये हैं ।

प्राकृत कालमें आकर विभक्तियोंकी भी सरलता पाई जाती है । संस्कृतमें आठ विभक्तियाँ पाई जाती हैं, किन्तु यहाँ चतुर्थीका लोप हो गया है, वह पंथीमें सम्मिलित हो गई है । इस प्रकार प्राकृतमें प्रथमा [कर्ता], द्वितीया [कर्म], तृतीया [करण], चतुर्थी-पंथी [सम्प्रदान-सम्बन्ध], पञ्चमी [अपादान], सप्तमी [अधिकरण] तथा सम्बोधन ये सात ही विभक्तियाँ पाई जाती हैं । यही नही रूपों तथा सुप् विभक्तियोंमें भी बड़ी सरलता हो गई है, तथा सभी पुल्लिङ्ग शब्दोंके रूप प्रायः अकारान्त शब्दोंके रूपोंसे प्रभावित हुए हैं । अकारान्त तथा इकारान्त-उकारान्त शब्दोंके पंथी ए० व० रूपोंमें जो भेद था, वह लुप्त हो गया, तथा इकारान्त-उकारान्त शब्दोंमें ये रूप भी सम्मिलित हो गये—वच्छस्स [वसस्म], अग्निस्स [अग्ने], अग्निणो [अग्नेः], वाटस्स [वायोः], वाटणो [वायोः] । इसी तरह अकारान्त पुल्लिङ्ग शब्दोंके तृतीया ए० व० के रूप अन्य शब्दोंकी भाँति हो गये—वच्छेहि [वत्सं.], अगोहि-अगोहि [अग्निभि], वाऊहि वाऊहि [वायुभिः] ।

इस प्रकार हलन्त शब्दोंके अग्रन्तीभूत प्राच्य शब्दोंके रूप भी अनारान्त पुन्लिग शब्दोंके रूपोंसे प्रभावित हुए। शरेन्तो [ कुचन् ], पुनोप्रन्तो [ प्रलोफयन् ]।

स्त्रीलिग प्रा, ई, ऊ अन्तवाले शब्दोंके रूपोंकी समानता पाई जाती है। प्रथमा [कर्ता] बहुवचनमें सभोगों तीन तरहके रूप पाये जाते हैं, [१] शून्य अविष्कारी रूप, [२] भो-विभक्ति चिह्नवाला रूप; [३] उ विभक्ति चिह्नवाला रूप, यथा माला, मालामो, मालाउ, नई, नईमो, नईउ, वह, वहमो, वहुउ; माप्रा, माभामो, माम्राउ, [संस्कृत माला, नद्य., वध्व, मातरः]। स्त्रीलिग शब्दोंके सुप्-विभक्ति चिह्न दो-तीन रूपोंकी छोटकर प्राय वे ही हैं, जो पुन्लिग रूपोंके प्रथमा-द्वितीया बहुवचनके रूपों [जिनका उदाहरण अभी-अभी दिया गया है] के अतिरिक्त पठ्यो [सम्बन्ध-सम्प्रदान] ए० व० के रूप भी स्त्रीलिग शब्दोंमें भिन्न है। सबध कारक ए० व० में स्त्रीलिग रूपोंके चिह्न इ, ए, उ, अ, आ कई देखे जा सकते हैं.—वहइ, वहए, वहउ, वहअ, वहआ [स० वध्वा]। स्त्रीलिग शब्दोंके तृतीया [करण] ए० व०, तथा सप्तमी [अधिकरण] ए० व० के रूप भी प्राय वे ही होते हैं। यही कारण है कि स्त्रीलिग रूपोंमें वरण, सम्प्रदान, सम्बन्ध तथा अधिकरण चारोंके एकवचन एक ही हैं। द्वितीया [कर्म] ए० व० के रूपोंमें प्रातिपदिककी अन्तिम स्वरव्यतिकार ह्रस्व बनाकर 'म्' विभक्तिचिह्न प्रयुक्त होता है—माल [म० माला], नइ [स० नदी], वहू [स० वधू]।

संस्कृतके सर्वनाम रूपोंमें अस्मत् युष्मत् शब्दोंके रूपोंमें कई तरहके परिवर्तनों का विकास देखे जाते हैं। अह का विकास ह, अह, अहअ, तथा एवं का विकास तं, तुम, तु इन वैकल्पिक रूपोंमें देखा जाता है। कर्ता बहुवचन में क्रमशः अम्हे [शीर० वअ], तुम्हे-तुम्हे रूप पाये जाते हैं। अन्य कारकोंके ए० व० तथा बहुव० में इन दोनों शब्दोंमें अनेक वैकल्पिक रूप पाये जाते हैं। इनमें कई तो संस्कृतका प्रभाव है, कई अकारान्त पुल्लिग

शब्दोंका प्रभाव है, यथा—मइ, मए, ममम्मि, ममस्सि [स० मयि ], मसो, मइतो, ममादो, ममादु, ममाहि, [ स० मत् ] । इसी तरह युष्मत् शब्दके रूपोंका भी वैकल्पिक विकास देखा जा सकता है ।

संज्ञा तथा सर्वनाम रूपोंकी अपेक्षा प्राकृत क्रियारूपोंमें अत्यधिक परिवर्तन पाया जाता है । जिस प्रकार प्रातिपदिक रूपोंके अन्तमें एकरूपता लानेकी प्रवृत्ति पाई जाती है, उसी प्रकार यहाँ भी यह प्रवृत्ति पायी जाती है । संस्कृत धातुओंमें अन्तमें व्यञ्जन ध्वनियाँ भी पाई जाती हैं । प्राकृतमें आकर ये सभी धातु स्वरान्त हो गये हैं । "इस प्रकार संस्कृतके दस गणोंका भेद यहाँ आकर लुप्त होने लगा है, और अपभ्रंशमें आकर तो केवल एक ही गण रह गया है । बादमें प्रायः सभी धातु रूप भ्वादिगणी बन गये हैं । शब्दरूपोंके माथ-ही-साथ धातुरूपोंमें भी द्विवचन लुप्त हो गया है । आत्मनेपदी रूपोंका प्रायः अभाव हो गया है । इसी प्रकार लिट् तथा लड् भी धीरे-धीरे लुप्त हो गये हैं, तथा उनके लिए प्रायः कृदन्त रूपोंका प्रयोग होने लगा है । इस प्रकार मोटे तौरपर प्राकृतमें लट् [वर्तमान काल], लोट् [आज्ञात्मक], लृट् [भविष्यत्] रूपा तथा यद्-कदा लिङ्, [विधिरूप] का अस्तित्व पाया जाता है । इसके साथ ही प्राकृतमें कर्मवाच्य भी रूप देखे जा सकते हैं, जिनका विकास संस्कृतमें 'य' वाले रूपोंसे माना जा सकता है । ये कर्मवाच्य रूप भी प्राकृतमें आकर प्रायः परस्मैपदी हो गये हैं — दिज्जइ-दिज्जहि [स० दीयते], गमीअदि [शी०] गच्छीअदि [ शी० ], [ स० गम्यते ] प्राकृत धातुरूपोंमें संस्कृत गिजन्त रूपोंके -अय-का विकास -ए-रूपमें देखा जाता है, हासेइ [ हासयति ] गिश्वावेदि [निर्वापयति] ।

प्राकृत वर्तमान काल तथा भविष्यत् कालके तिङ् चिह्न एकसे ही हैं । ठीक वही बात संस्कृतमें पाई जाती है । वैसे भविष्यत्के रूप उसीके स्य विकरणवाले रूप हैं । यह रूप प्राकृतमें आकर स्स हो गया है । वर्तमानके पढति-पढइ, पढसि, पढामि, पढन्ति, पढम, पढामो तथा

भविष्यत्के पठिस्सदि-पठिस्सद्, पठिस्सति, पठिस्सामि, पठिस्सन्ति, पठिस्सथ, पठिस्सामो रूप बनते हैं। लोट्में पठ्ठु, पठ, [पठ्ठावु], पठन्तु, पठथ, पठम्ह रूप पाये जाते हैं।

संस्कृतके शतृ प्रत्ययान्त रूप प्राकृतमें आकर '—न्तो—' वाले रूप बन गये हैं:—पुच्छन्तो, पठन्ता। इसी तरह संस्कृतके शानच् वाले रूप प्राकृतमें पुच्छमाणो, पुच्छिस्समाणो [ स्वमान ] हो गये हैं। संस्कृतके तुमुन्का विकास उं [दुं] के रूपमें पाया जाता है। कहिउं-कहिदुं [ कथयितुं ]। संस्कृत त्वाका विकास प्राकृतमें नहीं पाया जाता। यहाँ अनुपसर्ग तथा सौपसर्ग दोनोंमें शौरसेनीमें अ तथा महाराष्ट्रीमें ऊण प्रत्यय पाया जाता है। शौरसेनी अ संस्कृत 'य' [ल्यप्] का ही विकास है। संस्कृत पृष्ट्वा, गृहीत्वा के प्राकृत रूप पुच्छिअ-पुच्छिऊण [महाराष्ट्री]; घेत्तूण होते हैं।

भूतकालके लिए प्राकृतमें कृदन्त रूपोंसे भी काम लिया जाता है। प्राकृतप्रकाशके सप्तम परिच्छेदमें प्राकृत धातुके भूतकालिक आदेशिका संकेत मिलता है:—

१. ईअ भूते ॥ [ भूतकालमें धातुमें तिङ् प्रत्ययको ईअ आदेश होना है ]।

२. एकाचो होअ ॥ [ एक स्वर धातुमें भूतकालके तिङ् प्रत्ययको होअ आदेश होता है ]।

३. अस्तेरासिः ॥ [ अस् धातुका भूतकालिक एप आसि होता है ]।  
दृष्ट रूपसे देखनेपर पता चलता है कि ये वस्तुतः क्त प्रत्ययान्त रूपोंके ही विकास हैं। ह्रीअ [ अभवत् ], हसीअ [ ग्रहसत् ], होहोअ [ अभूत् ] को वस्तुतः भूतः, हमितः, भूतः का ही विकास माना जा सकता है। इसी तरह आसि को भी अस्वः [ अस्वितः ] का विकसित रूप माना जा सकता है पर इसे आसीत् से भी विकसित समझा जा सकता है—आसीत्-आसी [आसि]।

## अपभ्रंश कालकी प्रमुख विशेषताएँ—

अपभ्रंश कालमें स्वरध्वनियाँ प्रायः अविकृत रही हैं। यदि उनमें विकार हुआ है, तो वह प्रातिपदिकोंके अन्तमें स्थित स्वरोमें पाया जाता है, जिसका उल्लेख हम आगे करेंगे। यही कारण है, हेमचन्द्रने यह कहा है कि स्वरोके स्थानपर प्राकृतमें प्रायः स्वर ही पाये जाते हैं।<sup>१</sup> स्वरध्वनियोंमें अपभ्रंशमें भी प्राकृतकी भाँति ही संस्कृत ऋ, ऐ, ओ ध्वनियोंका सर्वथा अभाव है। तथा वे क्रमशः अ-इ-उ, ए, ओ के रूपमें विकसित हो गये हैं। वैसे वैयाकरणोंने अपभ्रंशमें ऋ ध्वनिका अस्तित्व माना है। प्राकृतवाले ह्रस्व ए, ओ का विकास अपभ्रंशमें भी पाया जाता है। व्यंजन ध्वनियोंमें अपभ्रंशमें संस्कृतकी ङ, ञ, ण, य ध्वनिके अतिरिक्त अन्य सभी ध्वनियाँ पाई जाती हैं। इस भाषाके ध्वनिगत विकासकी खास विशेषता स्वरमध्यग सं० म का व वाला विकास है:—कवँल [कमल], गवँण [गमन]। वँ का विकास हम अपभ्रंशसे परवर्ती रूपोंमें प्राचीन हिन्दीमें भी देख सकते हैं, राजस्थानीमें यह वँ ध्वनि अभी भी पाई जाती है।

अपभ्रंश तक आकर प्रातिपदिकोंका लिंगविधान और सरल हो गया। यहाँ पुल्लिंग तथा स्त्रीलिंग रूपोंका बाहुल्य है, नपुंसकलिंग रूपोंका प्रायः लोप हो गया। इसी तरह स्त्रीलिंग रूपोंके पदान्त आ के ह्रस्व अ होनेसे वे रूपोंकी दृष्टिसे वे पुल्लिंग अकारात् शब्दोंका अनुकरण करने लगे। अपभ्रंशमें आकर सभी प्रातिपदिक स्वरान्त हो गये। इस प्रवृत्तिका आविष्य प्राकृतकालमें ही हो चला था, जिसका संकेत हम ऊपर दे चुके हैं, अपभ्रंशमें आकर प्रातिपदिकोंके पदान्त आ, ए, ओ क्रमशः अ, इ, उ हो गये। माअ [ प्राकृत माआ, संस्कृत माता ], कण्डु [ प्राकृत कण्ठो, संस्कृत कृष्णः ]। अपभ्रंशमें कर्ता कर्म ए० व० में उ प्रयुक्त होता है जो अपभ्रंश-को खास विशेषता बन बैठा। इसीलिए अपभ्रंश 'उकार-बहुला भाषा' कहलाने

१. स्वराणां स्वराः प्रायोपभ्रंशे । ८।४।३२६ [हेम ध्याकरस्य] ।

लगी। कर्ता-कर्म कारक ए० व० में इस प्रकारके रूपोंका संकेत हेमचन्द्रने भी किया है—दहमुहु, सकर, चउनुह, छमुह [ दशमुप, शंकर, चतुमुंख., षमुष. ] ।

अपभ्रंश तक आते-आते संस्कृतकी सुप् विभक्तियाँ परसर्गोंका रूप लेने लगी और अपभ्रंशमें कई विभक्ति रूप समाप्त हो गये। संवध कारकके लिए केरक, केर, बेरा, वरण कारकके लिए सो, सजो, सहुँ, सम्प्रदानके लिए केहि, तथा अधिकरणके लिए मांभ, उपरि जैसे परसर्गोंका प्रयोग पाया जाता है। अन्य विभक्तियोंमें पुल्लिङ्ग तथा स्त्रीलिङ्गके रूपोंमें भी समानता सी हो चली। कर्ता कर्म एकवचन, कर्ता-कर्म बहुवचनमें दोनों जगह कही-कही उ विभक्ति चिह्न प्रयुक्त होने लगा, तथा कर्मी-कर्मो कर्ता कारक ए० व० में केवल प्रातिपदिक रूप [सूच्य विभक्तिवाले रूप] का प्रयोग होने लगा, जो हिन्दी आदि आ० भा० आ० भाषाओंके अविकारी [direct] रूपोंके रूपमें विकसित हुआ। अन्य कारकोंमें एण, ऐं, [करण], हें, हे [अपादान] हे, हो, सु, इत [संवध], हि [अधिकरण] सुप् चिह्न एकवचन रूपोंमें तथा ह [संप्रदान, अपादान, संवध, अधिकरण], हो [संबोधन] बहुवचन रूपोंमें पाये जाते हैं। इससे स्पष्ट है कि अपभ्रंश तक आते-आते बहुवचनके रूप बहुत सरल हो गये।

संस्कृतके तिङन्त रूप जिनका थोड़ा-बहुत शेष प्राकृतकालमें बच गया था, अपभ्रंश कालमें और लुप्त हो गया। तिङन्तोंके भाव बोधनके लिए अपभ्रंशके कृदन्त-प्रत्यय प्रयुक्त होने लगे। वर्तमान तथा भविष्यत्ने तिङन्त तद्भूय रूपोंकी थोड़ा-बहुत सुरक्षित रक्खा थाकीमें कृदन्तोंसे काम लिया जाने लगा। संस्कृत धातुओंमेंसे कईके लिए नये आदेश हो गये, यथा, बोलन [√वद्], मुक्क-मुक्क [√मुक्], चध [√शक्] ।

अपभ्रंशमें परस्मैपद ही पाया जाता है। हम प्राकृतमें ही आत्मने-पदका अभाव देखा चुके हैं। उत्तम पुरुष एकवचन तथा बहुवचनमें

अपभ्रंशमें 'उ' तथा 'हुं' तिङ् विभक्ति पाई जाती है :—'हउं भणउं' [अहं भणामि], अस्हे भणहुं [अहं भणामः] । अन्यरूपोंमें प्रायः वे ही तिङ् चिह्न पाये जाते हैं जो प्राकृतमें हैं—सि-हि [मध्यम पुरुष], इ, अंति, अइ [अन्य पुरुष] । भविष्यत् कालके रूप वर्तमान कालके तिङ् चिह्नोंवाले ही होते हैं :—जाहि [यास्यसि], फलहिं [फलिष्यन्ति], कुर्णाहि [करिष्यन्ति], होसि [भविष्यसि] । भूतकालके रूपोंमें केवल आसी [आसीत्] को छोड़कर प्रायः सभी भूतकालिक रूप कृदन्तोसे विकसित हैं<sup>१</sup> ।

जैसा कि हम देख चुके हैं प्राकृत कालमें संस्कृतके विभक्तिरूप किसी सीमा तक सुरक्षित रहे । यही कारण है कि प्राकृतकालमें वाक्यरचनाके सम्बन्धमें संस्कृतकी परिपाटीका प्रयोग पाया जाता है । अपभ्रंश कालमें आकर शब्दोंके विभक्तिरूप बहुत कम काममें आने लगे तथा संबन्ध-बोधनके लिए परसर्गोंका प्रयोग किया जाने लगा । फलतः वाक्यमें कर्ता, कर्म, करण आदि कारकोंके लिए एक निश्चित स्थान रह गया । हिन्दी धादि आ० भा० आ० भाषाओंकी निश्चित वाक्यरचनाके विकासके चिह्न हम अपभ्रंश कालमें ही देख सकते हैं ।

### आ० भारतीय आर्य भाषाओंकी प्रमुख प्रवृत्तियाँ

संस्कृतकी स्वर तथा व्यंजन ध्वनियोंका परवर्ती विकास हम देख चुके हैं । प्रायः वे ही ध्वनियाँ परवर्ती भाषाओंमें विकसित पाई जाती हैं । फिर भी कुछ विशेषताएँ पाई जाती हैं । स्वरोंके उच्चारणमें बंगालीमें अ का उच्चारण लुठित निम्न-मध्य-पद्व प्रकृतिका पाया जाता है । अन्य भाषाओंमें इनका उच्चारण प्रायः उदासीन स्वर [७] या पाया जाता है । इसके भी अग्र तथा पद्व दो रूप पाये जाते हैं । हिन्दीके द्वयक्षर या अधिक

१. माकण्डेय : प्राकृत सर्वस्व १७।५७ [पृष्ठ ११८]

२. डॉ० हीरालाल जैन : सावयधम्म बोधा [भूमिका], पृष्ठ ३६ ।



अक्षरवाले [monosyllabic] शब्दोंमें इस स्वरका अप्ररूप प्राय एव ही [अधिकतर पहले अक्षरमें ही] अक्षरमें पाया जाता है, अन्य अक्षरमें उसका पक्ष रूप ही पाया जाता है। उदाहरणके लिए कसर, कसर, करवट, करम में प्रथम उदासीन स्वरका उच्चारण अग्र प्रकृतिका [ə] है, जब कि बादके अक्षरवाले स्वरका उच्चारण पक्ष प्रकृति [ɪ] का है। अक्षर शब्द करवटका उच्चारण द्विअक्षर रूपमें कर्वट् भी होता है। प्रथम उच्चारण करनेपर र तथा व दोनोंका परवर्ती स्वर पक्ष प्रकृतिका [ɪ] ही है। यही यह भी ध्यान देनेकी बात है कि जहाँ ससृत्तमें अन्तमें 'अ' ध्वनि पाई जाती है, वहाँ हिन्दीमें उसका उच्चारण नहीं होता। राम, आस, काम का हिन्दीमें राम्, आम्, काम् रूप देखा जाता है। वैसे जिन भाषाओंमें पदान्तमें ल, ड, ण ध्वनि पाई जाती है, वहाँ उसके बाद 'अ' ध्वति [e-glide] का उच्चारण पाया जाता है। राजस्थानीमें इस ध्वतिका प्रयोग काल, हाड, काण जैसे शब्दोंके उच्चारणमें होता है। पश्चिमी हिन्दी तथा राजस्थानीमें ध्वन्यात्मक समानताएँ अधिकतर पाई जाती हैं। व्यञ्जन ध्वनियोंमें पश्चिमी हिन्दी, पूर्वी तथा मागधी वर्ग [उडियाको छोड़कर] में केवल दो ही अनुनासिक ध्वनियाँ [न, म] पाई जाती हैं, जब कि राजस्थानी, गुजराती, पंजाबी, मराठी, पहाड़ी तथा उडियामें ण ध्वनि भी पाई जाती है। राजस्थानी, गुजराती, मराठीकी भाँति उडियामें ल [उत्सिप्त प्रतिवेष्टित ल] का स्वरमध्यगत रूप भी पाया जाता है<sup>१</sup>। पश्चिमी हिन्दी, राजस्थानी तथा गुजरातीमें, तथा पूर्वी हिन्दी [मैथिलीमें भी] 'ड' का स्वर मध्यगत 'ड' रूप भी पाया जाता है। चवर्ग ध्वनियोंका उच्चारण सभी आ० भा० आ० भाषाओंमें सौम्य स्पर्श या घर्ष स्पर्शके रूपमें होता है। इनका उच्चारण कुछ द्, द्, त्, ह्, इत्, ह्, जैसा होता है। मराठीमें इनका उच्चारण इस तरहका बत्स्य घर्ष [alveolar affricate] न होकर दन्त्य घर्ष [dental affricate] र्, द्, जैसा होता है। मराठीका

१. क्या उडियापर यह मराठीका प्रभाव तो नहीं।

यह प्रभाव राजस्थानकी डूंगरपुर, बांसवाडा, प्रतापगढ़की मालवीमें तथा मेवाड़की कुछ घोलियोंमें देखा जाता है। भौलीमें भी च, छ का उच्चारण दृश्य घर्ष ही होता है।

प्राकृत तथा अपभ्रंशके द्विववाले रूपोंमें आ० भा० आ० भापाओमें पूर्ववर्ती स्वरको दीर्घ बनाकर अक्षर-भारकी रक्षा की जाती है। सं० कर्म, मद्य, मष्ट के हिंदी रूप काम [ / कम्म ], माज [ / मज्ज ], घाठ [ / घट्ट ] पाये जाते हैं। पंजाबीमें इनके रूप कम्म, मज्ज, मट्ट ही पाये जाते हैं। इसी तरह सं० बुभुक्षा का हिंदी रूप भूख [ / बुभुक्खा—भुक्खा—भुक्ख ] होता है, जब कि पंजाबीमें यह पु'बख [ युक्ख ] मिलता है। हम बता चुके हैं कि सिंधी, लहँदा तथा पंजाबीपर पंजाबोका कुछ-कुछ प्रभाव पाया जाता है। काश्मीरीमें संस्कृतकी सघोष महाप्राण ध्वनियोंका सघोष अल्प-प्राणरूप देखा जाता है। पंजाबीके लिए अब तक विद्वानोंका यह मत है कि स० हि० घ, भ, ङ, ष, भ ध्वनियाँ वहाँ क, च, ट, त, प हो जाती हैं, यथा घोडा, भूठ, भाइ, भरम वहाँ को'डा, चू'ट, पा'ई, प'रम हो जाते हैं। पर कुछ नवीन पाश्चात्य विद्वानों का यह मत है कि असलमें संस्कृत या हिन्दी सघोष महाप्राण ध्वनियाँ पंजाबीमें शूद्र अधोष अल्पप्राण नहीं होती। वस्तुतः वे सघोष अल्पप्राण ही होती हैं, तथा महाप्राण रूपोंके कारण उनका अघोषीभूत [devoiced] रूप देखा जा सकता है। यही कारण है, वे ऊपरकी क, च, प ध्वनियोंको ग, ज, ब का ही अघोषीभूत रूप मानते हैं, तथा ग, ज, ब [g, j, b] लिखना ज्यादा ठीक समझते हैं।

संस्कृतमें जहाँ संयुक्त ध्वनियोंमें प्रथम ध्वनि नासिक्य व्यञ्जन तथा द्वितीय केवल व्यञ्जन होती है, वहाँ सिंधी-पंजाबीको छोड़कर सभी आ० भा० आ० भापाओमें नासिक्य व्यञ्जन ध्वनि लुप्त हो जाती है, तथा पूर्ववर्ती

१. लन्दन विश्वविद्यालयके स्कू न ग्राँव् ग्रोरियन्टल स्टडीजमें भाषा-विज्ञानके प्राध्यापक डॉ० डब्ल्यू० एस० एलनका यही मत है।

स्वरध्वनि दीर्घ सानुनासिक बना दी जाती है:—दन्त [हि० दांत], कण्ठक [हि० कांठ], √कम्प् [हि० कांपना]। सिधो-पंजाबीमें इनके दम्ब, कंडो, कम्प रूप मिलते हैं।

आ० भा० आ० भाषाओंमें ध्वनियोसे अधिक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन पदरचनामें हुआ। हम देख चुके हैं कि प्राकृतसे भी अधिक पदरचनात्मक सरलता अपभ्रंशमें पाई जाती है। अपभ्रंशकी इसी विशेषताको आ० भा० आ० भाषाओंने ग्रहण किया है। आ० भा० आ० भाषाओंमें नपुंसक लिंग सर्वथा लुप्त हो गया। यदि वही इसके कुछ चिह्न मिलते हैं, तो गुजराती व मराठीमें। गुजरातीमें इसका चिह्न उं है, यथा घणुं, खाडुं में नपुंसक रूप ही है। नपुंसकलिंगके सर्वथा लुप्त होनेसे कई नपुंसक शब्द जो एक भाषामें पुल्लिंग बने हैं, दूसरे भाषामें स्त्रीलिंग बन गये। पुस्तक शब्द बँगलामें पुल्लिंग है, तो पश्चिमी हिंदीमें स्त्रीलिंग। किंतु पुल्लिंग-स्त्रीलिंगमें भी संस्कृतवाला लिंग-विचार नहीं रहा है। हिंदीमें तो अकारान्त पुल्लिंग है, आ-ई, उ अन्तवाले प्रायः स्त्रीलिंग माने जाते हैं, वैसे इस नियमके कई अपवाद भी देखे जा सकते हैं। अग्नि, आत्मा, मृत्यु जैसे पुल्लिंग शब्द भी हिंदीके रूपोंमें स्त्रीलिंग आग, मौचु, आत्मा बन गये हैं।

अपभ्रंशमें ही संबन्धबोधनके लिए परसर्गोंका प्रयोग होने लगा था, फिर भी वहाँ कुछ तिङ् चिह्न बचे रह गये थे। आ० भा० आ० भाषाओंमें उनका भी लोप हो गया। इस तरह संस्कृतकी आठ विभक्तियाँ यहाँ आकर केवल दो ही रूपोंमें रह गईं:—

[१] प्रातिपदिक रूप [direct form] या कर्ता कारकके रूप।

[२] तिर्यक् रूप [oblique form] या अप्रधान कारक रूप।

आ० भा० आ० भाषाओंमें परसर्ग इन्हीं तिर्यक् रूपोंके साथ प्रयुक्त होते हैं। कर्ता कारक एकवचन तथा बहुवचनके रूप पूर्वी भाषाओंमें एक ही हैं, और इस प्रकार उनके साथ बहुवचन वाचक जन, समूह जैसे शब्द

जोड़कर या फिर पष्ठी बहुवचनसे बने परसर्ग 'अन' 'अनि' [सं०  
 ∟ धानाम्] जोड़कर बहुवचनका बोध कराया जाता है, लोगनि, घोड़बन  
 [भोजपुरी]। पश्चिमी हिंदी, राजस्थानी, सिंधी, मराठीने संस्कृत बहुवचन  
 रूपोंका सर्वथा लोप न कर निजी विकास किया है :—रात् [रात्रिः], राती  
 [रात्रयः]; वात् [वार्ता], बातें [∟ \*वार्तानि] [रा० वार्ता ∟ \*वार्तानि]।  
 बाकी रूपोंमें पश्चिमी हिंदी [खड़ी बोली तथा उमकी विभाषाओं] में ने,  
 को, से, का [के, की], मे इत्यादि परसर्गोंका प्रयोग पाया जाता है।  
 पश्चिमी राजस्थानीमें का के स्थानपर रो [रा, री], पञ्जाबीमें दा [दे, दी],  
 गुजरातीमें नो, [ना, नी] तथा मराठीमें चा [चे, ची] पाया जाता है।  
 पूर्वी भाषाओंमें सबध कारकके लिए क, केर, एर का प्रयोग होता है।

आ० भा० आ० भाषाओंके क्रिया रूप सीधे संस्कृत तिङन्तोसे  
 नहीं आये हैं। इनके विकासमें संस्कृत कृदन्तोका बहुत हाथ रहा है।  
 हिन्दीके वर्तमानकालिक क्रिया रूप कृदन्त "अन्त" [अत्] से विकसित  
 हुए हैं। कृदन्त रूपोंके साथ सहायक क्रिया "है" जोड़कर वर्तमानकालका  
 बोध कराया जाता है। हिन्दीका यह खाता है संस्कृतके स खादन् [खादन्त\*]  
 भवति से विकसित कहा जा सकता है। इसी तरह हिन्दीके भूतकालके रूप  
 संस्कृतके त [इत] वाले निष्ठाप्रत्यय रूपोंमें विकसित हुए हैं। यही कारण  
 है कि हिन्दीमें जहाँ संस्कृतके कर्मवाच्य रूपोंका विकास हुआ है, वहाँ कर्ता के  
 साथ 'ने' का प्रयोग पाया जाता है, जब कि भाववाच्यसे विकसित रूपोंमें इस  
 परसर्गका प्रयोग नहीं होता—उसने रोटी खाई [तेन रोटिका खादिता], वह  
 सोया [स शयित]। हिन्दीके भविष्यत् रूपोंमें 'गा' [गे, गी] वस्तुन संस्कृत  
 √ गम् के वनप्रत्ययान रूप गतः का विकास है। पश्चिमी आ० भा० आ०  
 में से कुछका संस्कृतके भविष्यत् रूपोंसे भी स्वतन्त्र विकास हुआ है।  
 राजस्थानीमें तीन तरहके भविष्यत् रूप पाये जाते हैं। पढंगो [phəḍə. ɡə],  
 पढसो, पढलो [phəḍə. lə], इनमें द्वितीय रूपका विकास पठिष्यति—  
 पढिस्सइ→पढसी [गु० पढसी] यो माना जा सकता है। तीसरा भविष्यत्

रूप ग्रियर्सनके मतानुसार राजस्थानीको विदेशी जातियो [गुर्जरो] की देन है। पूरबकी आ० आ० भाषाओमें से कईने वर्तमान रूप सीधे संस्कृत-प्राकृतसे विकसित किये हैं। वैसे भूतकालके रूप वहाँ भी कृदन्तरूपांसे ही विकसित हुए हैं। किन्तु वहाँ ये 'ल' प्रत्ययसे युक्त पाये जाते हैं। बिहारी तथा भोजपुरीमें 'ल' वाले भूतकालिक कृदंतोका भूतकालिक प्रयोग देखा जाता है। वैसे भोजपुरीमें—ल रहित रूप भी पाये जाते हैं। [दे० डॉ० तिवारी : भोजपुरी भाषा और साहित्य पृ० १६७ §३१६]। इस प्रवृत्तिका प्रभाव अवधीमें भी देखा जाता है। डॉ० सक्सेनाने नूरमुहम्मदमें कतिपय—ल वाले भूतकालिक रूपोका संकेत किया है :—'तापत्त रहइ'; 'गइल सखी तहँ बहिल बयारा' [दे० डॉ० सक्सेना : इवोल्यूशन ऑफ अवधी पृ० २४६]।

भविष्यत्के बोधनके लिए पूरबी भाषाओमें संस्कृतके कर्मवाच्य भविष्यत्कालिक कृदन्त '—त्स्य' से विकसित '—व' प्रत्ययवाले रूप देखे जाते हैं। ये रूप धंगला, उडिया, असमिया और बिहारी तथा भोजपुरीमें क्रमशः—इव तथा—अवके रूपमें पाये जाते हैं। [दे० डॉ० तिवारी §५३७ पृ० २७२] ये—व वाले रूप पूरबी हिंदीकी प्रायः सभी बोलियोंमें मिलते हैं। अवधीमें भी इनका अस्तित्व पाया जाता है। 'घर कइसइ पइठब मइ छूँछे' [जायसी], 'हरि आनब मइ करि निज माया' [तुलसी], 'करब मइ सेवा' [नूरमुहम्मद]। [दे० डॉ० सक्सेना §३०४ पृ० २६१-६२]।

संस्कृतके इस भावी विकासपर विहंगमदृष्टि डालनेसे यह ज्ञात होता है कि चाहे आजकी भारतीय आर्य भाषाओकी प्रवृत्ति सरलताकी ओर बढ़नेके कारण, इनका रूप व्यवहित हो गया है, फिर भी सस्वृतकी परम्परा अविच्छिन्न रूपमें आज तक पाई जाती है।



## परिशिष्ट क

### [१] वैदिक संस्कृत [ई० पू० १५००]

अग्निमीळे पुरोहितम्,  
यज्ञस्य देवमृत्विजम् ।  
होतारं रत्नघातमम् ॥

[ मैं पुरोहित [सामने स्थित], यज्ञके ऋत्विक् रूप, देव [प्रकाशशील], देदीप्यमान तेंजवाले, होता [देवताओंको बुलानेवाले] अग्नि देवताकी स्तुति करता हूँ । ]

### [२] अवेस्ता [ई० पू० ८००]

आ अर्यमा इष्यो रक्द्राइ जन्तू  
नर्यम्यश्चा नइरिभ्यश्च जरधुत्राहे ।  
वड्हअउश् रक्द्राइ मनइहो । [महत् ५।४]

[ आ अर्यमा इष्य रब्धु गच्छतु [ऋगन्तु]  
नृम्यश्च नारीभ्यश्च जरधुत्रस्य ।  
वर्धमणः रब्धुं मनस ] ।

[अभीष्ट अर्यमा पुरुषो तथा स्त्रियोको प्रसन्न करनेके लिए पधारें, वे जरधुत्रकी तथा उन्नत मनकी प्रसन्नताके लिए आयें ।]

### [३] पाणिनीय संस्कृत [ई० पू० ६०० के बाद]

अस्ति त्रिदिवतरिणिषी वाराणसी । तत्र प्रतापमुकुटो नाम राजा  
बभूव । तस्य महादेवी सोमप्रभा नाम । तस्यामनेन राजा वज्रमुकुटो  
नाम तनयः समुत्पादित । तस्य वज्रमुकुटस्य प्राणसमः सखा सागरेश्वरस्य

साधिविप्रहिवस्य तनयो बुद्धिशरीरो बभूव । तेन मित्रवरेण सह नाना-  
शास्त्राम्यासद्भुक्तानो विविधमुखमनुभवन् काल नयमानस्तस्यो ।

[स्वर्गद्वाने समान [ पवित्र ] वाराणसी नगरी है । वहाँ प्रतापमुकुट नामक राजा था । उसकी महारानी सोमप्रभा थी । उसमें इस राजाने बज्रमुकुट नामवाले पुत्रको उत्पन्न किया । उस बज्रमुकुटवा प्राणके समान प्यारा मित्र, साधिविप्रहिव सागरदेवरवा पुत्र बुद्धिशरीर था । उस मित्रके साथ नाना शास्त्राका अभ्यास करत हुए वह अनेक सुखवा अनुभव करता हुआ ममय विताता था ।

[४] गाथा संस्कृत [ईसा की द्वितीय-तृतीय शती]

या चौद्ध संकर संस्कृत [बुद्धिस्ट हाइमिड संस्कृत]

ज्वलित त्रिभय जरव्याधिदुखं मरणाग्निप्रदोक्षमनाथमिदम् ।

गिरिनक्षसम लघुशीघ्रजव ध्रजतापु जगे यय विद्यु नभे ॥

सभया सुपिना सद वैरकरा बहुशोकउपद्रव क्षामगुणा ।

असिधारसमा विपर्षात्रिनिभा क्षणिका अलिका विदितार्यजनं ॥

[य तीनों लोक जरा, व्याधि तथा दु खसे ज्वलित है, मृत्यु रूपी अग्निसे जल रह है, तथा अनाथ है । ससारमे आयु बढो छोटी तथा शीघ्रगामी है, ठोक बैसे ही जैसे पर्वतकी नदी और आकाशमें विजली । आर्ष लोगान कामगुणोको भयानर, स्वप्नतुल्य, सदा वैर करानेवाले, अनेक शोक व उपद्रव-वाले, असिधारके समान, जहरीले तीरके समान, तथा क्षणिक और झूठे समझ लिया है ।]

१ इसग जरव्याधिदुखं, आयु, जगे, यय, विद्यु, नभे, सुपिना, सभया, सद, शोकउपद्रव, अलिका, विदितार्यजनं 'जैस रूप शुद्ध मस्वृत गहो है । इनके शुद्ध संस्कृत रूप जराव्याधिदुखं, आयु [आयुर्], जगति, यया, विद्युत्, नभसि, स्वप्ना, सभया, सदा, शोकोपद्रवा, अलिका, विदिता [ः], आर्यजनः होंगे ।

[५] अशोक कालकी प्राकृत [ई० पू० तीसरी शती]

देवानप्रियो प्रियदर्शि राजा एव आह, कल्याण दुष्कर, ये अदिकरे कल्याणम सो दुष्कर परोति, त भया बहु कल्याण वत ।

[गिरनार लेख क ५]

[ देवाना प्रिय प्रियदर्शी राजा एवमाह, कल्याण दुष्कर, य आदिकर कल्याणस्य स दुष्कर करोति, तत् भया बहुकल्याण कृत । ]

[ देवताओके प्रिय प्रियदर्शी राजान यह कहा है । कल्याण दुष्कर [है] । जो सर्वप्रथम कल्याणका करनेवाला होता है, वह दुष्कर [कामको] करता है । इसलिए मैंने बहुत कल्याण किया है । ]

[६] पालि प्राकृत [ईसाकी दूसरी शती]

अतीते वाराणसिथ ब्रह्मदत्ते रज्ज कारेन्ते बोधिसत्तो कपियोनिय निव्वत्तित्वा बुद्धि अन्वाम अस्तपोतप्पमाणो थामसम्पन्नो एकचरो भूत्वा नदीतीरे विहरति ।

[अतीते वाराणस्या ब्रह्मदत्ते राज्य कुर्वन्ति बोधिसत्त्व कपियोन्या निवर्त्त्य बुद्धिमन्वेत्य अश्वपोनप्रमाण स्थामसम्पन्न एकचरो भूत्वा नदीतीरे विहरति] ।

[ प्राचीनकालमें, जब वाराणसीमें ब्रह्मदत्त राज्य करते थे, बोधिसत्त्व बन्दरकी योनिमें जन्म लेकर बुद्धिसे युक्त होकर, घाड़ेके बच्चेके समान शरीरवाले तथा बलवाले होकर अकेले नदी तीरपर घूमते थे । ]

[७] महाराष्ट्री प्राकृत [ईसाकी प्रथम शतीसे षष्ठ शती]

[१] जइ होसि ण तस्त पिग्गा अशुदिग्रह णीतहेहि अगेहि ।

णवमुअपीअपेऊसमत्तपाडिड्व कि सुवसि ॥ [गाहासत्तसई]

१. पाडी शब्द देशी है । यह शब्द आज भी गुजराती व राजस्थानीमें पाया जाता है, जिसका अर्थ है "भैंसकी बच्ची" । इसीका पुह्लिय रूप पाडो भी प्रचलित है ।



[यदि भवति न तस्य प्रिया अनुदिवस नि सहैरङ्गं ।

नवमृतपीनपीयूषमत्तमहिषीवत्सेव किं स्वपिपि ॥ ]

[ हे सखी, अगर तू उसकी प्यारी नहीं है, तो अलसाये अंगोंमें नये दूधनों पीकर मस्त नवप्रसून पाडोकी तरह दिन भर क्या सोनी रहती है । ]

(२) षमह अ जम्स फुडरव कण्डच्छाघटतणप्र ग्गिसिहम् ।

फुरद फुरिप्रट्टहास उट्टपट्टित्तिमिर विप्र दिसाप्रपकम् ॥

[सतुवध]

( नमन च यस्य स्फुटरव कण्डच्छाघटमाननयनान्निशिलम् ।

स्फुरति स्फुरिताट्टहास ऊर्ध्वप्रदीप्ततिमिरमिव दिवचरम् ॥ )

[ जिन महादेवके मण्डकी नीलो छायासे सबद्ध अग्निशिखावाला, तथा उनके शब्दायमान अट्टहामवाला दिशाओका चक्रवाल, इसी तरह सुशोभित होता है, मानो ऊँधरेके ऊपर प्रकाश प्रदीप्त हो रहा हो, उन महादेवको प्रणाम करो । ]

[ ८ ] शौरसेनी प्राकृत [ १०० ई० से ६०० ई० तक ]

अणञ्ज, अत्ताणो हिअन्नाशुमारणेण सव्व एद पेक्खसि । को णाम अण्णो धम्म-कच्चुअ-ववदेसिणो तण-धण्ण-कूवोवमस्स तुह् अनुकारी भदिस्सदि ।

[शाकुन्तल पञ्चम अंक]

(अनार्य, आत्मनो हृदयानुमानेन सर्वमेतत् पश्यसि । को नाम अण्य-धर्मकच्चुक-वपदेशिन त्णच्छायाकूपोपमस्व तव अनुकारी भविष्यति । )

[ अनार्य, तू सभी वस्तुको अपने हृदयके अनुमानसे देखता है । धर्मका कच्चुक धारण करनेवाले [धर्मका दाग करनेवाले], तिनकीसे ढँके हुए कुएँके समान तरे जैसे मनुष्यका सहकारी [समानधर्मा] कौन होगा । ]

[ ६ ] मागधी [ १०० ई० से ६०० तक ]

(१) कथ अपावे चालुदत्तो चावादीअदि । हगे णिअलेण शामिणा वधिदे । भोडु आक्कडामि । शुणध, अम्या, शुणध । अस्ति दाणि मए पावेण पवहण-रडिवत्तेण पुप्फ-कलडअ-यिण्णुय्याणं वशन्तसेणा णीवा ।

[कयमपाप चारुदत्तो व्यापाद्यते । अये निगडेन स्वामिना बद्ध । भवतु आक्रुदामि । शृणुत, आर्याः शृणुत । अस्ति इदानीं मया पापेन प्रवहणप्रतिवृत्तेन पुष्पकरडकजीर्णोद्यान वसन्तसेना नीता ।]

[क्या चारुदत्तको बिना अपराध ही दण्ड दिया [मारा] जा रहा है । अरे, राजाने [स्वामीने] इसे बेडियासे बांध दिया है । अच्छा, विल्लाता हूँ । मुनो, आर्य, मुनो । अभी अभी गाडीसे लौटे हुए मैंने वसन्तसेना पुष्प करडक जीर्णोद्यानको ओर पहुँचाई है ।]

[२] एशे शे शायमलीशल शिविल-निवेशे । एदशिश अलक्षिक्यमाण-पय्यन्दे कथ [ला] उल याणिदध्वम् । वयश एशे के वि चले ध्व वीशदि ता इमादो एदशिश शिविलश शलूव लाउल च याणिशशम्ह ।

[एप स शाकभरीश्वरशिविरनिवेश । एतस्मिन् अलक्ष्यमाणपर्यन्ते कय राजकुल जातव्यम् । वयस्य एप कोऽपि चर इव वृश्यते । तत् अस्मात् अस्मि शिविरस्य स्वरूप राजकुल च जास्याम ।]

[यही तो शाकभरीश्वरकी सेनाका पडाव है । यहाँ आमपासके बारेमें कुछ भी पता नहीं लगता, अब राजकुलका जान कैसे होगा ? मित्र यह कोई चर [जामूस] सा दिखलाई देता है । तो हमसे इस शिविरके स्वरूपके बारेमें तथा राजकुलके विषयमें पता लगालें ।]

[१०] अपअंश [पूर्वी] [६०० ई० से ११०० ई० तक]

आद्यमवेद पुराणे पठिमा भाण वहति ।

पक्व सिरिकले अलिम जिमि आहेरीम भमति ॥ [बण्हापा]

१ यह द्वितीय उदाहरण उस कानका है, जब प्राकृतका साहित्यिक रूप ही प्रचलित था । अतः प्राकृतकालका शुद्ध उदाहरण पहलावाला ही कहा जा सकता है । उसकी व्याकरणसम्मत विशेषनामोंकी दृष्टिसे दूसरा उदाहरण भी लिया जा सकता है ।

[आगमवेदपुराणेषु पण्डिता मान वहति ।

पञ्चधीफले अल्प यया बहिरेव भ्रमति]

[पंडित लोग आगम, वेद तथा पुराणाक अध्ययनसे ही मानो हो जाते हैं । पर यह तो ब्रह्म है, जन्म भँवर पत्ते बेलन पञ्च बाहर ही घूमा करत है ।]

पण्डित सद्यल सत्य यपराणइ ।

देहहि बुद्ध वसत ए जाणइ

अवणागमण ए तेण विप्रण्डित

तो वि एतज्ज भणइ हउ पण्डित ॥ [सरहपा]

[ पण्डित सकलानि शास्त्राणि वर्णयति [ \*वदयति ]

देहे बुद्ध वसत न जानाति

गमनागमन ऽ तेन विप्रण्डित

तत्रपि निर्लज्जो भणति अह पण्डित ।]

[पण्डित समस्त शास्त्राका बलान करता है, पर देहम ही म्यिन बुद्ध [आत्मा, ईश्वर] का नहीं जानता । अपन जन्म मरणको वह खडित न कर सका, फिर भी निर्लज्ज कहना है—मे पण्डित हूँ ।]

[११] अपभ्रंश [पश्चिमी] [६०० ई० से ११०० ई० तक]

भलना हुमा जु मारिआ वहिणि महारा कतु ।

लज्जज्ज तु वयसिअहु जइ भग्गा घर एतु ॥

[भद्र भूत पत् मारित भगिनि मम कांत

लज्जेय तु पयस्थाभ्य यदि भान्तो गृह एत ]

[हि सखी, मेरा पति मारा गया, यह अच्छा हुआ । अगर कहीं भगा हुआ घर आता, तो मुझे सखियासे लजाना पड़ता ।]

१ भग्न — भग्गा ।

२ [आ + इत = एत ]

पुत्रे जाए षवणुं गुणुं, अश्वगुणु कवणु मुएण ।  
जा बप्पोकी भूँहडी चंपिज्जइ अश्वरेण ॥  
[पुत्रे जाते कः पुनर्गुणः, अश्वगुणः कः पुनर्मृतेन ।  
यत् पितुः [\*वस्तु.] भूमिः आक्रम्यते अपरेण ॥]

[ऐसे पुत्रके पैदा होनेसे क्या लाभ, और मरनेसे क्या हानि, [ जिसके रहते हुए ] पिताकी भूमि दूसरा चाँप ले । ]

## [१२] अवहट्ट [प्राकृतपैंगलकी परवर्ती अपभ्रंश]

[११०० ई० से १३०० ई० तक]

पग्नभरु वरमरु धरणि तरणि रह घुल्लिअ भंपिअ  
कमठ पिट्टु टरपरिअ मेरु मंदर सिर कपिअ  
कोह चलिअ हम्मीर वीर गजजूहसंजुत्ते  
किअउ कट्टु हाकंद मुच्छि मेच्छहके पुत्ते ॥

[ पादभरेण दलिता धरणी तरणिरथः घूलिभिः द्यादितः

कमठपृष्ठं [स्फुटितं] मेरुमंदरशिर. कंपित

क्रोधेन चलित हमीरवीरः गजपूयसंयुक्तः

कृतः कष्टं हाकन्दः मूर्च्छित्वा म्लेच्छानां पुत्रैः ।

[ जब वीरहमीर हाथियोकी सेनासे युक्त होकर क्रोधके साथ चला, तो पूख्खी पैरोके बोझसे दब गई, मूर्यका रथ घूलसे डेँक गया, कमठकी पीठ तड़क गई और सुमेर तथा मंदरकी चौटी हिल गई; म्लेच्छोंके पुत्रोंने [अर्घ] मूर्च्छित होकर कष्टके साथ आक्रमण किया । ]

## परिशिष्ट ख

संस्कृत, ग्रीक तथा लैतिनके समानान्तर शब्द रूप

[१] सं० अकारान्त [ग्रीक लै० अकारान्त] शब्द  
[पुंलिंग तथा नपुंसक]

	संस्कृत	ग्रीक	लैतिन
	प्रातिपदिक अश्व [पु०] युग [नपु०]	हिप्पो [पु०] जुगो [नपु०]	एक्वो [पु०] जुगो [नपु०]
ए० व०			
कर्ता	अश्व-स् [अश्व] युग-म्	हिप्पो-म् जुगो-न्	एक्वो-स् [एक्वो-स्] जुगु-म् [जुगो-म्]
कर्म	अश्व-न् युग-म्	हिप्पो-न् जुगो-न्	एक्वो-म् जुगु-म्
करण	अश्वेन [वे० अश्वा]	[पोन्तोफि]	×
सम्प्रदान	अश्वाय	हिप्पो-ओइ, हिप्पो	एक्वोइ = एक्वो-ओइ एक्वो
अपादान	अश्वत्	हिप्पो-ओ, हिप्पोड	एक्वोइ, एक्वो, एक्वो [इ]
सम्बन्ध	अश्वस्य	हिप्पो-[स्] इओ	एक्वो-इस्
अधिकरण	अश्वे [अश्व-इ]	[ओइको-इ, ओइकोइ]	[दोमि = देमो-इ?]
सम्बोधन	अश्व [युगम्]	हिप्पो [ = हिप्पो- ] जुगो-न्	[ = सं० दमे ] एक्व [एक्वो] जुगु-म्

	संस्कृत	ग्रीक	लैतिन
द्वि० व०			
कर्ता-वर्म	अश्वा-अश्वो	हिप्पो-ए, हिप्पो	×
करण, } सम्प्रदान अपादान	अश्वाम्याम्	हिप्पो इन्	×
संबन्ध-	अश्वयो	×	×
अधिनरण			
व० व०			
कर्ता	अश्वा-म् [अश्वा] [द्वि० अश्वाम] युगानि [नपु०] [द्वि० युगा]	हिप्पो-इ जुगा [नपु०]	[एक्वा एम्, एक्वाइम्] एक्वी जुग्-अ = जुग
वर्म	अश्वान् [ = अश्वान्-म् ]	हिप्पोउस = हिप्पोन्-म्	एक्वास = एक्वाम्-म्
	युगानि	जुगा	जुग
	स०	ग्री०	लै०
करण	अश्वे [द्वि० अश्वेभि.]	[क्वा-फिन्]	×
सम्प्रदान-अपादान	अश्वे-भ्य [ -भ्यस् ]	×	×
सम्बन्ध	अश्वानाम् [ = अश्वा न्-आम् ]	[हिप्पो-ओन्] हिप्पोन्	एक्वो-रुम् एक्वूम = एक्वा-ओम्

अधिकरण	अश्वे पु	हिर्षाद्-सि हिर्षाद्-म्	[एक्वा, इम्] एक्वीम्
--------	----------	----------------------------	-------------------------

[२] सं० आकारान्त [ग्रीक, लै० अकारान्त] शब्द [स्त्रीलिंग]

	संस्कृत	ग्रीक	लै०
प्रतिपदिक	अश्वा	खोर- [देश]	एक्व- [घोडी]
एक वचन			
कर्ता	अश्वा	खोर	एक्व
कर्म	अश्वाम्	खोरन्	एक्वम्
करण	अश्वया [वं० अश्वा]	[विए-फि]	×
* सम्प्रदान	अश्वायै [वं० अश्वाद्]	खोरद् [खोर-अद्]	एक्वए
अपादान-संबन्ध	अश्वाया	खोरम् [जेनेटिव] × [एक्वेटिव]	[एक्व-इम्- एक्वास्] एक्वद्, एक्वए [जेने०] एक्वा [द्] [एक्वे०]
अधिकरण	अश्वायाम्	[खमा-इ]	[रोमए = रोम- ? = रोममै]
द्वि० व०			
कर्ता	अश्वे	खोरा	×
करण, सम्प्रदान } अपादान }	अश्वाभ्याम्	खोर-इन्	×
संबन्ध, अधिकरण	अश्वयो [-योस्]	×	×

व० व०

कर्ता	अश्वात् [अश्वाः]	खोरइ	एक्व-एस्, एक्वास्
कर्म	अश्वात् [अश्वाः]	खोरास् [-न्स्]	एक्वास् [-म्]
करण	अश्वाभि. [-भिम्] [-फिन्]		×
सम्प्रदान-अपादान	अश्वाम्यः [-म्पस्]	×	एक्व-बुस्
संबन्ध	अश्वानाम् [ वै० अश्वाम् ]	खोरोन्	एक्व-रम्
अधिकरण	अश्वेषु	खोरइ-मि खोरइ-म्	[ एक्व-इम् ] एक्विस्

[३] इकारान्त रूप [पु०, स्त्री०, नपुं०]

	संस्कृत	ग्रीक	लै०
प्रातिपदिक अवि [ पु० स्त्री० ]		पोलि [स्त्री०] [=नगर]	ओवि
वारि [नपुं०]		इद्रि [विशेषण]	मरि [नपुं०]
व० व०			
कर्ता	अवि-म्, वारि [न०]	पोलिम्, इद्रि [न०]	ओवि-स्, मरि [न०]
कर्म	अवि-म्, वारि [न०]	पोलिम्, इद्रि	ओवि-म्, मरि
करण	अविना [पु०] अव्या [स्त्री०] वारिणा [नपु०]	×	×
सम्प्रदान	अवये [पु०], अव्यै [स्त्री०], वारिणे [न०]	×	ओवी ×



अपादान	अवे, अव्या [स्त्री०]	×	अवे [द्]	
	वारिण [न०]	×	मरि-[द्]	
सम्बन्ध	अवेः, अव्याः [स्त्री०]	पोलि-ओम्, पाले-ओम्, पाले-आस्, पाले-आस्,	अविम् ×	
	वारिण. [न०]	पालेयोस्		
अधिकरण	अवी, अव्याम् [स्त्री०], वारिणि [न०]	पोलि-ई, पाले-ई, पाले-ई		
द्वि० व०	कर्ता, कर्म	अवी, वारिणी	पोलि-ए, पाले-ए	×
	करण, सम्प्र०, अविभ्याम्		पोलि-आ-इन्	×
अपा०	सबन्ध अधिकरण अव्यो., वारिणी	×		
व० व०	कर्ता	अवय, वारिणि	पोले-एम्, [ = पाले-एम् ] पालि-एस्, पाले-इम् [न०]	अवेस् मरि-अ
			इदि-अ [न०]	
कर्म	अवीन् [पु०], अवी [स्त्री०] वारिणि [न०]	पोले-अम्, पाले-इस् इद्रि-अ	अवेस् मरिअ	
करण	अविभिः [ -भिस् ]	×	×	
सम्प्र०, अपा०, अविभ्य [ -भ्यस् ]		×	अवि बुस्	
सबन्ध	अवीनाम्	पोलि ओन्, पाले-ओन्	अवि-उम्	

अधिकरण अविपु

पोलि-सि, पोल्-सि,  
पोलि ए-सि

X

**नोट :—**यहाँ हमने स्त्रीलिंग तथा नपुंसक लिंग शब्दोंके उन्ही रूपोंका सन्नेत किया है, जो पुल्लिंग शब्दोंके तत्तत् विभक्तिके तत्तत् वचनान्त रूपोंसे भिन्न होते हैं। अन्यरूप पुल्लिंग रूपोंसे समान होनेसे उनका सन्नेत अनावश्यक समझा गया है, यही कारण है, यहाँ वारिभि., वारिम्य, वारिपु जैसे रूपोंका कोई सन्नेत नहीं है, क्योंकि उनका सन्नेत अविभि, अविम्य, अविपु जैसे रूपांसे मिल जाता है।

[४] ध्वनियुग्मान्त शब्दों [ Diphthongal stems ] के रूप

	संस्कृत	ग्रीक	लं०
प्रतिपदिक	१ नी	नाउ	[नवि]
	२. गो	बोउ	बोउ [बो-वि]
ए० व०			
कर्ता	नो-स् [नो]	नाउस्	नवि-स्
	गो	बोउस्	बोस् [बोउस्]
कर्म	नावम्	नेव, नउ-न्	नवम्
	गावम्	बोउ-न्	बोवम्
करण	नावा	नाउकि	X
	गवा	X	X
संप्रदान	नावे	X	X
	गवे	X	बोवि
अपादान	नाव. [ -आस् ]	X	नावे [ ६ ]
	गो [ -स् ]	X	बोवे [ ६ ]
सदध	नाव.	नेवम् नेओस्	नविम्
	गो:	बोवोस्	बोविस्

सम्प्र० अपा०	वाग्म्य [ = *वाग्म्यः ]	×	वोकिबुस्
सवध	वाचाम्	ओपोन्	वोकुम्
अधिकरण	वाक्पु	ओप् सि [दितिव]	×

### प्रातिपदिक

[२] स० भरत् [ भरन्त् ] [पु० नपु०], ग्रीक् फॅरोत् [पु० नपु०]  
लै० फॅरेन्त् [पु० स्त्री० नपु०]

	स०	ग्री०	लै०
ए० घ०			
कर्ता	भरत्, भरत् [नपु०]	फॅरोन् [-ओन्त् स्]	फॅरेन् [त्] स्
कर्म	भरन्त्म्, भरत् [नपु०]	फॅरोन्त् [०न्त् अ]	फॅरेन्त्म्
करण	भरता	×	×
सम्प्रदान	भरते	×	फॅरेन्त्
अपादान	भरत [ भरत्-अस् ]	×	फॅरेन्त् [द्]
सवध	भरत	फॅरोत्तास् [०न्त्-ओम्]	फॅरेन्त्स्
अधिवरण	भरति	फॅरोत्ति	×
द्वि० व०			
कर्ता कर्म	भरन्ता, भरन्ती भरन्ती [नपु०]	फॅरेन्त् [०न्त् ए]	×
करण, सम्प्र०	भरद्गुधाम्	फॅरोत्तेइन्	×
अपादान	[ = *भरत्प्याम् ]		
सवध, अधिवरण	भरतो	×	×

कर्ता	भरन्तः [भरन्त्-अस्]	फेरान्तेस्, फेरन्तेस् [-फेरन्तिएस्]
	भरन्ति [नपुं०]	फेरान्त [०न्त्-अ]
कर्म	भरतः	फेरान्तस् [०न्त्-अस्] फेरन्तस्
	भरन्ति [नपुं०]	फेरान्त [०न्त्-अ]
करण	भरद्भिः	[-फिन्]
सम्प्र०-अपा०	भरद्भ्यः	X फेरन्ति-बुस्
संबंध	भरताम्	फेरान्तोन् फेरन्तिम् [फेरन्तुम्]
अधिकरण	भरतु	फेरान्ति [-फेराउसि] X

नोटः—संस्कृतमें \*'भरन्त्'के स्त्रीलिंग रूपोंमें 'ई' प्रत्यय जुड़कर 'भरन्ती' बनता है, जिसके रूप वृत्ती, देवी जैसे ईकारान्त स्त्री० शब्दोंकी तरह चलते हैं। ग्रीकमें स्त्रीलिंगमें 'य' प्रत्यय जुड़ता है। ग्रीकमें सं० भरन्तीके समानान्तर प्रातिपदिक 'फेरान्त्य' तथा 'फेराउस' है, जिनके रूप अकारान्त स्त्रीलिंग शब्द 'खोर' [Xora] की तरह चलते हैं। लैटिनमें पु०, स्त्री०, नपुं० तीनोंमें ये एकसे बने रहते हैं।

सं० मनस् [न०], दुर्मनस् [पु० स्त्री०], ग्रीक मेनेस् [न०], दुस्मेनेम् [पु० स्त्री०]

	सं०	ग्रीक
ए० व०		
कर्ता	मनस् [मन] [न०]	मेनेम्
	दुर्मनाः [दुर्मनाम्] [पु० स्त्री०]	दुस्मेनेम्
कर्म	मनस् [मन]	मेनेस्
	दुर्मनसं [पु० स्त्री०]	दुस्मेनेस्-अ [०स], दुस्मेनेसअ, [०से]

करण	मनसा [दुर्मनसा]	[-फि]
सम्प्रदान	मनसे [दुर्मनसे]	×
अपादान	मनसः [दुर्मनसः]	×
सम्बन्ध	मनसः [दुर्मनसः]	मनेस्, मनेस्, मनेर्जास्, मनेर्उस्
अधिकरण	मनसि [दुर्मनसि]	मनेसि, मनेइ
संबन्धन	मनः [दुर्मनः]	मनेर्नाम्, दुर्मनेस् [पु० स्त्री०]
द्वि० व०		
कर्ता-कर्म	मनसी दुर्मनसा-दुर्मनसी	[मनेस्], मने दुर्मनेस्, दुर्मने
करण, सम्प्र०	मनोम्याम् [दुर्मनोम्याम्]	मनेर्साइन्, मनेर्साएरिन्
अपा०		
संबन्ध, अधिकरण	मनसोः [दुर्मनसोः]	×
द० व०		
कर्ता	मनासि [न०] दुर्मनसः [पु० स्त्री०]	मनेस् [स-अ], मनेर्अ, मने दुर्मनेस्
कर्म	मनासि दुर्मनस-	मनेस् [स्-अ], मने दुर्मनेस् [०स्-अस्]
करण	मनोभिः [दुर्मनोभिः]	[मनेस्-फि]
सम्प्र०-अपा०	मनोम्यः [दुर्मनोम्यः]	×
संबन्ध	मनसा [दुर्मनसा]	मनेर्सोन् [मनस्-ओन्], मनेस्-सि, मनेसि
अधिकरण	मन सु [दुर्मन.गु]	

## सर्वनाम शब्दोंके रूपोंका तुलनात्मक परिचय

### [१] उत्तम पुरुषवाचक सर्वनाम

सं०	श्लोक	लैतिन	
ए० व०			
कर्ता	अहम्	एगोन्, एगो	एगो
कर्म	माम्, मा	ए-मे, मे	मे
करण	मया	×	×
सम्प्रदान	महां, [मे]	एमिन् [एमे-फिन्]	मि-हइ, मिहि
अपादान	मत्	×	मेइ
संबंध	मम, [मे]	एमेइओ, एमोउ, मोउ, एमोउस् [मइ ?]	
अधिकरण	मयि	एमो-इ, मो-इ	मइ
द्विवचन			
कर्ता	आवाम्	{ नोइ, नो	×
कर्म	आवाम्, नो		
करण, सम्प्र०, अपादान	{ आवाम्भ्याम् नो [सम्प्र०]	नो-इन्, नोइन्	×
सम्बन्ध अधिकरण	{ आवयोः, नो [संबंध]	×	×
बहुवचन			
कर्ता	वयं, अस्मे	अम्मस् [अस्मिस्]	नोस् [?नास्]
	[वैदिक] हेमे-एस् [हेमिस्]	हेमेइस्	
कर्म	अस्मान्, नः	अम्म, हेमेअस्, हेमम्	नोस्
करण	अस्माभिः	×	×

सम्प्रदान	अस्मभ्यं, नः अस्मिन् [अस्मि-फिन्]	नो-विस्
	हेमिन्	
अपादान	अस्मात् ×	नो-विस् [देतिव]
संबध	अस्माकं, नः हेमइओन्, हेम-ओन्	नास्त्रि, नोऽनुम्
	हेमोन्	
अधिकरण	अस्मासु ×	×

## [२] मध्यम पुरुष वाचक सर्वनाम

स० प्रो० लै०

एक वचन			
कर्ता	त्वम्	तु, सु,	तु
कर्म	त्वाम्, त्वा	ते, से [= त्व]	ते = त्व-म्
करण	त्वया	×	×
सम्प्रदान	तुभ्यं [ते]	तेइन् [तेइ-फिन्]	ति-बेइ, तिवि
अपादान	त्वत्	×	तेइ [ = तेइ-द्]
संबध	तव [ते]	तेओइओ [ = तेवास्या] [तुई ?]	
		सेइओ, सेओ,	
		सोउ, सेउ, तेओउम्	
अधिकरण	त्वयि	सोइ [त्व-इ]	तुइ [मूलतः जेनेतिव]

## द्वि० व०

कर्ता	युवाम्	{ स्फोइ, स्फो	×
कर्म	युवाम्, वाम्		
करण, सम्प्र०	{ युवान्याम्	स्फो-इन् [स्फोइ-फिन्]	×
अपा०	{ वाम् [सम्प्र०]		
संबध, अधि०	{ युवयोः	×	×
	{ वाम् [संबध]		

द० व०

कर्ता	यूपम्, युप्मे [वैदिक] उम्मम्, वोम्
	हुर्मएस्, हुर्मइम्
कर्म	युप्मान्, व उम्मम्, वास्
	हुर्मोअस्, हुर्मइस्
करण	युप्माभिः
सम्प्रदान	युप्मभ्यं, वः उम्मि [ म्मि-फिन् ] वा-विस्
	हुमिन्
अपादान	युप्मा
	× वा-विस् [मूलतः देतिव]
संबंध	युप्माकं
	वः हुर्मइओन्, हुर्म- ओन्, हुर्मोन्
अधिकरण	युप्मासु
	× वास्वुम् वास्वि

[३] अन्य पुरुष वाचके सर्वनाम

[क] पुल्लिङ्ग तथा नपुंसकलिङ्ग

प्रातिपदिक	सं०	श्रीक-	लैतिन
ए० व०	त-	तो-	इस्-तो-[इ + म + त]
कर्ता	स, तत् [न०]	हो [स], तो [न०]	इस्तुम्, ईम्ते, इस्तुद् [न०]
कर्म	तम्, तत् [न०]	तान्, तो [न०]	इस्तुम्, इस्तुद् [न०]
करण	तेन	×	×
सम्प्र०	तस्मै	तोअइ = तो-ओइ	*इस्ति ? = इस्ताएइ व्योडाइ



अपादान	तस्मात्	[तोस् = तोन्]	इस्तो-इ
संबंध	तस्य	तोइओ, तोउ	इस्तित्वस् [इस्तो-इ-ओस्]
अधिकरण	तस्मिन्	[होइ = हो-इ]	*इस्ति ? = इस्तोइ = ह्मि, क्वाइ

द्वि० व०

कर्ता, कर्म	तो [ता], ते [न०]	तो	
करण, सम्प्र० अपा०	ताम्पाम्	तोइन्	
संबंध, अधिकरण	तयोः	×	×

ष० ष०

कर्ता	ते, तानि [न०]	तोइ, होइ, त [न०]	इस्तो, इस्त, [न०]
कर्म	तान्, तानि [न०]	तोन्स्, तोउस्, त [न०]	इस्तास् इस्त [न०]
करण	तैः	×	×
सम्प्र०, अपा०	तेभ्यः	×	[विब-बुस्, हि-बुस्, हाइ-बुस्]
संबंध	तेषाम्	तोन्	इस्तो-रम्
अधिकरण	तेषु	तोइ-सि, तोइम्	इस्तित्स् [क्वइत्]

## [ख] स्त्रीलिंग रूप

सं० - श्रीक लैतिन

ए० व०

कर्ता	सा	हे	इस्त, क्व-इ [क्वए]
कर्म	ताम्	तेन्	इस्तम्
करण	तया	[हेफि]	×

सम्प्र०	तस्यै	तेइ	इस्ति
अपादान	तस्याः	×	इस्ता-[इ]
संबध	तस्याः	तेस्	इस्तीउस्
अधिकरण	तस्याम्	तेइ	इस्ति
द्वि० व०			
कर्ता, कर्म	ते	त	×
करण, सम्प्र०	ताम्याम्	त-इन्	×
अपादान			
संबंध, अधि०	तयोः	×	×
व० व०			
कर्ता	ताः	तइ	इहस्ताए
कर्म	ताः	तस्	इस्तास्
करण	ताभिः	×	×
सम्प्र०, अपा०	ताभ्यः	×	×
संबन्ध	तासाम्	त-ओन्, तोन्	इस्ता-रम्
अधिकरण	तासु	तेइ-सि, तइस्	इस्तीम्

### संस्कृत, ग्रीक तथा लैतिन तिङ् विभक्तियाँ

[१] मुख्य तिङ् विभक्तियाँ :—परस्मैपदी

उ० पु० ए० व० सं०-मि, श्री०-मि, ओ, लै०-म्, -ओ

[भरामि, ददामि], [दिदोमि, फरो], [मुमु, सं० मस्मि], फरो]

द्वि० व० सं०-वः × ×

[भराव, दद्वः] × ×

व० व० सं०-मः श्री० मस् [दोरिक], लै० मुम्  
मन् [इतिक],

	[भरामः, वधः]	[ फेरामन्, दिवामेन् ]	[ सुमुस्, फेरिमुस्]
म० पु० ए० व० सं०-सि,		घो०-सि, ए०इस्	लं०-म्
	[भरसि, वदासि]	[ दिदोसि, फेरैइस् ]	[फेसं]
द्वि० व० स०-यः		घो०-तान्	×
	[भरथः, दत्थः]	[ फेरैतान्, दिवैतान् ]	×
व० व० सं०-थ		घो०-त्	लं०-तिस्
	[भरथ, दत्थ]	[ फेरैत्, दिवैत् ]	[फैतिस्]
प्र० पु० ए० व० सं०-ति,		घो०-सि, -सि,	लं०-त्
	[भरति, वदानि]	[ए०स्ति, तिथेति, फेरैसि]	[इस्त्, फेसं]
		[दोरिक, दिदोति, एतिक, दिदोसि]	
द्वि० व० सं०-तः		घो०-तान्	×
	[भरतः, दत्तः]	[फेरैतान्, दिवैतान्]	×
व० व० स०-न्ति,		घो०-न्ति [दोरिक],	लं०-न्त्
	[ भरन्ति, वदति ]	-उसि [एतिक]	
		[फेरैन्ति [दो०]	
		फेरैउसि [ए०]	[फेहन्त्]
		दिवैउसि]	

[२] मुख्य तिङ् विभक्तियाँ : आत्मनेपदी :—

उ० पु० ए० व० सं०-ए [भरे] प्रीक -मइ [फेरैमइ] ×

द्वि० व० सं०-वहे [भरावहे], ग्रीक-मेघान् [ जा मूलत व० व०  
रूप ही है ] [फरोमेघान्]

व० व० सं०-महे [भरामहे], ग्रीक-मथ [फरोमथ]  $\angle$  \*मथइ  
म० पु० ए० व० सं०-से [  $\angle$  \*सइ ] [भरते], ग्रीक-सइ, -एइ [ फेरइ  
 $\angle$  \*फरसइ ]

द्वि० व० सं०-एये [भरेये], ग्रीक-स्थान्, -स्थेन् [ फेरस्थान्,  
फेरस्थेन् ]

व० व० सं०-ध्वे [भरध्वे], ग्रीक-स्थे [फेरस्थे]  
प्र० पु० ए० व० सं०-ते [भरते], ग्रीक-तइ [ फेरतइ ]  
द्वि० व० सं०-एते [भरेते], ग्रीक-स्थान्, स्थेन् [ फेरस्थान्  
फेरस्थेन् ]

व० व० सं०-अन्ते [भरन्ते], ग्रीक-न्तइ, -प्रतइ [ फेरान्तइ,  
भ्रासते ] हप्रतइ ]

लैतिनमे स्वतन्त्र आत्मनेपदी तिङ् चिह्न नही होते, वहाँ 'र्' जोड़ दिया जाता है, जैसे, अमोर, अमरिस, अमतुर्, अममुर्, अमन्तुर् । [ दे० Papillon: Comparative philology applied to Greek and Latin p. 178 ]

[ ३ ] गौण तिङ् चिह्न : परस्मैपदी :—

उ० पु० ए० व० सं०-म् [अ-भ-रम्] ग्रीक-न् [ ए-फेरोन् ]  
द्वि० व० ,, -आव [अ-भराव] X  
व० व० ,, -आम [अ-भराम] ग्रीक-मन् [ ए-फेरो-मेन् ]  
म० पु० ए० व० सं०-स् [ ] [अ-भर- [ स् ]], -स् [ ए-फेरे-स् ]  
द्वि० व० ,, -तम् [अ-भर-तम्] ग्रीक-तान् [ ए-फेरे-तान् ]  
व० व० ,, -त [अ-भर-त] ,, -त्त [ ए-फेरे-त्त ]

प्र० पु० ए० व० सं०-त्	[अ-भर-त्]	ग्रीक-त्	[ए-फेर-त्]
द्वि० व०	,-ततम् [अ-भर-तम्],	,-वान्	[ए-फेर-तेन्]
व० व०	,-न् [अ-भर-न्]	,-न् [८ *गन्],	-घन् [८ *घन्त्]
			[ए-फेरो-न्; ए-लुस्-घन्]

लैटिनमें गौण चिह्न तथा मुख्य चिह्नोंमें कोई भेद नहीं रहा है, क्योंकि यहाँ आकर मुख्य चिह्न -म्, -स्, -त् हो गये हैं। लैटिनमें भूतकालका द्योतक अगम [augment] 'घ' [ग्रीक तथा प्रा० भा० यू० \*ए] प्रायः लुप्त हो गया है, इसके अवशेष केवल उन चार क्रियारूपोंमें पाये जाते हैं, जिनके आदिमें स्वरध्वनि पाई जाती है :—एगि [ēgi], एदि [ēpi], एमि [ēmi], -एपि [-ēpi, in co ēpi]। [दे० King and Cockson p. 156]।

[४] गौण तिङ् चिह्न, आत्मनेपदी :—

उ० पु० ए० व० सं०-ए	[अ-भरे]	ग्रीक-मोन्	[मेन्]	[ए-फेर-मेन्]
द्वि० व०	,-वहि [अ-भरावहि]	,-मर्थान्		[ए-फेर-मर्थान्]
व० व०	,-महि [अ-भरामहि]	,-मथ		[ए-फेर-मथ]
म० पु० ए० व० सं०-या	[अ-भर-याः]	ग्रीक-मो		[ए-फेर-मो]
द्वि० व०	,-एथाम् [अ-भरेथाम्]	,-स्थान्		[ए-फेर-स्थान्]
व० व०	,-ध्वम् [अ-भर-ध्वम्]	,-थ	[-स्थे]	[ए-फेर-स्थे]
प्र० पु० ए० व० सं०-त	[अ-भर-त]	ग्रीक-तो		[ए-फेर-तो]
द्वि० व०	,-एताम् [अ-भरेताम्]	,-स्थेन्		[ए-फेर-स्थेन्]
व० व०	,-न्त [अ-भर-न्त]	,-न्तो, -अतो		[ए-फेरो-न्तो]
	-अत [आसत]			[हेअतो]

# संग्राह्य पुस्तक-सूची

१. Otto Jespersen : Language its Origin, Development and Nature.
२. Bloomfield : Language.
३. Marcel Cohen ; Le Langage.
४. Saussure : Cours de Linguistique Generale.
५. Otto Jespersen : The Philosophy of Grammar.
६. Daniel Jones : An outline of English Phonetics.
७. Bloch : L'Indo-Aryen
८. A. Meillet : Introduction a l'etude Comparative des langues Indo-europeenes.
९. A. Thumb : Handbuch des Sanskrit.
१०. Wackernagel : Altindische Grammatik, (Vol. I, II, III).
११. Ghosh : Linguistic Introduction to Sanskrit.
१२. T. Burrow : Sanskrit Language.
१३. Edgerton : Phonology of Indo-European.
१४. Sturtevant : Indo-Hittite Laryngeals.
१५. Hudson-Williams : Introduction to the study of Comparative Grammar.
१६. Atkinson : Greek Language.
१७. Buck : Comparative Grammar of Greek and Latin
१८. King and Cockson : Comparative Grammar of Greek and Latin.
१९. Fapillon : Comparative Philology applied to Greek and Latin.

- २० Pischel : Prakrit Sprachen,  
 २१ Woolner Introduction to Prakrit.  
 २२ Macdonell Vedic Grammar,  
 २३ Dr. Chatterjea : Origin and Development of  
 Bengali Language,  
 २४. " " : Indo-Aryen and Hindi,  
 २५ Dr Saksena : Evolution of Awadhi,  
 २६. Dr Tagare A Historical Grammar of  
 Apabhramsa,  
 २७. Dr Allen Indo-European primary affix 'Bh'  
 (Trans of Philological Society  
 of Great Britain 1950 )  
 २८. Mathews Soviet Contribution to Linguistic  
 thought ( Archivum Linguisticum  
 Vol 2 pt. I-II )  
 २९ डॉ० तिवारी भोजपुरी भाषा और साहित्य  
 ३० शौनकीय ऋक्-प्रातिशाख्य  
 ३१. शुक्लयजु प्रातिशाख्य ( उद्वट भाष्य सहित )  
 ३२ तैत्तरीयप्रातिशाख्य  
 ३३. अथर्वप्रातिशाख्य  
 ३४. पाणिनिशिक्षा  
 ३५ माध्यन्दिनीशिक्षा  
 ३६ केशवीशिक्षा  
 ३७. सिद्धांतकौमुदी  
 ३८. वररुचि प्राकृतप्रकाश  
 ३९ माकण्ड्य प्राकृतसर्वस्व  
 ४०. हेमचन्द्र शबानुशासन ( अष्टम अध्याय )  
 ४१. चाटुर्ज्या भारतीय आयभाषा और हिंदी